पूँजीवाद समाजवाद ग्रामोद्योग

लेखक,

डा० भारतन् कुमारप्पा

प्रथमावृत्ति] १९३८ [मूल्य ५)

मुद्रक,

महतावराय,

ज्ञानमण्डल यन्त्रालय, काशी

प्रस्तावना

डाक्टर भारतन् कुमारप्पाने अपनी इस पुस्तकके "ग्रामोद्योग" शीर्षक अध्यायमें साधारण पाठकों तथा गाँवोंमें काम करनेवाले उन कार्यकर्ताओंके लिए—जिन्हें अर्थशास्त्रकी पुस्तकें पढ़नेका अवसर नहीं मिला है—आधुनिक आन्दोलनके तुलनात्मक अध्ययनकी सामग्री प्रस्तुत की है, जो आन्दोलन पूँजीवाद तथा समाजवादके नामसे प्रसिद्ध है। इस अध्ययनमें उन्होंने मार्क्सवाद तथा समष्टिवादका भी समावेश किया है। मेरी समझमें अपने विषयके प्रतिपादनमें उन्होंने जो प्रस्ताव उपस्थित किये हैं उनसे उन्होंने यह भलीभाँति साबित कर दिया है कि हमारे युगके विगत दोनों विश्व-युद्धोंने इस तरहकी आर्थिक व्यवस्थाका दिवालियापन साबित कर दिया है। इसी प्रसङ्गमें युद्धने युद्धका अर्थात् हिंसाका दिवालियापन भी प्रकट कर दिया है। ये दोनों युद्ध सभ्य कहलानेवाले राष्ट्रोंद्वारा चलाये गये थे, महज इससे इसकी हिंसक प्रवृत्तिको घटाकर नहीं आँका जा सकता। अभी इस बातकी जाँच बाकी है कि अहिंसा हिंसाका स्थान ग्रहणकर विश्वमें स्थायी शान्ति कायम करनेमें सफल हो सकेगी। लेकिन इतना तो निश्चित है कि जबतक मनुष्य भौतिकवादकी

ओर पागलोंकी तरह दौड़नेवाली प्रवृत्तिका शिकार बना रहेगा और अमीर-गरीबका शोषण करता रहेगा तबतक मानव नाशकी ओर ही कदम बढ़ाता रहेगा। यह सभी धर्मोंकी घोषणा है। डाक्टर भारतन्ने यह साबित करनेका प्रयत्न किया है कि हिन्दुस्तानमें ग्रामोद्योगका प्रयोग जिस तरह किया जा रहा है, वह मनुष्यके सर्वनाशको रोकनेकी क्षमता रखता है। यदि हम विश्वको सर्वनाशसे बचाना चाहते हैं तो हमें डाक्टर भारतन्की इस पुस्तकसे व्यावहारिक शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये जिसे उन्होंने अपने हालके जेल-जीवनमें लिखा है।

—मो० क० गांधी

लेखककी भूमिका

प्रस्तुत पुस्तक अंग्रेजीमें "कैपिटलिज्म, सोसलिज्म ऐण्ड विलेजिज्मके नामसे लिखी गयी है जिसका यह हिन्दी रूपान्तर है। इस पुस्तकके लिखनेका एकमात्र उद्देश्य यह दिखलाना है कि खादी तथा ग्रामोद्योग-आन्दोलनका क्या अभिप्राय है। इसलिए पूँजीवाद तथा समाजवादके मुकावले इसका नाम ग्रामोद्योग रखा गया है। पूँजीवाद पूँजीपर अवलम्बित है और समाजवाद समस्त समाज तथा उसकी आवश्यकताको लेकर चलता है। लेकिन ग्रामोद्योग आन्दोलन गाँवोंके कल्याणको ही अपना मुख्य ध्येय मानता है। देशके आर्थिक जीवनका उत्थान वह गाँवोंकी दशा सुधारने, उन्हें शक्तिशाली तथा आत्म-निर्भर वनानेमें ही मानता है। इसका आधार गाँववालोंका परस्पर सहयोग और सहकारिता है। एक दूसरेकी सहायता तथा परस्पर आदान-प्रदान-द्वारा गाँव तथा उसके निवासी सुखी और सम्पन्न वनाये जा सकते हैं। इस ग्रामोद्योग व्यवस्थाको सफल वनानेके लिए कई गाँवोंको मिलाकर एक इकाई वनायी जायगी। सुविधा और अभिधानके लिए उस इकाईका नाम इस पुस्तकमें गाँव ही रखा गया है।

समाजवाद समस्त नागरिकोंकी एक इकाई मानकर राष्ट्रका

उत्थान करना चाहता है। इसके प्रतिकूल ग्रामोद्योग आर्थिक व्यवस्था एक गाँव या कई गाँवोंके समूहको इकाई मानकर उसका तथा उसमें बसनेवाले छोटे-से-छोटे प्राणीके उत्थान और विकासके लिए यत्न करता है। पूँजीवाद तथा समाजवाद दोनों केन्द्रित आर्थिक प्रणालीका प्रतिपादन करते हैं। इनके प्रतिकूल ग्रामोद्योग यथासम्भव केन्द्रित आर्थिक प्रणालीसे दूर रहकर, व्यक्तिके उत्थानका मुख्य साधन विकेन्द्रित आर्थिक प्रणालीको मानता है। ग्रामोद्योग आर्थिक प्रणालीकी सार्थकता सिद्ध करनेके लिए पूँजीवादी तथा समाजवादी आर्थिक प्रणालीका विवेचन आवश्यक और अनिवार्य था। इस पुस्तकमें साम्राज्यवाद, नाज़ीवाद तथा फासिस्टवादपर भी प्रकाश डालना आवश्यक समझा गया क्योंकि इन्हीं रूपोंमें वर्तमान युगमें पूँजीवाद हमारे बीच प्रकट हुआ है।

प्रस्तुत पुस्तक उन लोगोंके लिए लिखी गयी है जो गाँवोंमें काम करना चाहते हैं तथा जो लोग ग्रामोद्योग-आन्दोलनके अन्तर्गत सिद्धान्तोंकी मुख्य बातोंको समझना चाहते हैं, इस लिए इस पुस्तकके लिखनेमें यह बात मान ली गयी है कि उन लोगोंको आर्थिक समस्याका कोई ज्ञान नहीं है। यही कारण है कि उन विषयोंका भी यहाँ सविस्तर विवेचन किया गया है जिसे लोग प्रायः जानते हैं और ग्रामोद्योग आर्थिक प्रणालीवाले चौथे अध्यायको लिखते समय गाँवोंमें काम करनेवालोंके सीमित साधनपर ध्यान रखकर ही योजनाएँ तैयार की गयी हैं। इस तरहकी कोई योजना उनके सामने नहीं रखी गयी है

जिसे शासन ही पूरा कर सकता है क्योंकि अभीतक शासन हमारे हाथमें नहीं है। इस नये अर्थशास्त्रके दृष्टिकोणके अनुसार अर्थात् गाँवोंकी आर्थिक दशा सुधारनेके लिए सरकारको क्या करना चाहिये, इसकी इण्डस्ट्रियल सर्वे कमेटी आफ दि गवर्मेण्ट आफ़ सेण्ट्रल प्राविन्सेज ऐण्ड बरार की रिपोर्टमें सिफारिशें की गयी हैं। (देखो भाग १ तथा २) श्री जे० सी० कुमारप्पाने अपनी पुस्तक 'ए प्लैन फार दी इकनामिक डेवलपमेंट आफ दी नार्थ वेस्ट फ्रांटियर प्राविंस' तथा श्रीमन्नारायण अग्रवालने अपनी पुस्तक 'दी गाँधीयन प्लैन'में भी इसका वर्णन किया है। जो लोग इस विषयकी विशेष जानकारी हासिल करना चाहते हैं उन्हें इन पुस्तकोंमें काफी सामग्री मिल सकती है।

ग्रामोद्योग-आन्दोलनके भीतर जो फ़िलासफी है उसका व्यावहारिक प्रकटीकरण अखिल भारतीय चर्खासंघ, अखिल भारतीय ग्रामोद्योग तथा हिन्दुस्तानी तालीमी संघके कामोंमें हो गया है जो ग्रामोद्योगके भिन्न-भिन्न क्षेत्रोंमें भिन्न-भिन्न रूपसे अपना काम कर रही हैं। इन संस्थाओंके बारेमें विशेष जानकारी वर्धासे प्राप्त हो सकती है।

इस पुस्तकमें जिन सिद्धान्तोंपर विचार किया गया है उनका ज्ञान प्राप्त करनेके लिए 'दी इकनामिक आफ खादी' तथा 'सेण्ट पर सेण्ट स्वदेशी' तथा बी० सी० कुमारप्पाकी "ह्वाई दी विलेज मूवमेण्ट" नामक पुस्तकें पढ़ना चाहिये।

महात्मा गांधीने इस पुस्तककी प्रस्तावना लिखनेकी कृपा

की है, इससे मैं उनका अतिशय कृतज्ञ हूँ। जेलके अपने अनेक साथियों, खासकर श्री विनोवा भावे, काका कालेलकर तथा श्री एच० पी० कामतका मैं अनुगृहीत हूँ जिन्होंने इस पुस्तकके लिखनेमें मुझे अनेक तरहकी सलाह दी।

यह पुस्तक १९४४में ही तैयार हो गयी थी लेकिन मेरे जेलमें रहनेके कारण यह प्रकाशित नहीं हो सकी। १९४५में जेलसे छूटनेके बाद मैंने दो-चार संशोधन इसमें किये हैं।

—भारतन् कुमारप्पा

मई, १९४६

पूँजीवाद समाजवाद

ग्रामोद्योग

?

पूँजीवाद

परिभाषा—हमारे उद्देश्यके लिये पूँजीवादकी परिभाषा केवल इतनी ही मात्र पर्याप्त होगी कि वह ऐसी आर्थिक व्यवस्था है जहाँ मालका उत्पादन तथा वितरण व्यक्तियों या समूहोंद्वारा होता है जो अपने संग्रहीत धनके भण्डारका उपयोग अपने लिये अधिक धन कमानेके हेतु करते हैं। इस परिभाषाके अनुसार पूँजीवादके दो प्रधान अंग हैं—निजी पूँजी और निजी लाभ।

१—पूँजीवादका प्रयोग

(क) केन्द्रीकरण—पूँजीवादके प्रयोगके लिये अतुल धनराशि- की आवश्यकता है जिसे वह मशीन और कच्चे मालके खरीदनेमें लगाकर उनसे इतने बड़े पैमानेपर माल तैयार करता है कि उत्पा- दनका खर्च असंख्य वस्तुओंपर बँट जानेके कारण कम पड़ता है और इसलिये छोटे पैमानेपर उत्पादित वस्तुओंकी अपेक्षा वे बाजार- में सस्ते दरपर बेंची जा सकती हैं। जितना बड़ा कारोबार होगा चीजें उतनी ही सस्ती बेंची जा सकेंगी और उतनी ही सफलतापूर्वक

प्रतिद्वन्द्वीका मुकाबला किया जा सकेगा। इसलिये पूँजीवादी झुकाव हमेशा कारोबारको बढ़ानेकी ओर ही रहता है। आजकल व्यवसायका विस्तार इतना बड़ा हो गया है कि किसी एक व्यक्ति-के लिये—चाहे वह कितना ही समृद्धशाली क्यों न हो—अकेले मालिक बने रहना असम्भव हो गया है और व्यवसाय ट्रस्टी, कारपोरेशन तथा गरोहके हाथमें होता जा रहा है जो कोठियोंके रूपमें मजबूत सङ्गठन हैं और इस उपायसे ये देशके ही नहीं बल्कि उस प्रकारके समस्त व्यापारपर अधिकार जमाते हैं। दूसरे शब्दोंमें इसे यों कह सकते हैं कि पूँजीवादी व्ययसायमें केन्द्रीकरणकी ओर अधिकाधिक प्रवृत्ति होती है अर्थात् जो व्यवसाय स्वतन्त्र उत्पादकोंके एकाकी प्रयासका फल होता उसे किसी केन्द्रीय व्यवस्थाके अन्दर ला देना पूँजीवादका मुख्य उद्देश्य है। इस व्यवस्थामें अनेक उत्पादकोंका अन्त होकर उनके स्थानपर एक केन्द्रीय उत्पादक मण्डल खड़ा हो जाता है जो समस्त व्यवसाय-को अपने लिये अपने अधीन कर लेता है।

(ख) पूँजी—इस तरहके केन्द्रित व्यवसायके लिये अतुल पूँजीकी जरूरत होती है। इस तरह इसे चलानेके लिये अतुल पूँजी या साखकी आवश्यकता होती है। जो लोग इतनी पूँजी प्रदान कर सकते हैं उन्हें पूँजीपति या महाजन कहते हैं। इनका व्यवसायपर बहुत अधिक प्रभाव रहता है। ये चाहें तो पूँजी देना बन्दकर व्यवसायको खत्म कर सकते हैं अथवा जरूरत पड़नेपर पूँजी देकर उसे बढ़ा सकते हैं। जिनके पास पूँजी नहीं है या थोड़ी पूँजी है उन्हें अपना कारोबार बन्दकर इन बड़े पूँजीपतियों की वैतनिक नौकरी करनी पड़ती है। पूँजीपतिकी

उत्तरोत्तर बढ़ती होती है और वह चैनकी जिन्दगी बिताता है। उनका केवल मात्र व्यापार है रुपया लगाना और मोटा नफा कमाना।

(३) मशीनरी—चूँकि उत्पादनका केन्द्रीकरण हो जाता है और यदि विश्वव्यापी नहीं तो देशव्यापी मांगको पूरी करनेका उद्योग रहता है इसलिये माल तो बढ़िया और तेजीसे तैयार करनेके सभी उपायों और साधनोंका अध्ययन किया जाता है और इस कामको सम्पन्न करनेके लिये तरह तरहकी मशीनो और उत्पादनके साधनोंका आविष्कार किया जाता है। इस तरह उत्पादनके यंत्र बहुत विशाल और जटिल हो जाते हैं और चूँकि इन मशीनों और यंत्रोंके बिना उत्पादनका काम सफलता पूर्वक नहीं हो सकता और साथ ही इतने बड़े पैमानेपर मशीनोंका आयोजन करना किसी एक व्यक्तिके लिये असम्भव है, इसलिये जिस तरह सारी पूँजी चन्द व्यक्तियोंके आधिपत्यमें आ जाती है उसी तरह उत्पादनके यंत्र भी कारीगरोंका साथ छोड़ देते हैं और कारखानोंकी इन वृहदाकार मशीनोंमें उनका लोप हो जाता है।

इतनी विशालकाय मशीनोंमें बेशुमार पूँजी तभी सार्थक हो सकती है जब उत्पादन बड़े पैमानेपर हो; क्योंकि छोटे पैमाने-पर उत्पादन करनेके लिये इतनी ज्यादा पूँजी लगानेमें हमेशा घाटा होता रहेगा और जब बेशुमार उत्पादन होगा तभी आम-दनीका बहुत बड़ा भाग मालकी खपतके लिये बाजार खोजने, उसे कायम रखने, पोद्दार नियुक्त करने, माल भेजनेका किराया, पैकिंग, तथा विज्ञापनबाजीमें व्यय किया जायगा और साथ ही

साथ कारखानेकी इमारत और मशीनोंकी मरम्मत आदिमें भी खर्च कया जायगा।

(४) मजूर—ऊपर दिखाया गया है कि विस्तृत पैमानेपर उत्पादनमें खर्च बहुत ज्यादा बढ़ जाता है। इसका परिमाण यह होता है कि मजूरोंको कमसे कम वेतन देकर मजूरीको हमेशा घटानेकी चेष्टा रहती है। इसके लिये मजूरोंकी संख्या घटा दी जाती है अथवा पुरुषोंके स्थानपर कम वेतनपर सन्तुष्ट रहने-वाले लड़कों और स्त्रियोंको रखा जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि पुरुषोंमें बेकारी बढ़ने लगती है। इस बढ़ती बेकारीके अन्य कारण भी हैं। बढ़ती बेकारीका परिणाम यह होता है कि मजूर सस्ते हो जाते हैं, मजूरीका दर गिरने लगता है, पूँजीपतियोंको सौदा करनेका मौका मिलता है और वस्तु-ओंकी भाँति मजूरोंका भी मोल भाव होने लगता है और आमद और माँगके अनुसार इनका भी मूल्य यानी मजूरी निर्धारित की जाती है अर्थात् इस हालतमें मजूरीका मापदण्ड मजूरकी आवश्यकता नहीं रह जाती बल्कि भूखों मरनेसे बचने-के लिये वह कमसे कम जो वेतन स्वीकार कर सकता है वही उसकी मजूरीका मापदण्ड हो जाता है।

(५) संगठन—विस्तृत पैमानेपर उत्पादन करनेके लिए अनेक तरहके संगठनकी आवश्यकता पड़ती है जैसे, पूँजीके लिए, कच्चे मालके लिए, उत्पादन तथा माल बेचनेके लिए। जहाँ उत्पादन अनेक व्यक्तियोंके हाथमें रहता है वहाँ वे लोग स्वतन्त्र रूपसे अपना-अपना इन्तजाम करते हैं और किसी संग-ठनकी आवश्यकता नहीं पड़ती लेकिन उत्पादनका केन्द्रीकरण

होते ही भिन्न-भिन्न स्रोतोंसे पूँजी बटोरनेकी आवश्यकता पड़ती है, भिन्न-भिन्न देशोंसे कच्चा माल इकट्ठा करना पड़ता है, उत्पादनके भिन्न-भिन्न कार्योंके लिए असंख्य काम करनेवालोंकी जरूरत पड़ती है, और मालकी खपतके लिये उसे भिन्न भिन्न देशोंमें भेजना पड़ता है। इस अवस्थामें पहुँचकर व्यवसाय व्यक्ति-विशेषकी वस्तु नहीं रह जाता बल्कि किसी संगठनके अन्दर आ जाता है जो एक इकाईके रूपमें काम करता है। इस तरह पूँजीवादने बहुत बड़ा संगठन खड़ा कर दिया है जिसके अन्दर कहीं कहीं संसारभरकी शक्तियाँ काम करती हैं। संगठनका मतलब है केन्द्रीकरण। इस तरह पूँजीवादी व्यवस्थामें प्रबन्धकी सारी व्यवस्था कतिपय चुने हुए व्यक्तियोंके हाथमें आ जाती है और कारोबारकी सारी देखभाल यह छोटा गरोह करता है।

कहा जाता है कि पच्छिमवालोंमें इस तरहके संगठनका माद्दा बहुत अधिक है। इसका मतलब यही है कि वहाँकी आर्थिक व्यवस्थाने ऐसा रूप धारण कर लिया है कि इस तरहका केन्द्रीकरण अनिवार्य हो गया है। इसलिए व्यक्तिगत रूपसे काम न कर वे किसी संगठनके अन्दर काम करनेके आदी हो गये हैं और उसीको आर्थिक दृष्टिसे पसन्द करते हैं। जब उनके सामने कोई समस्या आती है तो वे उसके हलके लिए संगठन कर लेना ही ज्यादा पसन्द करते हैं और इस तरह वे उसपर संगठित रूपसे विचार करते हैं। लेकिन इसका मतलब यह कभी नहीं हो सकता कि इस तरहका माद्दा केवल उन्हीं लोगोंकी विशेषता है। हमारे देशकी जाति-प्रथा हमारे पूर्वजोंकी संगठन-योग्यताका अपूर्व उदाहरण है। इससे स्वयं व्यक्त हो जाता है कि संगठित

रूपसे काम करनेकी उनमें अद्भुत योग्यता थी। हमारे देशमें उस संगठनके अभावका कारण यह है कि हमारे देशकी व्यावसायिक प्रथाका विकास केन्द्रीकरणके आधारपर नहीं हो पाया है और इसलिए पच्छिमवालोंकी तरह हमारे देशके लोग संगठित नहीं हो पाते।

२—पूँजीवादके गुण

(क) उसके आधारके सिद्धान्तके अनुसार :—

(१) स्वार्थजनित प्रोत्साहन—पूँजीवादी प्रथाका सबसे बड़ा गुण यह है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने व्यवसायको सफल बनानेके लिये जी जानसे मिहनत करता है। चूँकि वह इससे अधिकसे अधिक लाभ प्राप्त करनेकी आशा करता है और व्यवसायको अपने उद्योगका फल समझता है इसलिये अधिकसे अधिक परिश्रम उसकी सफलताके लिए करता है। मानव जीवनमें निजी स्वार्थ सबसे प्रधान काम करता है। और जब इसका संयोग उत्पादनसे हो जाता है, जैसा कि पूँजीवादी प्रथामें है, तो यह उत्पादनको पूर्णतापर पहुँचा देता है। जो व्यक्ति अपने लाभके लिए काम करता है, उदाहरणके लिये एक बुनकर जो कपड़ा बुनकर बेचता है और उसका सारा नफा खुद पाता है, वह कभी भी बेकार बैठकर समय गँवानेकी कोशिश नहीं करेगा, और न अपने कपड़ेके तर्ज और उत्तमताके प्रति कभी लापरवाह ही होगा। लेकिन जिस बुनकरको वेतन या मजूरीपर रखा जायगा, वह इन बातोंकी परवा नहीं करेगा। जिस बुनकरको नफाका कुल हिस्सा मिलनेवाला है वह हमेशा तर्जको सुन्दर, मालको ठोस

और बारीक बनानेका यत्न करेगा जिससे उसे ज्यादा नफा होता रहे। लेकिन जिसे वेतन या मजूरीपर रखा जायगा उसकी बराबर देखरेख और निगरानी करनी होगी ताकि वह काममें लगा रहे। उससे ठीक ठीक काम लेनेके लिए निरीक्षक या फोर-मैन रखनेकी आवश्यकता बनी रहती है। इतनेपर भी उसके सामने ऐसा कोई प्रलोभन नहीं है जिससे वह पूरी मिहनतसे काम करे और बढ़िया माल तैयार करे। इसलिए जिस उत्पादनमें मजूरीके अलावा और कुछ मिलनेकी आशा नहीं है उसकी अपेक्षा व्यक्तिगत लाभकी आशा जहाँ रहती है वहाँ काम कहीं उत्तम और बढ़िया होता है। इस दृष्टिसे विचार करनेपर पूँजीवादका आधार बहुत ही दृढ़ और मजबूत सिद्धान्तपर कायम है।

(२) चढ़ा-ऊपरी—पूँजीवादी प्रथामें चढ़ा उपरीका ख्याल सबसे अधिक रहता है। इसलिये पूँजीपतियोंका ध्यान हमेशा उत्तम, सुन्दर और सस्ता माल तैयार करनेकी ओर रहता है। उदाहरणके लिये जिस कारखानेकी दियासलाई दूसरे कारखानेकी दियासलाईसे बढ़िया और सस्ती नहीं होगी, उस कारखानेके मालकी खपत बाजारमें नहीं हो सकेगी और उस कारखानेको अपना कारोबार उठा देना पड़ेगा। इसलिये प्रत्येक कारखानेदार उत्तमसे उत्तम माल तैयार करने तथा सस्तेसे सस्ते दरपर बेचनेकी कोशिश करता है। सस्ते दामपर माल तभी बेचा जा सकता है जब उत्पादनमें कम व्यय पड़े। इसके लिये उत्पादनके व्ययमें कमी करना आवश्यक है। यह तभी सम्भव है जब कार-खाना आधुनिक यन्त्रोंसे पूर्ण हो। इस तरह पूँजीवादी प्रथामें

चढ़ा उपरीके कारण उत्पादनमें पूर्णता और किफायतसारी लानेकी सदा कोशिश रहती है।

(२) स्वतन्त्रता—पूँजीवादी प्रथामें योग्य व्यक्तियों या समूहोंको बड़ेसे बड़ा काम करनेका अवसर मिलता है। वे खुद-मुख्तार होते हैं और अपनी योग्यता और इच्छाके अनुसार काम कर सकते हैं। इस प्रथाका यह सबसे बड़ा वरदान है। व्यक्ति या दलको इस बातकी स्वतन्त्रता है कि वह अपनी इच्छा या योग्यताके अनुसार काम करे। किसी व्यक्तिको विश्वकी सम्पत्तिका मालिक बना दिया जाय लेकिन यदि इच्छानुसार उसे खर्च करनेकी स्वतन्त्रता नहीं रहती तो वह मालिकाना अधिकार निष्प्रयोजन है। पूँजीवादी प्रथाकी यही विशेषता है कि योग्य और अनुभवी व्यक्तियोंको अपनी योग्यता और अनुभवके प्रयोगका पूरा अवसर मिलता है।

(ख) उपलब्धि या प्राप्तिके अनुसार—

विज्ञान और टेकनिकल ज्ञानकी सहायतासे पूँजीवादने देखते-देखते दुनियाकी काया पलट दी। हमलोगोंकी दैनिक आवश्यकताकी चीजों—जैसे बिजलीकी रोशनी, रेडियो, किताब, कागज, सिनेमा, मोटरगाड़ी, बस, ट्राम, रेल, जहाज, वायुयान, बाइसिकिल, कपड़ा, सिल्क, ऊन, दरी, चूना, टेबुल, कुर्सी, बर्तन, खिलौना, तेल-साबुन, दवा-दारू, अनाज, मसाला, फल वगैरह—के लिये भी तो हमें पूँजीवादका ही मुँह जोहना पड़ता है। पूँजीवादने जनताको अनेक तरहकी सुविधाएँ प्रदान की हैं जिनका पुराने जमानेमें कोई स्वप्नतक नहीं देख सकता था और

दुनियाके कोने कोनेसे ऐसी ऐसी वस्तुएँ बटोरकर लोगोंको दी हैं जो राजाओंको भी उपलब्ध नहीं थीं। देहाती भी अब बाजारमें जाते हैं तो उनके सामने यह सवाल उठता है कि वे क्या खरीदें। इतनी चीजें उनके सामने आ जाती हैं कि उनके लिये कुछ स्थिर करना कठिन हो जाता है। आज बाजारोंमें जैसे रंग विरंगे कपड़े मिलते हैं वैसे क्या एक पीढ़ी पहलेके लोगोंको प्राप्त थे? आज तो 'दुनियाके कोने-कोनेसे अच्छा-अच्छा और सस्ता माल देहाती बाजारोंतकमें पहुँच जाता है। पूँजीवादी व्यवसायी लोगोंके मनपसन्द माल तैयार करनेका यत्न करते हैं। इस तरह पूँजीवादने जो अद्भुत काम किया है उसकी प्राचीन युगमें कल्पनातक नहीं की जा सकती थी।*

(ग) इससे जो खूबी पैदा होती है—

(१) टीम स्पिरिट—पूँजीवादी प्रथाने सबसे बड़ी खूबी यह पैदा कर दी है कि लोगोंमें टीम स्पिरिट आ गयी है अर्थात् प्रत्येक दल अपनी सफलताके लिये दलके प्रत्येक व्यक्तिके साथ कन्धासे कन्धा मिलाकर काम करनेके लिये सदा उद्यत रहता है और किसी भी हालतमें पीछे पैर नहीं रखना चाहता। इसी लिये यह कहा जाता है कि इंगलैण्डके युद्ध तो ऐटनके खेलके मैदानमें ही जीते जाते हैं। बचपनमें ही जिन्हें मिल-जुलकर काम

---

* (क) और (ख) में जो खूबियाँ बतलायी गयीं हैं वे पूँजीवादकी कोई खास विशेषता नहीं है, बल्कि बड़े पैमानेपर उत्पादनके कारण उसमें यह खूबी पायी जाती है। समाजवाद और साम्यवादमें भी यह खूबी सम्भव है।

करनेकी शिक्षा मिलती है वे जीवनमें प्रवेश करनेपर सहयोग करनेके लाभको खूब समझते हैं। इस तरहके सहयोगमें ही वास्तविक शक्ति है। ग्रेट ब्रिटेनकी सबसे बड़ी खूबी यही है कि संकटकालमें यहाँके निवासी व्यक्तिगत भेदभाव भूल जाते हैं और बिना किसी तरहकी आपत्तिके एक हो जाते हैं और एक नेताके अधीन काम करने लगते हैं।

(२) अनुशासन—किसी दलको ईकाईके रूपमें काम करनेके लिये यह परम आवश्यक है कि उस दलके प्रत्येक व्यक्ति अनुशासनका पूरी तरह पालन करे। सामूहिक इच्छाके सामने दलके प्रत्येक व्यक्तिको अपनी व्यक्तिगत इच्छाका बलिदान करना अनिवार्य होगा। प्रत्येक व्यक्तिको दलकी आज्ञाके सामने सिर झुका देना पड़ता है। इसके लिये अनुशासनकी आवश्यकता है। पूँजीवादी प्रथाकी सबसे बड़ी विशेषता अनुशासन है।

हमलोगोंके ऊपर सबसे बड़ा अभियोग यही लगाया जाता है कि हमलोगोंमें अनुशासनकी कमी है और हमलोग एक दूसरेका पैर पकड़कर पीछे खींचनेका यत्न करते हैं। यही कारण है कि हमारे देशके उद्योग-धन्धोंका केन्द्रीकरण नहीं होता है। अभीतक तो इस तरहके व्यावसायिक संगठनका अवसर हमारे देशमें नहीं आया था। अभीतक हमारे देशके कलाकार व्यक्तिगत हैसियतसे ही सारा काम-काज करते रहे हैं, इसलिये संगठन और अनुशासनकी आवश्यकता हमारे देशमें प्रतीत नहीं हुई लेकिन पूँजीवादी प्रथाकी तरह संगठित रूपसे काम होने लगेगा तो सारा काम नियमित तरीकेसे करना होगा, अन्यथा विशृंखलता और गड़बड़ी पैदा हो जायगी। इस तरह हम देखते हैं कि अनु-

शासनके साथ ही साथ पूँजीवाद जीवनमें एक तरहकी स्थिरता और कायदगी भी पैदा करता है अर्थात् इसने मनुष्यको तौर-तरीके तथा व्यवस्थित रूपसे काम करना सिखलाया है।

(३) समयकी पाबन्दी—इसका एक फल यह हुआ है कि लोगोंमें समयकी पाबन्दी अर्थात् समयके मुताबिक काम करनेका भाव पैदा हो गया है। समयकी पाबन्दीकी भावना उसी आर्थिक व्यवस्थामें पैदा होती है जहाँ अधिक संख्यामें लोग एक साथ काम करते हैं। यदि वहाँ समयकी पाबन्दीका लोग ध्यान न रखें तो यह प्रथा ही टूट जायगी। व्यक्तिगत व्यवसायकी तरह, जब जी चाहा काम किया और जब इच्छा हुई छोड़ दिया, से यहाँ काम नहीं चल सकता। पूँजीवादी प्रथामें समयका बहुत बड़ा महत्व है और समयकी पाबन्दी एक आवश्यक योग्यता है। पूर्ण रूपसे उद्योगीकरण न होनेका ही फल है कि लोग समयकी पाबन्दीपर ध्यान नहीं देते।

(४) अन्योन्याश्रयिता—पूँजीवादी प्रथामें उद्योग-धन्धोंमें यह विशेषता उत्पन्न हो जाती है कि प्रत्येक काम दल-विशेषके हाथमें रहता है—जैसे कच्चा माल पैदा करनेवाले, पूँजी लगाने वाले, इञ्जीनियर, फैक्टरी मनेजर, क्लर्क, मजूर, माल भेजनेवाले, एजेण्ट, विज्ञापनदाता, विक्रेता, उपभोक्ता वगैरह—इसलिये व्यवसायमें इन लोगोंको एक दूसरेपर निर्भर रहना पड़ता है। निर्भरताका यह भाव एकदेशीय नहीं होता बल्कि विश्व-व्यापी हो जाता है। एक गाँवका कच्चा माल पैदा करनेवाला किसान जापान, जर्मनी, अमेरिका और ब्रिटेनकी जनताके साथ बँधा हुआ है। उसके कच्चे मालकी खपत वहाँके निवासियोंकी

साम्पत्तिक अवस्थापर निर्भर करती है और तैयार मालके लिये उसे उन लोगोंका मुँह जोहना पड़ता है। आस्ट्रेलिया, मिस्र तथा कनाडाके बाजार-भावका असर भारतके बाजारपर पड़ता है और पौंड अथवा डालरके दरमें लेशमात्रकी घटती बढ़तीके फल-स्वरूप हमारे देशके व्यापारियोंको लाखोंका नुकसान या नफा हो जाता है। एक दूसरेपर निर्भर रहनेका यह भाव पूँजीवादी प्रथाकी देन है क्योंकि पूँजीवादी प्रथाका कारोबार अन्तर्राष्ट्रीय है। सन्तों और धर्माचार्योंने हमें यह पाठ पढ़ाया था कि "वसुधैव कुटुम्बकम्" लेकिन पूँजीवादी प्रथाने इसे सच करके दिखला दिया। कमसे कम आर्थिक क्षेत्रमें तो यह पूर्ण रूपसे लागू है।

३—पूँजीवादी प्रथाके दोष

(क) सामान्य

आरम्भिक—पूँजी प्रथाकी खूबियोंका उल्लेख ऊपर किया गया है। लेकिन इस प्रथाके दोषोंपर भी दृष्टिपात कर लेना आवश्यक है। पिछली सदीमें जब यह प्रथा अपनी जवानीपर थी, अपनी सफलताके चकाचौंधमें इसने संसारको मोह लिया। व्यक्तिगत स्वतन्त्रताका यह आधार माना गया था और इस भावनाके फलस्वरूप फ्रांसकी क्रान्तिके युगमें लाखों व्यक्ति फाँसीपर झूल गये। आर्थिक व्यवस्थाको व्यक्तिगत स्वतन्त्रताका आधार बनानेका परिणाम ऐसा आकर्षक हुआ कि लोगोंको इसने मोह लिया। लेकिन सदी समाप्त भी नहीं होने पायी थी कि इसका पर्दा खुलने लगा। पूँजीपतियोंने अपना असली रूप प्रकट कर दिया और विश्वव्यापी युद्धके बादल मँडराने लगे।

उसके बाद तो युद्धपर युद्ध हुए, उसके बाद व्यावसायिक प्रति-स्पर्धा, मन्दी, बेकारी और फिर युद्ध जिसके फन्देमें हमलोग पड़े हैं। उससे यह बात स्पष्ट होती जा रही है कि वर्तमान आर्थिक दुरवस्थाकी सारी जिम्मेदारी पूँजीवादी प्रथापर है और यदि मानवता और सभ्यताकी रक्षा करना है तो इस प्रथाको समूल नष्ट करना होगा या इसमें आमूल परिवर्तन करना होगा। विगत सदीके लोगोंकी अपेक्षा वर्तमान सदीके लोग पूँजीवादकी बुराइयोंका अन्दाजा भली भाँति लगा सकते हैं क्योंकि उस समयतक पूँजीवादी प्रथाका विकास इतना अधिक नहीं हुआ था। इस प्रथासे सबसे अधिक लाभ ब्रिटेनहीको हुआ है क्योंकि बड़े पैमानेपर कारोबार सबसे पहले ग्रेट-ब्रिटेनमें ही आरम्भ हुआ था। अब अन्य देशोंमें उद्योगीकरण हो जानेके फलस्वरूप ब्रिटेनका बाजार दबता जा रहा है और अब प्रत्येक देश इसी धुनमें है कि वह इतना ज्यादा माल पैदा करे जिससे अपने देशकी आवश्यकता पूरी करनेके साथ ही साथ वह संसारभरके बाजारोंपर कब्जा कर ले। इसका फल यह होता है कि माल आवश्यकतासे ज्यादा तैयार होने लगता है, आर्थिक उथल-पुथल मच जाती है, बेकारी बढ़ने लगती है, युद्धके काले बादल मँडराने लगते हैं और रक्तपात आरम्भ हो जाता है।

(१) स्वार्थपरता—हम ऊपर दिखला आये हैं कि पूँजीवादी प्रथाका प्रथम सूत्र अपने लिये अधिकसे अधिक धन कमाना है। समझमें नहीं आता कि इस आर्थिक व्यवस्थामें ही इस नीच मनोवृत्तिका दर्शन क्यों होता है क्योंकि इस तरहकी संकुचित मनोवृत्तिका परिचय अन्य किसी क्षेत्रमें नहीं मिलता। जो डाक्टर,

वैद्य या हकीम, शासक या शिक्षक केवल रुपयेके लिये काम करता है उसे लोग आदरकी दृष्टिसे नहीं देखते। शायद यही कारण है कि डाक्टरों, शिक्षकों, सैनिकों और धर्माचार्योंकी अपेक्षा व्यवसायीको अनेक देशके लोग नीची निगाहसे देखते हैं क्योंकि व्यवसायीकी अपेक्षा उन लोगोंमें निःस्वार्थता और सज्जनता किसी हदतक ज्यादा पायी जाती है। लोगोंकी यही धारणा है कि सौदागर हद दर्जेका स्वार्थी होता है। धन और निजी स्वार्थके अतिरिक्त उसका ध्यान और किसी बातपर नहीं रहता। लेकिन किसी भी समाजके लिये यह अवस्था वाञ्छनीय नहीं हैं क्योंकि एक सौदागर भी अन्य लोगोंकी भाँति समाजका अंग है और अन्य लोगोंकी तरह समाजको भी उसकी उतनी ही आवश्यकता है। यदि उसके उद्देश्यपर सामाजिक नियन्त्रण रखा जाय और सेवाके भावका उसमें संचार कर दिया जाय तो उसका काम भी समाजमें सौम्य समझा जा सकता है। लेकिन पूँजीवादी प्रथामें इसकी सम्भावना नहीं है। इस प्रथाने व्यक्तिगत लाभको प्रश्रय देकर उद्योग और व्यवसायकी मर्यादाको ही नष्ट कर दिया है। जिसमें व्यक्तिगत लाभकी जितनी ज्यादा क्षमता हो उतना ही ज्यादा हाथ-पैर वह फैला सकता है। व्यक्तिगत स्वतन्त्रतामें किसी तरहके हस्तक्षेप न होने देनेकी आड़में उसने स्वार्थ और लाभको अनियन्त्रित प्रश्रय दे दिया है। इसका फल यह होता है कि इस प्रथाके अन्दर लोगोंमें स्वार्थ और लोभकी नितान्त वृद्धि हो गयी है।

(२) लूट—समाजमें यदि एक व्यक्ति दूसरेकी वस्तुका अपहरण करे तो उसे चोर कहते हैं। लेकिन पूँजीवादी प्रथामें

जब यही काम संगठित रूपसे किया जाता है तो ऐसा करनेवाले लोग समाजके आदरणीय व्यक्ति समझे जाते हैं यद्यपि उनका अपराध कहीं ज्यादा संगीन होता है क्योंकि व्यवस्थित रूपसे जान बूझकर ये लोग अनेकोंकी रोजीका अपहरण करते हैं। न्यायकी दृष्टिसे तो व्यवसायका लाभ हिस्सेके मुताबिक उन सभी लोगोंको मिलना चाहिये जो इस लाभके पैदा करनेमें सहायक होते हैं, जैसे, पूँजीपति मजूर और कार्यकर्ता। लेकिन वास्तविकता क्या है। एक ओर तो पूँजीपति या उद्योग-पति दिनोदिन धनी होता जा रहा है और दूसरी ओर मजूर दिनोंदिन निर्धन होता जा रहा है। इससे यही प्रकट होता है कि पूँजीपति नफेका कुल अंश खुद ले लेता है और मजूरको कुछ भी नहीं देता। पूँजीपति अपना फाजिल रुपया कारोबारमें लगाता है और हाथ-पैर हिलाये बिना ही बेहिसाब नफा कमा लेता है और जो मजूर चोटीका पसीना एँड़ीतक बहाकर रात दिनके कड़े परिश्रमसे माल तैयार करता है उसे पेटभर भोजन-तक नहीं दिया जाता। इस दृष्टिसे पूँजीवादी प्रथामें घोर अन्याय होता है और इसे निःसंकोच जायज लूट कह सकते हैं। यूरोपमें इसका उदय सामन्तशाही प्रथाके आधारपर हुआ। सामन्तशाही युगमें शक्तिशाली जमींदार (वैरन लोग) अपने किलों-से निकलते थे और अपने वैभवकी वृद्धिके लिये आस-पासके गाँवोंमें लूटपाट मचाते थे। जो किसान इस लूटपाटसे बचना चाहते थे वे उन्हें कर देते थे। मशीनोंके आविष्कारके फल स्वरूप जब यूरोपमें औद्योगिक क्रान्तिका उदय हुआ और भारत-से प्रचुर सम्पत्ति लूटकर यूरोप पहुँचायी गयी, तब इन सामन्त-

शाहोंका स्थान उद्योगपतियोंने ग्रहण किया। इन उद्योग-पतियोंने उसी तरहका संगठन नये रूपसे खड़ा किया और नफाके रूपमें जनताको लूटना आरम्भ किया। दोनोंका अध्य-वसाय एक ही था, केवल दोनोंके रूपमें अन्तर था। सामन्त लोग अपने बलसे साधारण जनताको लूटते थे, उद्योगपति अपने धनकी प्रभुतासे नफाके रूपमें जन-साधारणको लूटने लगे।

(३) अन्तःकलह—लेकिन इस तरहकी लूट बेरोकटोक निरन्तर जारी नहीं रह सकती। मजूर तभीतक दबा रह सकता है जबतक वह अज्ञानी है, गरीब है और असंगठित है। लेकिन एक समय आवेगा जब वह उतना ही स्वीकार करनेके लिये तैयार नहीं रहेगा जो पूँजीपति उसे देना चाहते हैं। वह अपने अधि-कारको प्रकट करेगा और व्यावसायिक क्षेत्रमें संघर्ष और द्वन्द्व उपस्थित हो जायगा। दो शक्तिशाली दलोंमें द्वन्द्व मच जायगा—एक ओर पूँजीपति और दूसरी ओर मजूर। यह कलह ऐसा भयानक रूप धारण कर लेगा कि पूँजीवादी प्रथामें यह किसी भी प्रकार शान्त नहीं हो सकेगा।

(४) साम्राज्यवाद—घरकी लूटसे सन्तुष्ट न होकर पूँजीपति कच्चा माल खरीदने तथा तैयार मालकी खपतके लिये दूसरे देशोंकी तरफ अपनी लोलुप आँखें फेरते हैं। परिणाम यह होता है कि कोई न कोई बहाना निकालकर ये दूसरे देशोंको हड़पने लगते हैं या अपनी पूँजीके प्रभावसे उन देशों और उनके शासकोंपर अपना आधिपत्य स्थापित कर लेते हैं। इन अधिकृत देशोंसे वे कच्चा माल खरीदते हैं और अपने तैयार मालकी खपतके लिये इन देशोंमें माल तैयार नहीं होने देते। इस तरह पूँजीवाद साम्राज्य-

वादको जन्म देता है और दुर्बल देशोंको अपना गुलाम बनाता है। इस क्रियामें नैतिक विचार ताखपर रख दिया जाता है और यदि कभी इस तरहके उद्गार प्रकट भी किये गये तो वे दिखावा-मात्र। वहाँ तो एकमात्र ध्यान नफ़ापर रहता है।

(५) विद्रोह—लेकिन इस तरहकी लूट बेरोक-टोक जारी नहीं रहती। गुलाम प्रजा विद्रोह करती है। विदेशियोंद्वारा इस तरहका अनवरत शोषण वे स्वीकार नहीं करते। उनमें राष्ट्रीयताका उदय होता है और वे विदेशियोंको निकाल बाहर कर साम्राज्यवादका अन्त कर देना चाहते हैं।

(६) युद्ध—इसके साथ ही दूसरे देशोंके साथ भी संघर्ष उत्पन्न हो जाता है। किसी देशपर एक राष्ट्रके अविच्छिन्न अधिकारको दूसरे व्यावसायिक उन्नत राष्ट्र बर्दाश्त नहीं कर सकते। परस्पर डाह पैदा होता है। उस देशके कच्चे माल बाजार तथा सस्ते मजूरमें हिस्सा पानेके लिये दूसरे राष्ट्र भी तड़फड़ाने लगते हैं। इसीका फल विश्व-युद्ध है। इन कमजोर देशोंपर प्रभुता कायम करनेके लिये बलशाली और व्यावसायिक उन्नत राष्ट्रोंमें युद्ध छिड़ जाता है और अपनी प्रभुता कायम करनेके लिये वे युद्धमें अपनी सारी शक्ति लगा देते हैं। युद्धमें विजय पानेके लिये तथा जनसाधारणको युद्धमें संलग्न करनेके लिये ये साम्राज्यवादी राष्ट्र अनेक तरहके झूठे दावे पेश करते हैं, संसार-की आजादीको कायम रखनेकी झूठी घोषणाएँ करते हैं और इन उपायोंसे जनताकी आँखोंमें धूल झोंकनेका यत्न करते हैं। निरीह जनता देशकी आजादीके नामपर उन्मत्त हो उठती है और इन पूँजीपतियोंके लिये अपना सिर कटा देती है। पूँजीपतियोंको

अपनी सत्ता कायम रखनी है चाहे उसके लिए कितना भी भयानक रक्तपात क्यों न हो। इस तरह युद्धके बाद युद्ध होते रहते हैं और नर-संहारका क्रम जारी रहता है। सुख, शान्ति और सभ्यता खतरेमें पड़ जाती है। इससे स्पष्ट है कि यदि पूँजीवादका समूल नष्ट नहीं किया गया तो मानवताके लिए यह महान संकट उपस्थित करेगा।

अनियंत्रित स्वार्थ आर्थिक संगठनके लिए सबसे बड़ा खतरा है। इससे बर्बरताका राज्य कायम होता है। यह उस राक्षसी मायाका विस्तार करता है जहाँ अर्थ-लोलुप मानव पशुसे भी नीचे गिर जाता है और ठगी, धोखा, विश्वास, क्रूरतामें ही अपनी विजय मानता है और विश्वको रसातलमें भेजनेका यत्न करता है।

ऊपर जो कुछ कहा गया है उसे सिद्ध करनेके लिये यह आवश्यक है कि पूँजीके सञ्चालनपर प्रकाश डाला जाय और यह दिखलाया जाय कि उत्पादन तथा खपतके क्षेत्रमें उसका किस तरह प्रयोग होता है और मानव-जातिपर उसका क्या प्रभाव पड़ता है।

(ख) विशेष—

१—उत्पादन

(क) मजूर—

(१) दासता—पूँजीवादी प्रथामें उत्पादनका काम मशीनोंद्वारा होता है। इन मशीनोंको चलानेके लिये नौकर रखे जाते हैं। इस तरह उनके स्वतन्त्र व्यक्तित्वका अपहरण हो जाता है

और वे वेतनभोगी कर्मचारी मात्र रह जाते हैं। इन लोगोंके पास उत्पादनका कोई साधन नहीं है। यदि पूँजीपति इन्हें नौकर न रखें तो ये एकदम लाचार हैं। इस तरह इन्हें पूरा गुलाम बन जाना पड़ता है। यदि इन्हें अपने पदपर कायम रहना है तो इन्हें झुककर रहना पड़ेगा। कल-कारखानोंके मालिक दो ही चार हैं इसलिये बाकी सबको मजूर या कर्मचारीके रूपमें रहना पड़ता है और अपनी हरतरहकी स्वतन्त्रताको तिलाञ्जलि देकर दास बन-कर दूसरोंके इशारेपर चलनेके लिये बाध्य होना पड़ता है।

(२) लाचारी और अनिश्चितता—उत्पादन छोटे पैमानेपर था तबतक लोगोंको अपनी बुद्धिकी विशेषता प्रकट करनेका अवसर मिलता था। प्रत्येक व्यक्तिकी सफलता उसके परिश्रमपर निर्भर करती थी। लेकिन वर्तमान औद्योगिक युगमें छोटे पैमानेपर उत्पा-दन करनेवाला बड़ी शक्तियोंका खिलवाड़ बन गया है जिसके लिये कोई चारा नहीं है। कभी कभी तो उसे आशातीत सफलता मिल जाती है जिसकी वह स्वप्नमें भी कल्पना नहीं करता लेकिन कभी बिना किसी व्यक्त कारणके वह एकदम बर्बाद हो जाता है। पुराने जमानेमें अकाल, अनावृष्टि, अतिवृष्टि, बाढ़, भूकम्प आदि दैवी प्रकोपके कारण मनुष्यके नियमित साधारण जीवन यापनमें व्यवधान पड़ जाता था और उन्हें सङ्कटका सामना करना पड़ता था लेकिन उस युगमें तो बंकोंका दिवाला, कम्पनियोंका दिवाला, व्यवसायकी तेजी मंदी उससे कहीं भयानक संकट उपस्थित करते रहते हैं। वर्तमान आर्थिक नीति और पूँजीपतियोंकी स्वार्थपरताका यह परिणाम है। इस युगमें कोई भी व्यक्ति अपने भविष्यके लिये निश्चिन्त नहीं रह सकता।

व्यक्तिकी हालत नदीकी धारामें बहते पत्तेके समान है जो डूबता और उतराता है तथा किसी भी क्षण विलीन हो सकता है। व्यक्ति चाहे कितना ही ईमानदार परिश्रमी और किफायत-सार क्यों न हो, लेकिन भविष्यके लिये उसे सदा शंकित बना रहना पड़ता है। इस तरह वह सदा लाचारी और अनिश्चितताका अनुभव करता रहता है और परिश्रम करनेके लिये उसे कोई प्रेरणा नहीं मिलती।

(३) बेकारी—बड़े बड़े कारखानोंके मजूरोंकी हालत कभी अच्छी नहीं रहती। मांगकी कमी, रोजगारकी मन्दी, उत्पादनकी अधिकता आदि ऐसी घटनाएँ हैं जिनके कारण कारखाने किसी समय बन्द हो जाते हैं और मजूर बेकार हो जाता है। यदि इनमेंसे कोई बात भी न हुई तो एकाध नयी मशीनका ही आवि-ष्कार हो जाता है और उसकी जरूरत नहीं रह जाती। अब यह तर्क नहीं पेश किया जा सकता कि बड़े पैमानेपर कारोबारके फल-स्वरूप नित नये कारखाने खुलते रहते हैं इससे एक जगहसे काम छूट जानेपर उसे दूसरे कारखानेमें काम मिल जायगा। व्याव-सायिक विकार निरन्तर जारी नहीं रह सकता। उसकी भी सीमा है। आज व्यावसायिक विकास अपनी चरम सीमापर पहुँच गया है और संसारके सभी क्षेत्रोंमें हर तरहके माल का उत्पादन भी अपनी चरम सीमाको पहुँच गया है। इसलिये नये यन्त्रों-का आविष्कार मजूरोंमें बेकारी उत्पन्न कर देता है और उन्हें कहीं ठाँवठौर नहीं मिल सकता। इसके प्रत्यक्ष उदाहरण अमेरिका और ग्रेट ब्रिटेन हैं। एशियाके अनेक खण्ड, दक्षिण अफ्रीका तथा दक्षिण अमेरिकामें अभी भी पूरी तरह व्यावसायिक

विकास नहीं हो पाया है। तो भी अमेरिका और ब्रिटेन बड़े बड़े कारखानोंके होते हुए भी अपने यहाँके सभी मजूरोंको काम देनेमें असमर्थ है। १९३४ में अमेरिकामें बेकारोंकी संख्या १ करोड़ १० लाख थी और बेकारीका भत्ता उन्हें देनेके लिये अमेरिकाकी सरकारको १ करोड़ ७० लाख डालर व्यय करना पड़ा था। उसी साल ब्रिटेनमें बेकारोंकी संख्या तीन करोड़ थी। १९४० में युद्धके कारण बेकारोंकी संख्या निश्चित ही घट गयी होगी तो भी ब्रिटेनको बेकारोंकी सहायताके लिये २ करोड़ २० लाख पौंड व्यय करना पड़ा था।* आज जब यह हालत है तब उस समय क्या हालत होगी जब संसारके सभी देश व्यावसायिक दृष्टिसे समृद्ध हो जायँगे। प्रत्येक देशमें जब बड़ी बड़ी मशीनोंसे काम होने लगेगा तब तो निश्चय ही बहुत कम मजूरोंकी जरूरत पड़ेगी और यह व्यवस्था उत्पन्न हो जानेपर पूँजीवादका पतन अनिवार्य है।

(४) गरीबी—पूँजीवादके विकासका फल यह होता है कि गरीब दिनोदिन गरीब होता जाता है क्योंकि सबको काम न मिलनेसे बेकारी बढ़ती जाती है और अमीर दिनोदिन धनी होता जाता है क्योंकि मशीनोंके आविष्कारसे मजूरी आदिके रूपमें उसे खर्च कम करना पड़ता है और नफाका अधिकाधिक भाग उसकी जेबमें जाता है। मजूरोंकी संख्या बहुत अधिक है और पूँजीपतियोंकी कम। इसका स्वाभाविक परिणाम यह होता है कि सम्पत्ति चन्द लोगोंके हाथमें हो जाती है और अधिक संख्या-

---

* स्टेट्समैन ईयर बुक १९४१ पृ० २२

को मुश्किलसे पेटभर अन्न मिल पाता है। सोशल सिक्योरिटी वार्ड-के अनुसार १९४० के अप्रेलमें १७९३०,०० व्यक्ति (अर्थात् अमेरिकाकी जन-संख्याका प्रायः सातवाँ हिस्सा) सार्वजनिक कोषसे सहायता पाते थे।* पिछले युद्धके पहले अमेरिकाकी आबादीकी १ फी सदीको राष्ट्रीय आयका २० फी सदी, १० फी सदीको ३० फी सदी और गरीब २५ फी सदीको केवल ३½ फी सदी मिलता था। इंगलैण्डके बारेमें कोलिन क्लर्कका हवाला देते हुए सर रिचार्डने कहा है कि १९३४ में १½ फी सदी आबादीको राष्ट्रीय आयका २० फी सदी, ८½ फी सदीको २५ फी सदी और बाकी ९० फी सदीको राष्ट्रीय आमदनीके ५० फी सदीपर जीवन यापन करना पड़ता था। १९३४ का यह आँकड़ा १९१३ के आँकड़ेसे कहीं खराब है। इससे यही अनुमान किया जाता है कि पूँजीवादी प्रथाका ज्यों ज्यों विकास होता जायगा त्यों त्यों सम्पत्तिका अधिक हिस्सा चन्द लोगोंके हाथमें इकट्ठा होता जायगा और अधिकाधिक लोग गरीब होते जायँगे।

हम पीछे दिखला आये हैं कि बड़े पैमानेपर उत्पादनका यह फल होगा कि बड़े बड़े कारखाने आपसमें मिलकर छोटे छोटे कारखानोंको हड़प लेंगे। इससे सम्पत्तिका बँटवारा और भी विषम हो जायगा। कहा जाता है कि संयुक्त राष्ट्र अमेरिका-के दो करोड़पति परिवार अर्थात् मार्गन और राकफेलर परिवार-का सम्मिलित अधिकार ११२ बंकों, रेलवे, बीमा तथा अन्य

* स्टेट्समैन ईयर बुक १९४२ पृ० ५०२

कम्पनियोंपर था और इनके अधिकारमें २२,२४५,०००,००० डालर पूँजी थी और संयुक्त राष्ट्र अमेरिकाका सारा कारोबार ११ आदमियोंके अधीन था।* इतनी अतुल सम्पत्ति न्यूयार्क शहरके चन्द कोठियोंके अधीन थी तो भी युद्धके आरम्भ होनेके ठीक पहले न्यूयार्ककी सड़कोंपर हजारों व्यक्ति जीविकाकी तलाशमें मारे मारे फिरते थे। हालत यहाँतक खराब हो गयी थी कि करोड़पतियोंके इस न्यूयार्क नगरका नाम 'मरभुखोंका नगर'' पड़ गया था। एक ओर तो चन्द व्यक्तियोंके हाथमें अतुल सम्पत्ति थी और दूसरी ओर हजारों व्यक्ति भूखे मर रहे थे। एक तरफ लोग खा खाकर मरते थे और दूसरी तरफ लोग खानेके अभावमें मरते थे।

ऊपरका विवरण अतिशयोक्तिपूर्ण समझा जायगा क्योंकि एक बात सच है कि उद्योगीकरणके पहलेकी अपेक्षा व्यवसाय सम्पन्न देशोंमें मजूरोंकी रहन-सहनका मापदण्ड कहीं ऊँचा हो गया है। पहलेकी अपेक्षा आज मजूरोंको आरामके अनेक उपकरण प्राप्त करनेका साधन प्राप्त है। इंगलैण्डके मजूर भारतके धनिकोंकी अपेक्षा कहीं आरामकी जिन्दगी बिताते हैं। ऐसी हालतमें यह कहना कहाँतक उचित होगा कि उद्योग-धन्धोंके विकासने दरिद्रताको जन्म दिया है? क्या हमारे ही देशमें इस बातकी चेष्टा नहीं की जा रही है कि व्यावसायिक उन्नति-द्वारा अनेक तरहके माल यहाँ सस्ते दरपर पैदा किये जायँ

---

* जेम्स ट्रस्लो ऐडम्स : दी एपिक ऑफ अमेरिका १९४०, पृ० ३४४

ताकि वे जन-साधारणको सुलभ हो सकें और बेकारोंको काम मिल जाय ?

इस प्रश्नका समुचित उत्तर देनेके लिये यह आवश्यक है कि उद्योगीकरणके प्रभावको अच्छी तरह समझनेके लिये हम उन देशोंकी उस दशापर दृष्टिपात करें जब वहाँ औद्योगिक विकास नहीं हुआ था।

पहली बात तो यह है कि हजारों कारीगरोंके मुँहसे रोटीका जरिया छीनकर यदि गिने-गिनाये मजूरोंने २ या ३ रुपया पैदा ही कर लिया तो उसका क्या महत्व है? जिस सम्पत्तिको हजारों कारीगर कमा सकते थे उसे छीनकर चन्द मजदूरोंको अधिक वेतन दिया जाने लगा है और मिल-मालिकोंकी जेब भरी जाने लगी है। जहाँतक जन-साधारणका सम्बन्ध है इससे उनके बीच गरीबी और बेकारीका प्रादुर्भाव हुआ है। क्योंकि कारखानोंमें चन्द-को काम भले ही मिल जाता है लेकिन हजारोंको जीविकाके साधन-से वञ्चित किया जाता है।

दूसरी बात यह है कि यदि इंगलैंण्डके लोगोंको आरामके अनेक साधन उपलब्ध हैं तो इसका प्रधान कारण यह है कि उत्पादनपर एकाधिपत्य कायम कर उन्होंने व्यवसायको अपनी मुट्ठीमें कर लिया है और हमारे देशको दरिद्र बना दिया है। वहाँकी जनता तथा अन्य व्यवसाय समृद्ध देशोंकी जनताको ऊँची रहन-सहनकी सुविधा केवल इसलिये प्राप्त है कि उन्होंने पिछड़े हुए देशोंको दोनों हाथोंसे लूटा और नोचा है। पूँजीवादी व्यवस्थामें अपने पड़ोसीको लूटे बिना कोई सम्पन्न नहीं हो सकता।

तीसरी बात यह है कि केवल रहन-सहनका मापदण्ड ऊँचा हो जाना ही जनताकी वास्तविक समृद्धिका लक्षण नहीं है। धनी और सम्पन्न उसीको कह सकते हैं जिसके पास जीवनकी सभी आवश्यकताओंकी पूर्तिके साधन मौजूद हैं। जहाँ मजूरोंको अधिक वेतन मिल रहा है वहाँ उनकी असली हालत क्या है। अप्राकृतिक साधनोंद्वारा उनके जीवनकी आवश्यकताएँ बढ़ा दी गयीं हैं। वे जो कुछ पाते हैं उन्हींकी पूर्तिमें लगा देते हैं तो भी उन्हें पूरा नहीं पड़ता कि वे सभी आवश्यकताओंकी पूर्ति कर सकें क्योंकि उत्पादनके नये-नये साधनोंके कारण आकर्षक वस्तुओंके उत्पादनकी बहुत ज्यादा वृद्धि हो गयी है। एक देहातीके लिये ५०) रुपया महीना सुखी जीवन यापन करनेके लिये पर्याप्त है लेकिन बम्बई और कलकत्ता ऐसे शहरोंमें रहनेवालोंके लिये १५०) भी पर्याप्त नहीं है क्योंकि देहातकी अपेक्षा शहरोंमें आवश्यकताओंका रूप बहुमुखी हो जाता है। इस दृष्टिसे शहरोंमें १५०) रु० मासिक पानेवाला देहातके ५०) रु० मासिक पानेवालेकी अपेक्षा गरीबीसे दिन काटता है क्योंकि उसकी सारी आवश्यकताओंकी पूर्ति नहीं हो पाती। इसलिये किसी व्यक्तिके सुखमय जीवनकी कल्पना करनेके लिए केवल उसकी आमदनीपर ही दृष्टि नहीं रखनी चाहिये, और उसके पास जो सामान हैं उन्हें ही देखकर उसे समृद्ध नहीं मान लेना चाहिये। व्यापक उद्योगीकरणकी यह भी एक माया है। जो माल वह उत्पन्न करता है उसकी खपतको कायम रखनेके लिये वह लोगोंमें अनेक तरहकी चीजें रखनेकी लालसा उत्पन्न कर देता है। इसलिये हमलोगोंको इस जालमें नहीं फँसना चाहिये। आप अपनी आव-

श्यकताको जितना ही बढ़ाते जायँगे, उनका उतना ही विस्तार होता जायगा। उनकी पूर्ति कभी नहीं होगी। समृद्धिका वास्तविक अर्थ तो यही है कि समस्त आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिये आपके पास साधन मौजूद हैं। इसलिये आवश्यकताएँ जितनी ही कम होंगी उतना ही समृद्ध कोई व्यक्ति समझा जायगा। इससे हमारा अभिप्राय यह नहीं है कि हमलोगोंको सन्त और सन्यासी वन जाना चाहिये या आदिम अवस्थामें चला जाना चाहिये। हमारा केवलमात्र इतना ही कहना है कि अनेक तरहके सामानोंसे घिरा रहना समृद्धिका सच्चा लक्षण नहीं है।

पश्चिमके लोग जो विविध प्रकारकी वस्तुएँ हमलोगोंको प्रदान कर रहे हैं उसके विना ही हम सुखी, स्वस्थ और आनन्दमय जीवन विता सकते हैं। इसलिये यह कहना गलत है कि ऊँची रहन-सहन सुखमय और समृद्ध जीवनका लक्षण है।

ऊपर जो बातें कही गयीं हैं उनसे यह साफ प्रकट हो जाता है कि पूँजीवादके बड़े पैमानेपर उद्योगीकरणका फल यह हुआ है कि जनसाधारण अधिकाधिक दरिद्र हो गया है, और अनेकोंको निर्धन बनाकर उसने चन्दको सुखी और समृद्ध वना दिया है और उन्हें अनेक तरहकी सुविधाएँ प्रदान कर दी हैं।

(५) रोग और कुटेव—बड़े-बड़े कारखाने शहरोंमें ही खोले जाते हैं। एक कारखानेमें हजारों मजूर काम करते हैं। जगहकी कमी सदा वनी रहती है। मकानोंका किराया ऊँचा रहता है। इसका फल यह होता है कि मजूरोंको छोटी जगहोंमें भेड़-बकरियोंकी तरह रहना पड़ता है। कहीं-कहीं तो सिर्फ सोने-भरकी जगह किरायेपर मिलती है। उतनी जगहके लिये भी दी

किरायेदार रहते हैं। एक दिनको सोनेवाला और एक रातको सोनेवाला। ऐसे स्थान स्वभावतः अस्वस्थकर होंगे। अधिकांश मजूर अपने परिवारको गाँवोंमें ही छोड़कर कमानेके लिये शहरके कारखानोंमें भर्ती हो जाते हैं। इसका फल यह होता है कि उनमें अनेक तरहकी बुरी आदतें पड़ जाती हैं। वे शराब पीने लगते हैं, जुआ खेलने लगते हैं, चरित्रहीन हो जाते हैं, अनेक तरहके रोग इनके शरीरमें अपना घर बनाकर धीरे-धीरे इन्हें निकम्मा बना देते हैं। इस वातावरणमें जो बच्चे पाले-पोषे जाते हैं वे कैसे होंगे, इसका अनुमान सहजमें ही किया जा सकता है। सदाचार और शिष्टता इन्हें छू तक नहीं जाती और ये अपराधकी प्रवृत्तियोंका शिकार हो जाते हैं।

(६) अपराध—इसका स्वाभाविक परिणाम यह होता कि अपराध तथा अनैतिकताकी वृद्धि होने लगती है। व्यवसायकी दृष्टिसे अमेरिका संसारमें सबसे अधिक उन्नत देश माना जाता है। साथ ही अमेरिका अपराधोंके लिये भी उतना ही बदनाम है। वहाँके संगीन अपराधोंका वृत्तान्त पढ़कर सिहर जाना पड़ता है। व्यवसायियोंके इस संगठित लूटका मुकाबला करनेके लिये अपराधियोंने अपना संगठित संगीन दल तैयार कर लिया है और वैज्ञानिक ज्ञानके नये नये उपायोंका अवलम्बन करने लग गये हैं। जिस तरह ये उद्योगपति विधान और नियमकी अवहेलना करते हैं उसी तरह ये डाकू और लुटेरे भी कानूनकी अवज्ञा करते हैं। उन लुटेरोंकी दृष्टिमें कानून एक आडम्बर मात्र है जिसे धनियोंने मजूरोंको अपनी अधीनतामें रखने लिये और अपनी रक्षाके लिये बनाया है। इसलिये जब

कभी उसे अवसर मिलता है यह न्यायकी अवज्ञा करता है।

(७) जाति द्वेष—मजूर वर्ग इस बातको पसन्द नहीं करता कि धनी वर्ग अपने अधिकार और समृद्धिकी वासनाको तृप्त करनेके लिये उन्हें साधन बनावे। मजूर वर्ग सदा यह महसूस करता रहता है कि कठिन परिश्रमसे वह जो कमाता है उसका बहुत बड़ा भाग हाथ पैर न हिलानेवाले पूँजीपतियोंकी जेबमें चला जाता है और उसे केवल इतना ही मिलता है जिससे वह कठिनाईके साथ अपना और अपने परिवारका भरण पोषण कर सकता है। पूँजीपति जिस विलासिताका जीवन बिताते हैं—वस्त्र, भोजन, मकान, नौकर चाकर, क्लब सिनेमा, सैर सपाटा वगैरह—उन्हें वह डाहसे देखता है। इसलिये वह पूँजीपतियोंसे जो कुछ सम्भव है उसे जबर्दस्ती छीन लेनेके लिये संगठित होता है। कारखानोंको पंगु बनानेके लिये वह हड़ताल-का आश्रय लेता है। मनुष्य मनुष्यका शत्रु बन जाता है और देशमें भेदभाव और शत्रुताका जन्म होता है। इस समस्याका समाधान पूँजीवादके अन्दर नहीं हो सकता क्योंकि जबतक पूँजीवाद कायम रहेगा तबतक लूटनेवाले और लूटे जानेवाले कायम रहेंगे। जैसा ऊपर दिखलाया गया है पूँजीवादका आधार लूट है। पूँजीपति अपने लिये अधिकसे अधिक धन बटोरना चाहता है। यह तभी सम्भव है जब वह दूसरोंको उससे वंचित करेगा। जो लूटा जायगा या वंचित किया जायगा वह निश्चय ही असन्तुष्ट रहेगा और बदला लेनेके अवसरकी ताकमें रहेगा।

(८) धनकी लिप्सा—पूँजीवादका आधार धन है। इस लिए उसने लोगोंके मनमें उत्कट और अनुचित धनकी लिप्सा

उत्पन्न कर दी है। जिसके पास धन है उसीकी प्रतिष्ठा है, उसीका प्रभाव है और उसे सब कुछ प्राप्त है। इसलिये रुपया कमाना ही मनुष्यके जीवनका सबसे बड़ा आदर्श बन गया है। अन्य सभी विचार—धर्म, सदाचार, अध्यात्म—गौण हो गये हैं।

यही घातक परिणाम है जिसे पूँजीवादने मजूरोंकी नैतिक, मानसिक और आर्थिक दशामें उत्पन्न कर दिया है। आगे हम यह दिखलाना चाहते हैं कि पूँजीपतियोंपर इसका क्या प्रभाव पड़ता है।

(ख) मालिक

इसका एकमात्र ध्येय अपने लिये अधिकसे अधिक धन कमाना है। इसलिये वह बिना किसी विचारके अपने उद्देश्यकी सिद्धिके लिये सभी उपलब्ध साधनोंको काममें लाता है।

(१) फजूल खर्ची—

(क) माँगपर दृष्टि न रखकर उत्पादन—लाभकी धुनमें वह माँगपर ध्यान रखे बिना अपने मालकी पैदावार बढ़ाता जाता है। इसका परिणाम अनेक तरहसे घातक होता है। उदाहरणके लिए वह इतना कागज बनाता जाता है जितनी उसकी मशीनें बना सकती हैं। इस कागजकी खपतके लिये वह जयज तथा नाजायज सभी तरीकोंसे बाजारमें काम लेता है। मूल्यका दर गिराकर वह अपने छोटे प्रतिद्वन्द्वियोंका गला घोंट देता है और इस तरह बाजारपर कब्जा कर लेता है। आरम्भमें वह घाटेकी परवा नहीं करता क्योंकि उसे विश्वास है कि बाजारपर

आधिपत्य जमाकर वह उसे पूरा कर लेगा। इस तरहका उत्पादन जिसका उद्देश्य प्रतिस्पर्धीका समूल नाश करना है, बर्बादी है। लेकिन अधिकाधिक नफा कमानेके उद्देश्यसे यही किया जाता है। इससे उत्पादनमें किसी तरहकी बढ़ती नहीं होती क्योंकि प्रतिद्वन्दियोंका इस तरह अन्त करके वह मालका मूल्य बढ़ानेके लिये उत्पादन घटाने लगता है। इतना ही नहीं, एक तरफ तो दुनियामें लाखों प्राणी अभावके कारण मर रहे हैं और दूसरी ओर मूल्य बढ़ानेके लिये पूँजीपति लाखों टन गेहूँ, कपास, चाय और काफीमें आग लगा देता है और न जाने कितना फल वगैरह समुद्रके अतल तलमें ढकेल देता है। एक तरफ वह तैयार मालका इस तरह नाश भी करता है और अन्य उपायोंसे उत्पादनको रोकता है। मौजूदा माँगको पूरा करनेकी तरफ उसका जरा भी ध्यान नहीं रहता। जब मालकी धूम मची रहती है तब वह तेजीसे उत्पादन करता है। इससे बाजार मालसे पट जाते हैं। माँगसे पैदावार कई गुना बढ़ जाती है। परिणाम होता है कारखानोंका बन्द होना, मजूरोंकी बेकारी और सर्वनाश। इस तरहकी घटनाएँ प्रायः हुआ करती हैं क्योंकि उत्पादनका काम किसी व्यवस्थित ढंगपर नहीं किया जाता। एक बार बेशुमार उत्पादन करनेपर दूसरी बार उसे कारोबार बन्दकर हाथपर हाथ रखकर बैठना पड़ता है। लेकिन उसे इसकी परवा नहीं है क्योंकि व्यक्तिगत हानि उसे होती नहीं और उसकी इस हरकतसे समस्त राष्ट्रको जिन संकटों-का सामना करना पड़ता है उसकी वह परवा नहीं करता।

(ख) अनावश्यक उत्पादन—पूँजीपतिका एकमात्र उद्देश्य नफा

कमाना रहता है। इसके लिये वह अनावश्यक आकर्षक वस्तुएँ पैदा करता है और विज्ञापनद्वारा उनकी खपतके लिये बाजार तैयार कर लेता है। उत्पादनका वास्तविक उद्देश्य मौजूदा माँग-को पूरा करना होना चाहिये। मुझे चावलकी आवश्यकता है। पैदा करनेवाला भी वही पैदा करता है। हमें चावल मिल जाता है। किस्सा यहीं खतम हो गया। जबर्दस्ती बेचनेका प्रश्न नहीं उठता। लेकिन जब ऐसी चीजें उत्पन्न की जाती हैं जिनकी आवश्यकता नहीं है तब उनके उत्पादनका एकमात्र उद्देश्य धन कमाना हो जाता है। ऐसी चीजोंकी माँग पैदा करनेके लिये इस तरहका प्रचार किया जाता है कि हम खामखाह उनके फन्देमें फँसकर शिकार हो जाते हैं। पैदा करनेवाला तो कमा लेता है लेकिन हमारा धन बर्बाद हो जाता है। इससे इस तरहकी वस्तुओंके उत्पादनका सारा अध्यवसाय बर्बादी है।

जहाँ उत्पादनका एकमात्र उद्देश्य नफा कमाना है वहाँ उत्पादक उन्हीं लोगोंको दृष्टिमें रखकर उत्पादन करता है जिनके पास खरीदनेका साधन है और जो उन वस्तुओंको खरीद सकते हैं। वह उन गरीबोंकी आवश्यकताकी पूर्तिपर जरा भी ध्यान नहीं देता जिसके पास पूँजी नहीं है। इस तरह उत्पादनका उद्देश्य हो जाता है विलासिताका सामान पैदा करना।

दूसरे देशोंमें वह प्रचारकोंद्वारा अपने मालकी खपतके लिए क्षेत्र तैयार करता है। प्रचारक मालका प्रचार न कर सभ्यताका प्रचार करते हैं। असभ्य देशोंमें वह तौलिया, जूता, मोजा, कालर, नेकटाई, कोट, छुरी, तश्तरी और प्लेटका प्रयोग सिखाता है। गर्म देशोंके लिए इन वस्तुओंकी कभी

जरूरत नहीं पड़ सकती और इनके बिना इन देशोंका काम चल सकता है। लेकिन सभ्य बननेके लिए यदि वह 'असभ्य' इन चीजोंका प्रयोग नहीं सीखता तो ये कारखानेदार अपने मालकी खपत किस तरह कर सकेंगे? इसलिए कहा यह जाता है प्रचारद्वारा असभ्य जातियोंको सभ्य बनाकर उनकी रहन-सहनको सुसंस्कृत बनानेका यत्न किया जा रहा है। इन गरीब असभ्योंके लिये जो माल तैयार किया जाता है वह देखनेमें लुभावना और आकर्षक होता है, दाम भी कम ही रहता है पर साथ ही वे टिकाऊ नहीं होते। इससे मालकी अधिकाधिक खपत होती है और कारोबार खूब चल निकलता है।

इस प्रकार उत्पादनका उद्देश्य हो जाता है आकर्षक पर साथ ही बेमतलबका माल तैयार करना और जनसाधारण इस तरहकी चीजोंको खरीदनेके लिये पागल बना दिया जाता है।

(ग) प्राकृतिक साधनोंकी बर्बादी—अधिकाधिक नफा कमानेकी धुनमें वह देशके भविष्यकी परवा नहीं करता और उसके प्राकृतिक साधनोंका हर तरहसे उपयोग करता है। उसे इस बातकी चिन्ता नहीं रहती कि इन साधनोंकी भी सीमा है और इनकी समाप्तिपर देशकी क्या दशा होगी।

निजी लाभके अलावा पूँजीपतिका ध्यान अन्य किसी बातपर नहीं रहता। इसलिये व्यक्तिगत लाभके लिए जो उत्पादन किया जाता है उसे न तो आर्थिक दृष्टिसे उचित कहा जा सकता है और न योग्यता तथा निष्पत्तिका ही वहाँ प्रदर्शन होता है, जैसा कि ऊपर सैद्धान्तिक रूपसे बतलाया गया है। व्यावहारिक जगत्‌में सारी बातें उसके एकदम विपरीत होती

हैं। इसमें बर्बादी बहुत ज्यादा होती है और पारस्परिक प्रति-स्पर्द्धाके कारण अनेक व्यक्ति एक ही वस्तुको पैदा करनेमें लग जाते हैं इससे समय और श्रमकी भी बहुत ज्यादा बर्बादी होती है क्योंकि जितने श्रम और समयमें दूसरा माल तैयार किया जाता है, उसका प्रयोग एक ही तरहके माल तैयार करनेमें होता है।

२—घूसखोरीका प्रचार

ऊपर कहा जा चुका है कि अपने उद्देश्यकी सिद्धिके लिए पूँजीपति जायज, नाजायज सभी उपायोंसे काम लेता है। अपने लाभके लिए वह हर तरहके उपायोंसे काम लेनेमें जरा भी नहीं हिचकता। सद्भावना और सद्विचारसे उसे कोई मतलब नहीं क्योंकि व्यवसाय व्यवसाय ही है। व्यवसाय और सदा-चारसे कोई खास सम्बन्ध नहीं। इसलिए घूसखोरीको वह मामूली बात समझता है। धोखा, विश्वासघात, घूसखोरीका प्रयोग वह धड़ल्लेसे करता है। अपना मतलब साधनेके लिए वह सरकारी अफसरोंको घूस देकर अनेक तरहकी सुविधाएँ प्राप्त करता है। आवश्यक धन खर्च कर वह अपने आदमियोंको ऊँचे सरकारी पदोंपर पहुँचाता है जो उसके लाभपर सदा ध्यान रखते हैं।

३—प्रचारके साधनोंपर कब्जा

जनसाधारणमें अपने मतलबकी बातोंका प्रचार करनेके लिए वह अखबारों, शिक्षण संस्थाओं, विश्वविद्यालयों, रेडियो,

स्टेशनों तथा धार्मिक संस्थाओंतकपर अधिकार जमा लेता है और इनके द्वारा अपना प्रचार करता है और दूसरे प्रकारका प्रचार नहीं होने देता। पूँजीवादी उत्पादन व्यवस्थामें अधिकांश काम करनेवालोंको बुद्धिके विकासका अवसर नहीं मिलता क्योंकि सारा काम रोटीनकी तरह चलता रहता है जिसमें बुद्धिकी जरूरत नहीं पड़ती। इसलिए पूँजीवादी प्रथामें मजूरोंकी बुद्धि कुंठित हो जाती है और वह पूँजीपतियोंके प्रचारोंका शिकार बन जाता है। कारखानेके मजूर ही नहीं, बल्कि अन्य क्षेत्रोंमें काम करनेवाले भी पूँजीपतिके गुलाम बन जाते हैं क्योंकि अपने रुपयोंकी बदौलत पूँजीपति उन्हें खरीद लेता है और उसकी मर्जीके खिलाफ़ वे कुछ नहीं कर सकते। किसी तरहकी दलबन्दी हर जगह पाप समझा जाता है लेकिन बुद्धिकी इस प्रकार दलबन्दी सबसे बड़ा पाप है क्योंकि यहाँ मनुष्य अपनी सबसे मूल्यवान् वस्तु खो देता है। किसी भी राष्ट्रके लिए यह सबसे बड़ा अभिशाप है।

(४) राष्ट्रोंपर आर्थिक नियन्त्रण—ऊपर लिखा जा चुका है कि पूँजीपति कर्ज देकर अतुल धन कमाता है। बड़े राष्ट्रों और उसके शासकोंको रुपया कर्ज देता है और उनसे अपनी इच्छाकी पूर्ति करवाता है और वैसा न करनेपर उन्हें धमकी देता है कि वह अपना रुपया वापस लेकर उनकी हालत खराब कर देगा। इस तरह वह अपने देशपर ही नहीं बल्कि उन विदेशी राष्ट्रोंपर भी अपनी प्रभुता जमा लेता है जो उससे कर्ज लेकर उसके फन्देमें फँस जाते हैं। यह एक नये तरहका साम्राज्य है जिसपर रुपयेके बलपर वैसा ही जबर्दस्त अधिकार

रखा जाता है जितना अस्त्र-शस्त्रके बलपर और इस तरह समूचे देशको गुलाम बनाकर उसे अपने अधीन कर लिया जाता है और देशके सुचारु शासनकी लेशमात्र भी चिन्ता न कर सदा उसे लूटा ही जाता है। वर्तमान युद्धके परिणाम-स्वरूप यही प्रकट हो रहा है कि संसारके सारे देश अमेरिकाके हाथों बिक जायँगे।

(५) अस्त्र-शस्त्रपर अधिक व्यय—पूँजीपतियोंके धन कमानेके अनेक रास्ते हैं। वह अस्त्र-शस्त्र तैयार कराता है, जहाज बनवाता है, हवाई जहाजका निर्माण कराता है। अपने इन व्यवसायोंको चालू रखनेके लिए वह सदा इस प्रयत्नमें रहता है कि निरस्त्रीकरणकी समस्या कभी हल न होने पावे और राष्ट्रोंके झगड़े समझौतेसे न निपट सकें। बल्कि वह तो सदा इसी धुनमें रहता है कि अनवरत लड़ाइयाँ होती रहें जिससे नर-संहारके उसके साधनोंकी खपत होती रहे और वह मनमाना धन कमाता रहे। इसके लिए वह अपने तथा शत्रुके देशमें देशभक्तिका नारा बुलन्द करता रहता है ताकि इन राष्ट्रोंका अधिकाधिक धन, अस्त्र-शस्त्रों तथा जहाजोंके खरीद और निर्माणमें व्यय होता रहे। इस तरह ये पूँजीपति अपनी जेब सोनेसे भरते हैं और इस तरह उनकी जेब भरनेके लिए देशके लाखों नवयुवकोंकी जानें जाती हैं और देशकी बर्बादी होती है। इस तरह सर्वनाशी शस्त्रोंको बनानेमें देशकी सम्पत्ति और वैज्ञानिक ज्ञानका प्रयोग होता है। बड़े पैमानेपर उत्पादनका यही अन्तिम परिणाम होता है। इससे साफ है कि बड़े पैमानेपर उत्पादनसे जनताको हानिके सिवा लाभ नहीं हो सकता।

(६) अपनी रक्षाके लिए सार्वजनिक धनका प्रयोग—विदेशी बाजारोंमें व्यवसाय बढ़ जानेके कारण उसे उस समुद्री मार्गकी रक्षा आवश्यक हो जाती है जिधरसे उसके जहाज जाते हैं। इसके लिए वह सुदृढ़ समुद्री बेड़ेपर जोर देता है और विदेशोंमें अपने माल तथा सम्पत्तिकी रक्षाके लिए सुदृढ़ सेना और हवाई सेना कायम रखनेकी आवश्यकता बतलाता है। इतनी बड़ी सेनाओंका एकमात्र उद्देश्य पूँजीपतियोंके व्यवसायोंकी रक्षामात्र रहता है लेकिन उनका सारा व्यय सार्वजनिक कोषसे होता है। व्यावसायिक स्वार्थोंकी रक्षाके लिए प्रत्येक सरकारको इतनी उदारता दिखलानी पड़ती है। इस तरह पूँजीपति इस वृहत् सेनाकी सहायतासे विदेशी व्यापारसे ही लाभ नहीं उठाता बल्कि इनके लिए हर तरहके अस्त्र-शस्त्रका निर्माण कर वह अतुल धन-राशि बटोरता है। इस तरह वह दोहरा नफा कमाता है। सार्वजनिक व्ययसे वह अपने व्यवसायकी रक्षा करता है और अपनी ही रक्षाके लिए आवश्यक अस्त्र-शस्त्र मुहय्या कर धन कमाता है।

(७) राष्ट्रोंमें युद्ध कराता है—ऊपर लिखा गया है कि पूँजी-पतिको अपने व्यवसायके क्षेत्रके विस्तारके लिए तथा अपनी आव-श्यकता—कच्चा माल, तैयार मालके लिए बाजार, सस्ते मजूर तथा पूँजी लगानेके लिए सुरक्षित बाजार—की पूर्तिके लिए उन राष्ट्रोंके साथ संघर्ष करना पड़ता है जिन्होंने उन विदेशी बाजारोंपर अपना सिक्का जमा लिया है। विदेशके सभी पिछड़े बाजारोंपर किसी-न-किसी राष्ट्रका अधिकार हो गया है। अपने व्यवसायके विस्तारके लिए यह स्थिति उसके लिए

वाञ्छनीय नहीं है। पूँजीवादी व्यवस्थाका ज्यों-ज्यों विस्तार होता जायगा त्यों-त्यों संसारपर अधिकार करनेका लोभ बढ़ता जायगा अर्थात् स्थल, जल तथा हवाई मार्गपर अधिकार करना आवश्यक हो जायगा। पूँजीवादी व्यवस्था इतनी ज्यादा उन्नति कर गयी है कि वह अपने ही देशोंमें सीमित नहीं रह सकती और यदि उसे इसी तरह फलने-फूलने दिया गया तो यह आवश्यक हो जायगा कि प्रतिद्वन्द्वी व्यवसायियोंको हटाकर संसारके व्यवसायपर एकाधिपत्य कायम किया जाय। इसका फल विश्व-व्यापी युद्ध होगा। यदि युद्धोंके इतिहासका अध्ययन किया जाय तो प्रकट होगा कि लोलुप व्यवसायी अपने व्यवसायको कायम रखने तथा नये बाजारपर अधिकार जमानेके लिए ही युद्धको प्रोत्साहन देते हैं।

बड़े पैमानेपर उत्पादनका फल यह होता है कि आवश्यकता-से अधिक माल पैदा हो जाता है। अगर इस मालकी खपत विदेशी बाजारोंमें नहीं होती तो कारखानोंको जारी रखनेका एक-मात्र उपाय युद्ध है। क्योंकि युद्ध ही ऐसा गर्त है जिसमें असंख्य माल ढकेला जा सकता है। यदि युद्ध नहीं जगाया जा सका तो पूँजीवादी देशोंके कारखानोंका उत्पादन विदेशी बाजारके अभावमें घट जायगा, पूँजीपतियोंका नफा कम हो जायगा और मजूरोंमें बेकारी बढ़ जायगी अथवा कारखाने एकदम बन्द हो जायँगे और हजारों मजूर बेकार हो जायँगे। पूँजीपतियोंके जो कारखाने अस्त्र-शस्त्रके सामान तैयार करनेमें लगे हैं उनकी सफलता तो एकमात्र युद्धपर ही निर्भर करती है। इसलिए ये पूँजीपति सदा युद्धको भड़काते रहते हैं।

इसका परिणाम यह होता है कि पूँजीवादी सभ्यतामें युद्धने नियमित व्यवस्थाका रूप धारण कर लिया है। एक विश्वव्यापी युद्धकी समाप्तिके साथ ही दूसरे खूँखार और संगीन विश्वव्यापी युद्धका बीजारोपण हो जाता है और जबतक पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्थाके अन्तर्गत युद्धकी इस भावनाका बीज कायम रहेगा तबतक संसारमें शान्ति की स्थापना नहीं हो सकेगी। इससे यह साफ प्रकट हो जाता है कि आधुनिक युद्धका एकमात्र कारण पूँजीवादी उत्पादन-व्यवस्था है। इन युद्धोंको चालू रखनेके लिए प्रत्येक राष्ट्रको करोड़ों रुपया प्रति-दिन खर्च करना पड़ता है, असंख्य जान-मालकी हानि शत्रुओं-द्वारा की जाती है। युद्धोंमें यह असंख्य व्यय, जल, थल तथा हवाई सेनाको सदा कायम रखनेका खर्च, युद्धमें मरे तथा आहत हुए व्यक्तियोंके पेंशनकी रकम, युद्धऋणपर सूद, इन सबका हिसाब लगाया जाय तो पता लगेगा कि पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्थामें देशको कितनी ज्यादा क्षति उठानी पड़ती है। ऊपर खर्चके जिन मदोंका हवाला दिया गया है उनका हिसाब ले लेनेके बाद यदि उसमें वह रकम जोड़ दी जाय—जिसे कल कारखानदारोंको मिलोंमें काम करनेवाले मजूरोंकी सुख-सुवि-धाके लिए करना चाहिये—जैसे, रहनेको खुलासा जगह, खेलनेके मैदान, सफाई, स्वास्थ्य खतरा बीमा बीमारी, प्रसवकी छुट्टी, बुढ़ौतीके लिए पेंशन, बेकारीकी सहायता—तो प्रकट होगा कि बड़े पैमानेपर उत्पादन संसारका सबसे बड़ा खर्चीला और महँगा कारोबार है। यह देखनेमें इसलिए सस्ता प्रकट होता है क्योंकि इसमें होनेवाले व्ययका बहुत बड़ा अंश नाजायज

तरीकेपर सार्वजनिक कोषसे दिया जाता है। इस दृष्टिसे देखने-पर आगे जो लोग बड़े-बड़े उद्योगपति होनेका दम्भ भर रहे हैं उन्हें भावी सन्तति सबसे बड़ा मूर्ख समझेगी।

जब हम यह देखते हैं कि जनसाधारणके युद्धका जीवनपर क्या प्रभाव पड़ता है तब हमें साफ प्रकट होता है कि जनताको अपनी अनेक आवश्यकताओंको दबाकर रखना पड़ता है। युद्धके जमानेमें तो इन आवश्यकताओंको और भी ज्यादा दबाना पड़ता है। भोजनकी समस्या अत्यन्त विकट हो जाती है। युद्धमें रत राष्ट्र इस तरह नाकाबन्दी कर देते हैं कि लोगोंको अन्न मिलना कठिन हो जाता है। भोजनके आवश्यक पदार्थ भी उचित मात्रामें नहीं मिलते और राशनके अनुसार जो कुछ मिलता है उतनेहीसे सन्तोष करना पड़ता है। अधीनस्थ देशों-की क्या हालत हो जाती है इसका सबसे ज्वलन्त नमूना भारत-वर्ष है। युद्धसे भारतका कोई सम्बन्ध नहीं रहा लेकिन ब्रिटेनके अधीन होनेके कारण अन्नके अभावमें केवल बंगालमें १९४३ में चालीस लाखसे ज्यादा प्राणी मर गये और युद्धके बाद भी १९४६ में भयकंर अकाल समस्त भारतको ग्रसनेकी तैयारीमें है। इसके अलावा लोगोंसे जबर्दस्ती काम कराया जाता है, चाहे वे इसे पसन्द करें या न करें।

सबसे बुरी बात यह होती है कि मनुष्यकी पाशविक प्रवृत्तिको बेरोकटोक नंगा होकर नाचने दिया जाता है। बेईमानी, क्रूरता, स्वार्थ, जातिद्वेष और परस्पर अविश्वासकी प्रधानता हो जाती है, मनुष्य मनुष्यको खाने दौड़ता है और देशभक्तिके नामपर पलक भँजते सैकड़ों गाँवों और उनमें रहनेवाले निरीह

नर-नारियों तथा अबोध बच्चोंका संहार कर डालता है। इस तरहकी वर्बरताका असर अस्थायी नहीं होता। लोगोंके हृदयमें इससे जो जख्म होता है उसमें नासूर पैदा हो जाता है और जल्दी भरने या सूखनेका नाम नहीं लेता। पूँजीवादी व्यावसायिक प्रथाके अन्दर मानवने जिस शैतानियतका रूप धारण किया है उससे प्रचीन युगका जंगली कहीं ज्यादा सभ्य था। किस आधारपर आजका मानव यह दावा पेश कर सकता है कि बड़े पैमानेपर उत्पादनको केन्द्रीभूत करनेसे परस्पर सम्बन्ध तथा दया या क्षमाके मापदण्डमें वृद्धि हुई है। जहाँतक इस पहलूका सम्बन्ध है, यही कहना पड़ता है कि इसने हमें पशुसे भी नीचे ढकेलकर गिरा दिया है।

इस तरह हमने प्रत्यक्ष देखा कि जहाँतक मानवताका सम्बन्ध है वर्तमान उद्योगीकरण पूँजीपति और मजूर दोनोंको नीचे गिराता है और समाजमें जघन्य स्वार्थ, विद्वेष, घृणाका बीज बोता है जिसका अन्तिम परिणाम संघर्ष, युद्ध और संहार है।

२—उपयोग

वर्तमान पूँजीवादी व्यवस्थामें अनेक दोषोंके होते हुए भी एक लाभ तो प्रत्यक्ष दिखाई देता है कि उपभोक्ताओंको भोगकी अनेक वस्तुएँ उपलब्ध होती रहती हैं। अब हम यह देखना चाहते हैं कि यह दलील कहाँतक सही है।

आरम्भमें ही हम यह कह देना चाहते हैं कि उपभोगकी अनेक वस्तुओंकी उपलब्धि पूँजीवादी प्रथाकी बरकत नहीं,

वल्कि वड़े पैमानेपर उद्योगीकरणकी, जो साम्यवाद तथा समाजवादमें भी यह सम्भव और साध्य है।

(१) उर्वर शक्तिके प्रयोगका अभाव—प्रत्येक मनुष्यका विकाश उसकी अन्तर्हित योग्यताके प्रयोगपर निर्भर करता है। अपनी योग्यताका हम जितना प्रयोग करेंगे उतना ही ज्यादा हमारा विकास होगा। प्रकृतिका नियम है कि शरीरके जिस अवयवका ठीक-ठीक प्रयोग नहीं होता रहेगा वह सूखकर मर जायगा। लेकिन पूँजीवादी व्यवस्थाके अन्दर व्यक्तिगत बुद्धिके प्रयोगकी गुंजायश प्रायः नहींके समान है क्योंकि उसे तो अधिक-से-अधिक मात्रामें कायदेके अनुसार तैयार मालसे ही अपनी पसन्दको सन्तुष्ट और तृप्त करना है। उसे तो उन्हीं सामग्रियोंमेंसे चुनना है जो तैयार होकर सामने आती हैं।

(क) प्रस्तुत भोजन—वाजारमें भोजनके अनेक तरहके तैयार सामान डब्बोंमें भरकर आते हैं। वड़े पैमानेपर इनका उत्पादन होता है। पश्चिमी देशोंमें यदि यही सामान कच्चा माल खरीदकर पकाया जाने लगे तो वहुत महँगा पड़ता है। यह निश्चित है कि इन सड़े गले सामानोंमें पोषणकी मात्रा वहुत कम रहती है। साथ ही अपनी पसन्दके दायरेको भी फैलाया नहीं जा सकता। वाजारमें तैयार जो सामान मिलता है उसीसे हमें सन्तोष करना पड़ता है अर्थात् खाने-पीनेके मामलेमें भी हमें अपनी पसन्दको पूरा करनेकी गुञ्जायश नहीं है। हमें दूसरोंपर निर्भर रहना पड़ता है। चाहे पोषणकी मात्रा उनमें कितनी ही कम क्यों न हो, उनका प्रयोग हानिकर ही क्यों न सिद्ध हो, लेकिन उनका वाहरी रूप इतना ज्यादा आकर्षक होता है

कि मनुष्य उनका शिकार हो ही जाता है। चावलकी चिकनाहट, आटेकी बारीकी, दालकी सफाई, दूधका सत्त, चीनीकी सफेदी, सभी तो आकर्षक हैं। लेकिन इन पदार्थोंकी उपयोगिता किस हद्तक नष्ट हो जाती है इसकी तरफ उन लोगोंका जरा भी ध्यान नहीं रहता जो इनमें चमक-दमक लाकर पैसा कमाना चाहते हैं। खरीदार इनकी बाहरी तड़क-भड़कपर मुग्ध हो जाता है और इनका प्रयोग कर अपना धन और शरीर दोनों गँवाता है।

(ख) तैयार वस्त्र—कपड़ोंकी भी यही हालत है। व्यक्तिगत उद्योगोंको नष्टकर बड़े पैमानेपर उत्पादनकी व्यवस्थाका चलन हो रहा है। हजारोंकी संख्यामें विविध तरहके तैयार मालसे बाजार पाट दिये जाते हैं। मशीनोंद्वारा ही काटने और सीने-पिरोनेका सारा काम होनेके कारण ये सस्ता पड़ते हैं। इस तरह कपड़े यदि आप अपने इच्छानुसार बाजारमें बनवाना चाहें तो महँगे पड़ेंगे। इसलिए आपको विवश होकर तैयार मालके सामने ही झुकना पड़ता है और अपनी पसन्दको उन्हींके अनु-कूल बनाना पड़ता है। अपनी पसन्द और रुचिको व्यक्त करनेकी स्वतन्त्रताकी गुंजायश नहीं है। जो बाजारमें तैयार मिलता है उसे ही आपको स्वीकार करना पड़ता है।

(ग) तैयार मकान—यही बात मकानोंपर भी लागू है। अमेरिकामें यदि किसीको घर बनवाना होता है तो उसे हमारे देशकी तरह मजूर रखकर अपने इच्छानुसार मकानके प्रत्येक भागको नहीं बनवाना पड़ता। वह कारीगरको आदेश दे देता है। कारीगर बड़े-बड़े कारखानोंमे तैयार हिस्सोंको

खरीदकर बातकी बातमें घर खड़ा कर देता है। ये तैयार माल प्रायः एक ही नमूने और आकारके होते हैं। इसलिए व्यक्ति-विशेषको मकान बनवानेमें भी अपनी रुचि और इच्छाको व्यक्त करनेकी गुञ्जायश नहीं है।

इस तरह हम अपनी घरेलू इच्छाकी पूर्तिके लिए भी बड़े-बड़े उत्पादकोंकी रुचिका ही अनुसरण करते हैं, अपनी व्यक्तिगत रुचिको काममें लानेका अवसर नहीं मिलता। उपभोग यंत्रवत् चलने लगता है और विचार-शक्तिका लोप हो जाता है।

२—उपभोक्ताको आकृष्ट करनेके तरीके

इन वस्तुओंकी ओर उपभोक्ताओंको आकृष्ट करनेके लिए उत्पादक प्रायः दो उपायोंसे काम लेता है—(१) विज्ञापन (२) फैशन।

(क) विज्ञापन—कारोबारी अपने मालकी खपतके लिए प्रत्येक सम्भव उपायसे काम लेता है। रेडियो, पत्र-पत्रिका, इश्तेहार, पोस्टर, साइनबोर्ड, सिनेमा, नोटिस आदि सभी साधनोंसे जनताको मालकी तरफ आकृष्ट करनेका यत्न किया जाता है। हर पहलूसे खरीदारके दृष्टिकोणका अध्ययन किया जाता है। माल तैयार करनेसे लेकर पैकिंगतक इस आकर्षक ढङ्गसे किया जाता है कि उसके आकर्षणसे अपनेको बचाना कठिन हो जाता है। लोग जितनी चीजें खरीदते हैं, सभी आवश्यक नहीं होतीं, कुछ तो आकर्षक विज्ञापनके कारण खरीदी जाती हैं और कुछ अपने मोहक रंग-रूपके कारण।

(ख) फैशन—चीजोंको खरीदनेके लिये नये नये फैशन

चलाये जाते हैं। मनुष्यकी प्रकृति है कि वह अपने अड़ोस-

पड़ोसके लोगोंकी दृष्टिमें ऊँचा बनना चाहता है। इसलिए फैशनकी दृष्टिसे वह अनेक चीजें खरीदता है। नये तर्जके जूते, नये तर्जके कपड़े, नये तर्जके गहने, नये तर्जके टेबुल और कुर्सियाँ, नये तर्जके बर्तन बाजारोंमें रोज रोज देखनेमें आते हैं। नित्य बदलते हुए फैशनोंका फल यह होता है कि अच्छी और इस्तेमालके योग्य भी नयी चीजें हटा दी जाती हैं और उनकी जगहपर नये तर्जकी चीजें खरीदी जाती हैं। आज चम्मच एक शकलका है और कल दूसरे शकलका चलने लगता है। यदि आपको समाजमें रहना और सभ्यताकी घुड़दौड़में शामिल होना है तो जेब खाली कीजिये और इस नये तर्जके चम्मचको खरीदकर लाइये। यही बात सभी वस्तुओंके लिये लागू है।

इसे सिवा फजूल खर्चीके और क्या कह सकते हैं। लेकिन जबतक लोग अपनी जेब खाली करके पूँजीपतियोंकी जेब भरते रहेंगें, तबतक इसका प्रचार बढ़ता रहेगा। एक ही चम्मच-से सब कुछ खाया और पिया जा सकता है तब प्रत्येक वस्तुके खाने पीनेके लिये भिन्न भिन्न तरहके चम्मच बनानेमें समय, धन और वस्तुका क्षय क्यों किया जाता है? इस प्रयासमें केवल राष्ट्रीय सम्पत्तिका ह्रास या विनाश ही नहीं होता बल्कि गृहिणीका काम बहुत ज्यादा बढ़ जाता है। इतने ज्यादा बर्तनोंको साफ कर रखना तथा सम्हालना पड़ता है। लेकिन फैशनका यही तकाजा है कि प्रत्येक वस्तुके खाने पीनेके लिये अलग अलग चम्मच होना चाहिये। यदि यह न हो तो व्यवसायकी बढ़ती कैसे हो? इससे यह नहीं समझना चाहिये कि केवल चम्मच-की ही भरमार होती है बल्कि इसके साथ ही भोजनके साथी

बर्तनों, कपड़ों तथा अन्य सामग्रियोंमें भी वृद्धि होती है। जो लोग इसके चक्करमें नहीं पड़ते वे तो इस बातको भली भाँति समझ लेते हैं कि वह पूँजीपतियोंका मायाजाल है, लेकिन जहाँ कोई एक बार भी उस फन्देमें फँसा कि उसका छुटकारा नहीं हो सकता।

३--केन्द्रित बिक्री

(क) बड़ी दूकानें—अप्राकृतिक ढंगसे आवश्यकता पैदा करनेके बाद उनकी पूर्तिके लिए बड़ी बड़ी दूकानें खोली जाती हैं जिनमें सभी उपलब्ध सामग्रियोंका संग्रह रहता है। इन दूकानोंको छोटा बाजार ही समझना चाहिये। इस तरहकी दूकान और बाजारमें केवल मात्र इतना ही अन्तर रहता है कि बाजारमें अनेक दूकानदार रहते हैं और यह दूकान किसी एक व्यापारीकी होती है जो इतने दूकानदारोंका नफा हड़पकर कम्पनीके हिस्सेदारोंकी जेब भरता है।

(ख) दूकनोंका ताँता—इस तरहकी बड़ी दूकानोंके अलावा एक नये तरहकी दूकानदारी होने लगी है जिसे दूका-नोंका ताँता कह सकते हैं। यहाँ केन्द्रीकरण एक कदम और बढ़ा हुआ है। इसका उदाहरण न्यूयार्ककी वूलवर्थस् कम्पनी है। इस कम्पनीकी हजारों शाखाएँ भिन्न भिन्न शहरों या देशोंमें हैं। एक ही शहरमें भी अनेक शाखाएँ हैं। विस्तृत पैमानेपर माल तैयार किया जाता है और इन दूकानोंमें बिक्रीके लिए भेज दिया जाता है। इस उपायसे कुछ चुने हुए लोगोंके हाथमें केवल उत्पादन ही नहीं आ जाता बल्कि लाभका खास हिस्सा

इन्हें ही मिलता है। यह कहना कठिन है कि इस तरहके एकाधिपत्यका कहाँ अन्त होगा लेकिन प्रवृत्ति यही हो रही है कि छोटे छोटे कारखानदारों और उत्पादकोंका अन्त कर सारा लाभ हड़प लिया जाय।

४—जनसाधारणकी गुलामी

इस तरहके साधनोंका उपयोग कर पूँजीपति अपने भिन्न-भिन्न मालोंकी खूब खपत करता है। जनसाधारण आकर्षणके प्रलोभनमें फँस जाते हैं और अपनी औकातके ऊपर सामान खरीदने लगते हैं। उनकी रहन-सहनका मापदण्ड बढ़ जाता है, विलासिता आवश्यकताका स्थान ग्रहण करती है और उसकी पूर्तिके लिए वह जी-तोड़ परिश्रम आरम्भ करता है। इस उपायसे भी पूँजीपतियोंको दोहरा नफा होने लगता है। अधिक परिश्रम और अधिक समयतक काम करनेसे अधिक माल तैयार होता है और मजूर जो अधिक मजूरी इस तरह कमाता है उससे पूँजीपतिका माल खरीदता है। इसके साथ ही विलासिताका गुलाम बन जानेके बाद वह जल्दी नौकरी छोड़नेके लिए तैयार नहीं हो सकता और न हड़ताल आदिके चक्करमें पड़कर अपने अधिकारोंके लिए लड़नेका उसे साहस होता है। आवश्यकताओंके बढ़ जानेके कारण उसकी स्वतन्त्र प्रवृत्तिका अपहरण हो जाता है और वह अपने मालिकका गुलाम बन जाता है। यही कारण है कि भारत-सरकारके मोटे वेतन-भोगी भारतीय कर्मचारी आजादीकी लड़ाईमें देशका कभी साथ नहीं देते। उनकी रहन-सहनका मापदण्ड बहुत ऊँचा हो गया है और यदि प्रत्येक मास

सरकारी खजानेसे चाँदीके सिक्कोंकी गठरी उनके घर न आया करे तो उनके परिवारकी क्या हालत होगी ? इसलिए जब रहन-सहनके मापदण्डको ऊँचा करनेकी पुकार स्वार्थी उद्योगपतियों अथवा उद्योग-प्रधान देशोंकी ओरसे हो तो हमारे कान खड़े हो जाने चाहिये। सादगी, स्वतन्त्रता और आत्म-सम्मानकी जिन्दगीका कोई मुकाबला नहीं कर सकता। मनुष्यको केवल अपनी अवस्थासे सन्तोष होना चाहिये। जिस व्यक्तिकी आवश्यकताएँ सीमित हैं और जो उन्हें अपने पुरुषार्थसे पूरा कर सकता है उसका मस्तक सदा ऊँचा रहेगा। वह न तो किसीका गुलाम बन सकता है और न किसीके सामने अपना सिर नीचा कर सकता है। लेकिन जिसने अपनी रहन-सहनको बहुत ऊँचा कर लिया है उसमें इस तरहकी सामर्थ्य नहीं है। अपनी विलासिताको वह ज्यों-ज्यों बढ़ाता जायगा त्यों-त्यों उसकी विचार-स्वतन्त्रता और कार्य-स्वतन्त्रताका ह्रास होता जायगा। सामानों और वस्तुओंके ढेरसे लाभ ही क्या यदि उन्हें बटोरनेमें मनुष्य अपने शरीर और आत्माको बन्धनमें डाल देता है। पूँजीवादी उद्योगी देशोंके निवासियोंकी रहन-सहन बहुत ऊँची अवश्य है लेकिन उसे कायम रखनेके लिए वे अपनी आजादीको अधिकाधिक पूँजीपतियोंके हाथ बेचते रहते हैं।

५—विनोदकी अधोगति

जिस तरह विस्तृत उद्योगोंमें उत्पादन जनसाधारणके हाथसे निकल जाता है और वे उपभोगके लिए उद्योगपतियोंके आश्रित हो जाते हैं उसी तरह पूँजीवादी व्यवस्थामें उनके विनोदके साधन

भी दूसरोंके आश्रित हो जाते हैं और व्यक्ति-विशेषकी आकांक्षा-की वस्तु वे नहीं रह जाते। कहनेके लिए तो कह दिया जाता है कि उत्पादनको केन्द्रित करनेसे मजूरोंको पर्याप्त समय मिल जायगा और यदि उनका काम इस ढर्रेका हुआ कि उन्हें अपने मस्तिष्कके विकासका वहाँ अवसर नहीं मिला तो वह अपने फालतू समयमें यदि चाहे तो अध्ययन आदिसे अपना विकास कर सकता है। लेकिन यह "यदि" ही सारी खुराफातोंकी जड़ है। जिस व्यक्तिको अपने पेशेमें पर्याप्त शारीरिक और मानसिक खूराक नहीं मिल सकती वह व्यक्ति अपने फालतू समयको साहित्य और कलाके अध्ययनमें कभी भी नहीं लगा सकता। शक्तिका विकास कामसे ही होता है। यदि वह ऐसे काममें लगा है जो यान्त्रिक है और वहाँ उसे मस्तिष्कके विकासका साधन नहीं मिलता तो यह असम्भव है कि वह घरपर उनके विकासके लिए श्रम उठावेगा। इस तरहके लोगोंका फालतू समय बड़े-बड़े शहरोंकी सड़कोंपर चक्कर लगाने, दूकानोंकी सजावट देखने, सैर-सपाटा करने, सिनेमा थेटर देखने या जासूसी उपन्यासों और कहानियोंके पढ़नेमें ही बर्बाद होता है। इतना ही नहीं इस तरहके लोग नशाखोरी, जुआ, अड्डेबाजी आदिके शिकार हो जाते हैं। जीवनके जिस अप्राकृतिक वातावरणमें उसे रहना पड़ता है वह उसके मनकी स्थितिको ही विकृत कर देता है।

प्रायः यही देखा जाता है कि बड़े-बड़े कारखानोंमें काम करनेवाले मजदूरोंका मानसिक विकास तो लेशमात्र भी नहीं होता, उलटे औसत दर्जेके व्यक्तिसे भी उनकी हालत गिरी

रहती है। लियोनार्ड उल्फने लिखा है— "प्रत्येक व्यक्ति एक ही तरहके स्कूलोंमें जाता है, एक ही तरहकी शिक्षा प्राप्त करता है, एक ही तरहका कपड़ा पहनता है, एक ही तरहकी किताबें पढ़ता है, बाजारोंमें हम जो चीजें खरीदते हैं वे बड़े-बड़े कारखानोंकी बनी प्रायः एकसी रहती हैं, अखबारोंमें भी हमें एक ही तरहके विचार मिलते हैं। इस तरहका समत्व लानेकी जो भावना बलवती होती जा रही है उसपर हमलोगोंको गौरसे विचार करना चाहिये। हमें तो डिमाक्रेसीका यह सबसे बड़ा अभिशाप प्रतीत हो रहा है, क्योंकि यह व्यक्तित्वका विनाश कर लोगोंको भेड़-बकरियोंकी भाँति एक दूसरेके अनुकरणकी सीख देता है और अपनी इच्छा-शक्तिके प्रयोगका अवसर नहीं देता। * इससे केवल इतना हुआ है कि उत्पादनमें तीव्रता आ गयी है, बढ़िया-से-बढ़िया यन्त्र बनने लगे हैं, सम्पत्तिकी वृद्धि हुई है, और विविध प्रकारके सामान तैयार होने लगे हैं। लेकिन इसका मूल्य कितना महँगा चुकाना पड़ा है? इनका सबसे बड़ा अभिशाप यह हुआ है कि वैयक्तिक विचारोंकी प्रगति रुक गयी है, मनुष्यका पतन हो गया है, दासता और दूसरोंपर निर्भर रहनेकी आदत पड़ गयी है। कहनेका मतलब यह कि जिन उपायोंसे व्यक्ति पूर्ण मानव बन सकता है वे मुर्दा कर दी गयी हैं।

४—पूँजीवादका अन्त

जो व्यवस्था मानव जातिका इतना अधिक अनुपकार और सर्वनाश कर सकती है वह कभी भी टिकाऊ नहीं हो सकती।

* दी माडर्न स्टेट पृ० ६२—६३—१९३२ का संस्करण

केवल उपर्युक्त कारणोंसे ही पूँजीवादका अन्त अनिवार्य नहीं है, बल्कि इसके बीचमें भीषण विरोधाभासका बीज है। हमने ऊपर यह दिखलानेका यत्न किया है कि पूँजीवादका विस्तार शैतानकी अँतड़ीके समान है और वह तबतक अपना पंख फैलाता जायगा जबतक वह सब कुछ हड़प नहीं लेगा। इस क्रियाको सम्पन्न करनेमें यह आवश्यक है कि मजूरी कम देनेकी नीयतसे वह मजूरोंकी संख्या घटाता रहे और यन्त्रोंसे अधिकाधिक काम ले। इसका स्वाभाविक परिणाम यह होगा कि पूँजीपतिके लाभका अंश जितना ज्यादा बढ़ता जायगा जनसाधारणकी खरीदनेकी क्षमता उसी मात्रामें घटती जायगी। जिस दिन उपभोक्ताके पास वस्तु खरीदनेका साधन नहीं रह जायगा उसी दिन पूँजीवादी प्रथाका अन्त हो जायगा। इस तरह यह स्पष्ट है कि अपनी बरकतोंसे ही पूँजीवादी प्रथा अपना सर्वनाश करेगी।

इसके साथ ही अन्याय और लूट-खसोट अधिक दिनतक बेरोक-टोक नहीं चल सकता। किसी-न-किसी दिन वह समय जरूर आयेगा जब शोषित और लूटे गये लोग उठ खड़े होंगे और इस सर्वग्रासी प्रथाका अन्त कर देंगे। यदि इसमें कुछ विलम्ब भी हुआ तो ईर्ष्या-द्वेश और प्रतिस्पर्धाके चक्करमें पड़कर पूँजीवादी देश अपना सर्वनाश आप ही करनेपर तुले हैं। यह प्रथा हिंसापर आश्रित है, इसलिए यह अरक्षित है। इसकी विरोधी शक्तियाँ इससे भी ज्यादा हिंसाका प्रयोग करनेके लिए जिस दिन संघटित हो जायँगी उसी दिन इसका अन्त हो जायगा।

यदि विस्तृत पैमानेपर उत्पादनको कायम रहना है और उसे

जनसाधारणके लिए उपयोगी सिद्ध होना है तो उसे अपना मार्ग बदलना पड़ेगा और नफाका बँटवारा उसे इस तरह करना होगा ताकि सभी काम करनेवालोंको अपने श्रम और योग्यताके अनुसार हिस्सा मिले। समाजवाद इसी उपायसे इस समस्याको हल करना चाहता है। इसपर विचार करनेके पहले हम पूँजीवादके उस पहलूपर भी प्रकाश डालना चाहते हैं जिसके अनुसार वह राष्ट्रीयताका आश्रय लेकर अपनी गतिको बढ़ाना चाहता है। यह दो तरहसे सम्भव है :—(१) राष्ट्रको डिमाक्रेसीके आवरणसे रोक दिया जाय और इस तरह पहले अपने देशमें लूटपाट मचाया जाय और उसके बाद दुर्बल देशोंको लूटनेके लिए हाथ-पैर फैलाया जाय। साम्राज्यवादी डिमाक्रेसीने यही रास्ता ग्रहण किया है। (२) जनताके विरोधको राष्ट्रकी शक्तिके प्रयोगसे दबानेका यत्न करना। इस मार्गका आश्रय नाजीवाद और फासिस्टवादने ग्रहण किया था।
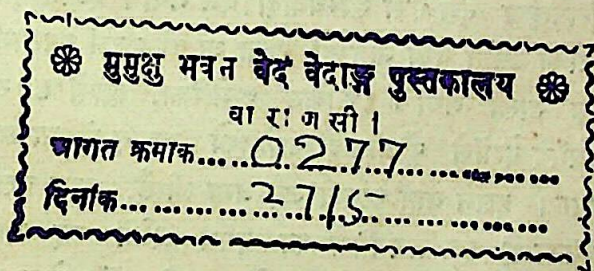
दूसरा अध्याय

साम्राज्यवादी लोकतन्त्र, फासिस्टवाद तथा नाजीवाद

१—साम्राज्यवादी लोकतन्त्र

यह स्वाभाविक है कि जिन लोगोंको पूँजीवादी व्यवस्थासे लाखों कमाने और जमा करनेका अवसर मिला है वे लोग सहजमें इस प्रथाका निर्मूल नहीं होने देंगे। वे तो उससे चिपके रहेंगे ही। समाजवादके आचार्य कार्ल मार्क्सने लिखा था कि पूँजीवादी उद्योगोंके पूर्ण विकासके बाद समाजवादका जन्म होगा जो उसका स्थान ग्रहण करेगा। लेकिन यह सही नहीं उतरा। पूँजीवादी उद्योग-प्रधान देश ज्यों-के-त्यों रह गये और उद्योगमें पिछड़ा देश रूस साम्यवादी बन गया। रूसमें पूँजीवादका जाल उतना घना नहीं हो पाया था और उसे आसानीसे तोड़-फोड़ डाला गया। लेकिन अमेरिका, इङ्गलैण्ड तथा जर्मनी आदि देशोंसे पूँजीवादी उद्योगको उखाड़ फेंकना सहज नहीं होगा। इसने वहाँ अपनी जड़ जमा ली है, चाल चलनेमें दक्ष हो गया है, इसलिए विरोधका दमन करनेमें वह राष्ट्रकी सारी शक्तिको विविध प्रकारसे लगानेमें जल्दी नहीं चूकेगा।

(क) लोकतन्त्र

ब्रिटेन और अमेरिकाके पूँजीपति लोकतान्त्रिक होनेका दावा

करते हैं और यह प्रकट करना चाहते हैं कि इन देशोंका शासन

जनसाधारणके इच्छानुसार होता है। लेकिन यदि वास्तवमें देखा जाय तो लोकतन्त्रकी आड़में चन्द पूँजीवादी राष्ट्रकी शक्तिका उपयोग अपने स्वार्थ-साधनके लिए ही करते हैं। देखनेमें तो यही प्रतीत होता है कि इन देशोंमें पूँजीवादपर राष्ट्रका पूर्ण नियन्त्रण है, क्योंकि पूँजीके सञ्चालनके लिए राष्ट्रकी ओरसे अनेक विधान और नियम बने हैं, जिनके अनुसार ही कल-कारखानोंको चलाना पड़ता है, जैसे मजूरोंसे सप्ताहमें कितने घण्टे काम लेना होगा, दुर्घटनाका शिकार होनेसे उसकी किस प्रकार रक्षा की जायगी, बीमा वगैरह। मजूरीके लिए भी कानून बन गये हैं और पूँजीपतियोंकी कृपापर इसे नहीं छोड़ा गया है। पूँजीपति और मजूरोंके बीच कलह हो जानेपर राष्ट्र हस्तक्षेप करता है। बच्चोंको कामपर लगानेके लिए अलग कानून है। पहले इस तरहकी बहुधा शिकायत सुननेमें आती थी कि उत्पादनकी कोई व्यवस्थित योजना नहीं है। अब वह भी शिकायत दूर कर दी गयी; क्योंकि अब राष्ट्रकी ओरसे कमीशन बैठने लगा है जो अगले दो-तीन वर्षोंके लिए माल तैयार करनेके लिए एक नियत योजना बना देता है। राष्ट्र ऐसे उद्योगोंको रोकनेका यत्न करता है जिनकी देशको आवश्यकता नहीं है और ऐसे उत्पादनोंको अनेक उपायोंसे प्रोत्साहन देता है जो देशके लिए आवश्यक हैं। राष्ट्रपति रूजवेल्टने अपने राष्ट्रपतित्वके अन्तिम वर्षोंमें अमेरिकाके औद्योगिक जीवनके नियन्त्रणका बहुत उत्तम उद्योग किया था। उनके इस प्रयत्नका ही फल था कि अमेरिकाका व्यवसाय जिन्दा रह सका अन्यथा उसका दम घुट रहा था। आज युद्धके कारण अनेक उद्योग जैसे, कोयला

तेल, लोहा, फौलाद, जहाज-निर्माण, हवाई जहाजका निर्माण तथा अस्त्र-शस्त्रका कारोबार सिर्फ राजके नियन्त्रणमें हैं। इसके साथ ही वर्तमान युगमें अमेरिका और इङ्गलैण्ड दोनों देशोंमें प्रवृत्ति यह हो रही है कि व्यवसायको धीरे धीरे व्यक्ति-विशेषके हाथसे निकालकर वैतनिक कर्मचारियोंद्वारा चलाया जा रहा है, जैसे, समाजवादमें होता है। उदाहरणके लिए बस चलाने या बिजली आदिका कारोबार जो पहले व्यक्ति-विशेषके हाथमें था, अब म्युनिसिपैलिटी और कारपोरेशनके हाथमें आ गया है। इन सब उदाहरणोंको पेश करके यह कहा जाता है कि पूँजीवाद धीरे-धीरे समाजवादकी तरफ अग्रसर हो रहा है अथवा पूँजीपतियोंके हाथमें अनियन्त्रित रूपसे न रहकर जनताके कल्याणके लिए राजके नियन्त्रणमें आता जा रहा है।

राज भी अब धीरे-धीरे पूँजीपतियोंद्वारा सञ्चित धनपर धावा बोलने लगा है। आमदनीपर कर लगाता है और किसी पूँजीपतिके मर जानेके बाद उसके उत्तराधिकारियोंपर मृत्यु-कर लगाता है और गहरी रकम वसूल कर लेता है। इस रकमका उपयोग अनेक तरहके सार्वजनिक कामोंमें होता है, जैसे, सफाई, स्वास्थ्य, सड़क, शिक्षा, अनुशीलन वगैरह। इस उपायसे पूँजी-पतियोंकी सञ्चित पूँजीसे कुछ अंश लेकर उस असमान बँटवारे-की क्षतिपूर्तिके लिए यत्न किया जाता है जो पूँजीवादकी देन है।

(कुछ लोगोंकी धारणा है कि राजके इस प्रकारके हस्तक्षेपसे धीरे-धीरे पूँजीवादकी बुराइयाँ दूर हो जायँगी और औद्योगिक विकाससे जो लाभ देशको होगा उसका समान रूपसे सब

उपभोग करने लगेंगे। अमेरिका और इङ्गलैण्डमें यह और भी सम्भव है क्योंकि इन देशोंमें पूँजीपतियोंकी अकड़ तोड़नेके लिए राजकीय यन्त्रोंका प्रयोग हो सकता है और इस तरह जनताका कल्याण किया जा सकता है।

सिद्धान्ततः तो यह बहुत अच्छा है, लेकिन अभी जन-साधारणकी अपेक्षा पूँजीपति कहीं ज्यादा शक्ति-सम्पन्न हैं। किसी-किसी मामलेमें वह राज-शक्तिके सामने झुक अवश्य जाता है लेकिन जैसा आगे दिखलाया जायगा, राजकी शक्तियोंका अपने लाभके लिये अधिक उपयोग करनेके उद्देश्यसे ही वह झुकता है। इन देशोंका लोकतन्त्र तो एक आवरणमात्र है जिसकी आड़में पूँजीपति देशकी जनताको मनमाना लूटता है। अपनी पुस्तक 'एपुल् कार्ट'की भूमिकामें श्रीबर्नर्डशाने ब्रिटिश डिमाक्रेसीका बहुत सुन्दर वर्णन किया है। ब्रिटिश डिमाक्रेसी-का अध्ययन करनेके लिये आप कल्पना कीजिये कि वह एक बहुत बड़ा गुब्बारा है जिसमें गैस अथवा गर्म हवा भरकर ऊपरकी तरफ इस उद्देश्यसे उड़ा दिया जाता है कि आप ऊपरकी तरफ इसकी उड़ान देखनेमें उलझे रहें और इधर लोग आपकी जेब काट लें। जब प्रत्येक पाँच सालके बाद यह गुब्बारा जमीनपर उतरता है, तब आपको उसके पासतक चलनेके लिये निमंत्रण दिया जाता है कि यदि आपमें सामर्थ्य है तो उसमें बैठे हुए लोगोंमेंसे किसीको हटाकर आप स्वयं बैठनेकी चेष्टा कीजिये। लेकिन न तो आपके पास समय है और न साधन, साथ ही आप हैं ४ करोड़ और गुब्बारेमें बैठनेकी जगह है केवल ६०० की, इसलिए गुब्बारा प्रायः उन्हीं पुराने आदमियोंको

लेकर उड़ जाता है और बाकी लोग जहाँ-के-तहाँ खड़ ताकते रह जाते हैं। मैं समझता हूँ कि आपलोग मेरे इस उदाहरणको ठीक समझते हैं। ब्रिटिश डिमाक्रेसीका ढाँचा ठीक गुब्बारेके समान है। बाहरी आवरण—वोट और प्रतिनिधित्व तो डिमाक्रेसी है लेकिन नियन्त्रण करनेवाली शक्ति पूँजीपतियों-की है। इतना ही नहीं, रुपयोंकी बदौलत पूँजीपति वोटोंपर भी आधिपत्य कायम करता है। जाँच करनेसे प्रकट होगा कि पार्लमेण्टके अनेक प्रतिनिधि पूँजीपतियोंके रुपयोंकी बदौलत ही स्थान पा सके हैं इसलिए उन्हें उसी पूँजीपतिका प्रतिनिधि समझना चाहिये।

व्यावहारिक अनुभव यही बतलाता है कि पूँजीपति परदेकी आड़में बागडोर थामकर बैठा रहता है और राजको वह अपने इच्छानुसार नचाता रहता है। ऊपर दिखलाया जा चुका है कि सुदृढ़ हवाई तथा नौसेनाका सङ्गठन करनेके लिए वह राजको बाध्य करता है। इन विविध सेनाओंका क्या उद्देश्य रहता है? उसके व्यापारकी रक्षा और राजपर उसकी प्रभुता। बाजारसे रुपया खींचकर या बाजारमें रुपया फेंककर तथा विनिमयको उलट-पलटकर वह राजको बाध्य कर देता है कि वह आर्थिक नीतिका सञ्चालन पूँजीपतिके लाभकी दृष्टिसे ही करे। युद्ध, सन्धि, व्यापारिक समझौता सब-कुछ तो उसके इशारेसे होते हैं। राजसे वह जो सहायता प्राप्त करता है वह सार्वजनिक कोषसे उसे एक प्रकारका दान है। अपने व्यवसायको पनपानेके लिए वह राजको कभी कड़ी चुङ्गी बैठानेके लिए बाध्य करता है और कभी-कभी दूसरे देशोंके मालके पूर्ण बहिष्कारका भी आयोजन

करता है। जो लोग उसकी आकांक्षाओंका विरोध करते हैं उनके दमनके लिए वह राजकी शक्तिका पूरा उपयोग करता है और जो राष्ट्र उसकी इच्छाकी पूर्तिमें बाधक होना चाहता है उससे वह युद्ध ठनवा देता है।

द्वितीय विश्व-महायुद्धके दस साल पहलेतक ब्रिटिश सरकारकी ओरसे फासिस्ट शक्तियोंके साथ जो नीति वर्ती गयी उसने स्पष्ट व्यक्त कर दिया कि ब्रिटेनका शासन कतिपय धनी व्यक्तियोंके हाथमें है। आरम्भमें ब्रिटेनने जर्मनी, इटली और जापानको खूब बढ़ावा दिया। १९३५ के अन्तमें जब हिटलर अधिकारारूढ़ हुआ* तो एँग्लो जर्मनी सन्धि भी की गयी क्योंकि रूसकी बढ़ती साम्यवादी शक्तिसे ब्रिटेनके पूँजीपति रुष्ट थे और उन्होंने यह देखा कि फासिस्ट शक्तियाँ पूर्णरूपसे समाजवादकी दुश्मन हैं। यदि इन्हें मजबूत बना दिया जाय तो वे समाजवादकी विभीषिकाको पच्छिम बढ़नेसे रोक देंगी और सारा विश्व इसके चंगुलमें पड़नेसे बच जायगा। लेकिन जब इन्होंने यह देखा कि जर्मनी और जापान ही इनके लिए खतरनाक साबित हो रहे हैं तब इन लोगोंने अपनी नीति बदली और इनके ही खिलाफ युद्ध-घोषणा कर दी। लेकिन यदि ब्रिटेनने आरम्भमें ही अपनी नीति बदली होती तो इतना भयङ्कर जन और धनका संहार न हुआ होता। असलमें समाजवादके प्रसारसे जबतक पूँजीपतियोंके स्वार्थमें धक्का नहीं लगता तबतक जन और धनके संहारकी उन्हें क्या परवाह है। इसलिए यद्यपि १९३५[1] में ही ब्रिटेनकी

---

* प्रायस० योर० एम० पी० १९४४ पृ० ८२ एफ

1 वही पृ० १९१

जनता फासिस्ट शक्तियोंकी सैनिक चढ़ाईका मुकाबला करनेके लिए तैयार थी लेकिन वहाँ इन पूँजीपतियोंने ब्रिटिश सरकारका हाथ रोक दिया और १९३९ में जब उन्होंने यह देखा कि फासिस्ट शक्तियाँ उनकी साम्राज्य-नीतिके लिए घातक सिद्ध होने जा रही हैं, तब उन्होंने उनका मुकाबला किया।

पूँजीपतियोंकी इस दुर्धर्ष ताकतके सामने मतदाताओंका विरोध अरण्य-रोदनके समान है। पूँजीपति उस आवाजके सामने तभी झुकता है जब वह देखता है कि अपने स्वार्थोंकी रक्षाके लिए वैसा करना नितान्त आवश्यक है। अन्यथा उनकी पुकारकी अवज्ञाकर अपनी इच्छाके अनुसार चलने और अनेक तरहकी बहानेबाजीद्वारा जनताको यह दिखलानेमें कि वह उनके कल्याणके लिए ही वैसा कर रहा है, वह कभी नहीं चूकता। कामन्स सभाके ९ सदस्य (ब्रिटिश-कैबिनेट) गर्मागर्म बहस करेंगे, लम्बी-लम्बी बातें करेंगे, जनताका ध्यान आकृष्ट करेंगे लेकिन पर्देकी आड़में वह अपनी लूट-खसोटकी नीति ही चालू रखेंगे।

इन सब बातोंका प्रत्यक्ष अनुभव हमलोगोंको है जो ब्रिटिश डिमाक्रेसीकी प्रजा हैं और साथ ही ब्रिटिश नीतिके शिकार हैं। सिद्धान्ततः भारत सरकारकी नीतिकी सारी जिम्मेदारी ब्रिटिश जनतापर है। लेकिन व्यवहारमें ब्रिटिश साम्राज्यकी ४ करोड़ जनता भारतके सम्बन्धमें वास्तवमें कुछ नहीं जानती और भारतके शासनमें उनका कोई हाथ नहीं है। इतना ही नहीं, कामन्स सभाके ९ सौ सदस्य भी भारतके सम्बन्धमें कुछ नहीं जानते। भारत-सम्बन्धी समाचारोंको सेंसरद्वारा दबा दिया जाता है और ब्रिटेनकी जनता भारतके सम्बन्धमें केवल उतनी ही

जानने पाती है जितना भारतमंत्रीके दफ़्तरसे मालूम हो सकता है। भारतमंत्रीका दफ़्तर उतना ही समाचार भारतके सम्बन्धमें प्रकट होने देता है जितना प्रकट करना वह ब्रिटिश पूँजीपतियोंके कल्याणके लिए आवश्यक समझता है। ऐसी हालतमें क्या यह कहना उपहासास्पद नहीं है कि भारतके शासनकी सारी जिम्मेदारी उस ४ करोड़ ब्रिटिश जनतापर है जिसे भारतके बारेमें पूरा समाचारतक नहीं मिलता। क्या ऐसी हालतमें यह कहना अनुचित होगा कि डिमाक्रेसीके इस देशमें भी डिमाक्रेसी केवल दिखावामात्र है। कहनेके लिए तो यही कहा जा सकता है कि भारतके शासनके लिए ब्रिटिश जनता पूर्ण जिम्मेदार है लेकिन वास्तविकता यह है कि ब्रिटिश जनताको धोखा देकर वहाँके पूँजीपति भारतपर शासन करते हैं। भारतकी समस्यामें दिलचस्पी रखनेवाली ब्रिटिश जनता गला फाड़कर भले ही चिल्लाती रहे कि भारतमें शीघ्र उत्तरदायी शासन स्थापित कर देना चाहिये लेकिन जबतक ब्रिटिश पूँजीपति यह नहीं चाहेंगे तबतक उनका शोरगुल मचाना अरण्य-रोदनके समान है। अनेक तरहकी बहानेबाजी निकालकर यह दिखलाया जायगा कि भारतके चन्द राजनीतिज्ञोंकी चिल्लाहटपर भारतको आजाद कर देना भारतके स्वार्थके लिए हानिकर है और ब्रिटिश जनताके मतकी अवज्ञाकर इस प्रकार ब्रिटिश पूँजीपति भारतपर अपना अक्षुण्ण अधिकार कायम रखेंगे।

(ख)—साम्राज्यवाद :—

(अपने देशकी जनताको लूटनेसे सन्तुष्ट न होकर पूँजीपति

कमजोर देशोंपर भी अपना प्रभुत्व इस प्रकार जमाते हैं और

यह कहकर अपना शासन कायम रखते हैं कि जबतक उनमें अपने देशपर शासन करनेकी क्षमता प्राप्त नहीं हो जाती तबतक उनपर शासन करना उनलोगोंका धार्मिक कर्तव्य है। इस तरह-की सदाशयताकी आड़में अपनी स्वार्थमूलक प्रवृत्तियोंको छिपाकर वह अपने स्वार्थ साधनके लिए उस देशके शासनको चलाता है। इसे और स्पष्ट करनेके लिए हिन्दुस्तानकी दशासे ही अनेक अवतरण दिये जा सकते हैं :—

(१) ग़ैर ब्रिटिश मालका भारतमें आना रोकनेके लिए उन मालोंपर बहुत अधिक आयात-कर या चुंगी बैठा दी गयी है, यद्यपि भारतवासियोंके लिए ब्रिटिश या अन्य देशोंका माल आना एक ही बात है। ब्रिटिश मालपर कम चुङ्गी लगानेका तो यही मतलब हुआ कि भारतमें कायम ब्रिटिश उद्योगपतियोंको आर्थिक सहायता इसलिए दी जा रही है कि वे अन्य देशोंके उद्योगपतियोंका सफलताके साथ मुकाबला कर सकें।

(२) चुङ्गीके बोझसे बचनेके लिए, अपनी फाजिल पूँजीको उत्पादनके काममें लगानेके लिए तथा भारतके सस्ते मजूरोंसे लाभ उठानेके लिए ब्रिटिश पूँजीपति भारतमें कारखाने खोलने लग गये हैं। इसका परिणाम यह हो रहा है कि अपने साधनोंकी बहुलताके कारण वे भारतीय उद्योगपतियोंको निर्दयताके साथ मटियामेट कर रहे हैं। अपनी कम्पनियोंके साथ 'भारत' शब्द जोड़कर या अपने मालपर 'भारतमें बना' शब्द जोड़कर वे स्वदेशीकी भावनापर कुठाराघात कर रहे हैं और उनके कल्याणकी कामनासे भारत सरकार इस बातकी छानबीन करना आवश्यक नहीं समझती कि इन कम्पनियोंमें किसकी पूँजी लगी

है और भारतीय पूँजीसे चालू कम्पनियोंकी भाँति उन्हें भी वही संरक्षण प्रदान करती है। इस तरह विदेशी उद्योगपतियोंके स्वार्थोंकी रक्षा कर वह भारतीय उद्योगका सर्वनाश ही नहीं कर रही है बल्कि इस दिशामें उसने एक कदम और बढ़ा दिया है। भारतीय शासन-विधानमें उसने इनके संरक्षणकी भी व्यवस्था कर दी है। विदेशी कम्पनियोंके प्रति इस तरहका उदार-भाव संसारके किसी भी देशमें देखनेमें नहीं आता।

इन कम्पनियोंके बारेमें यह भी नहीं कहा जा सकता कि ये लोग भारतीय मजूरोंसे काम लेते हैं और भारतका ही कच्चा माल काममें लाते हैं इसलिए इनसे देशको ही फायदा है। भारतीय मजूरोंको जितना वेतन इनसे मिलता है उसकी अपेक्षा बहुत अधिक नफेकी रकम ये अपने देशको भेजते हैं। प्रथम विश्व युद्धके बादके वर्षोंमें केवल पाटकी मिलोंसे मजूरीका आठ गुना लाभ इन्हें प्राप्त हुआ था, प्रत्येक १२ पौंडके लिए जो इन्होंने भारतीय मजूरोंको वेतनके रूपमें दिया था इन कम्पनियोंने १०० पौंड स्काटलैंडके अपने फी हिस्सेदारको दिया था। इसका सबसे भयंकर परिणाम यह हो रहा है कि इन हरकतोंसे ब्रिटिश पूँजीपतियोंका भारतके लिए प्रेम और अनुराग इतना ज्यादा बढ़ता जा रहा है कि वह इसपरसे अपना प्रभुत्व हटानेके लिए तैयार नहीं हैं।

(३) ये उद्योगपति अपने व्ययसे प्रयोगशालाएँ स्थापित कर सकते हैं, तो भी सरकारी व्ययसे कृषि विद्यालय तथा प्रयोग-शालाएँ खोली जाती हैं जिनसे इन उद्योगोंको सहायता मिलती है और किसानोंकी खेतीकी दशा सुधारनेके लिए कोई भी

यत्न नहीं किया जाता। उसके लिए सरकारी फण्डमें रुपये नहीं हैं। इतना ही नहीं इन प्रयोगशालाओंसे यदि किसानोंकी हानि भी होती हो तो कोई परवा नहीं की जाती यदि इससे उद्योग-पतियोंका लाभ होता हो। उदाहरणके लिए कृषिकालेजोंमें लम्बे रेशेवाली रुईके उत्पादनके लिए अनुसन्धान किया जाता है क्योंकि मिलवाले इसे चाहते हैं चाहे इस तरहके कपासका उत्पादन किसानोंके लिए लाभकर भले ही न हो क्योंकि छोटे रेशेवाली रुईकी अपेक्षा लम्बे रेशेवाली रुईके उत्पादनमें समय ज्यादा लगता है और पैदावार कम होती है। इसकी पैदावारमें अधिक समय लगनेका फल यह होता है कि इसके लिए मजूरी ज्यादा खर्च करनी पड़ती है और साथ ही भारतके जलवायुके यह अनुकूल नहीं है क्योंकि ज्यादा दिनतक खेतोंमें रहनेके कारण वर्षा तथा कीड़ोंसे हानिका इसमें खतरा ज्यादा रहता है। इसके साथ ही इस तरहकी रुईकी खपतके लिए उसे अन्तर्राष्ट्रीय बाजारपर निर्भर करना पड़ता है जिसके बारेमें वह कुछ नहीं जानता तथा जो उसकी पहुँचके बाहर है। इतना ही नहीं भारत सरकार व्यवसायके काममें आनेवाली वस्तुओंके सुधारमें जितनी रुचि रखती है उतनी दिलचस्पी खाद्य वस्तुओंके सुधारमें नहीं लेती। इसका परिणाम यह हुआ है कि व्यवसायके काममें आनेवाली वस्तुओंका उत्पादन बढ़ता गया है और खाद्यसामग्री-के उत्पादनमें कमी आती गयी है। उदाहरणके लिए जहाँ कपास, पाट और गन्नेकी खेती २५,६२·५,७१·१ सैकड़े एकड़ भूमिमें हो रही है वहाँ धान, ज्वार और चनेकी खेती ५·१,०·५ तथा ०·४ सैकड़े एकड़ भूमिमें होने लगी है।

(४) ब्रिटिश पूँजीपतियोंके लाभकी दृष्टिसे विनिमयकी दर बदलता रहता है। यह सभी लोग जानते हैं कि भारतीय उद्योग-पतियोंके घोर विरोधके होते हुए भी रुपयेकी दर १६ पेंससे बढ़ाकर १८ पेंस कर दिया गया। इस दरसे ब्रिटिश व्यापारियों-को बहुत अधिक लाभ हुआ है। उदाहरणके लिए नयी व्यवस्थामें ब्रिटिश उद्योगपति भारतमें एक कमीजका दाम १८ पेंस पाता है। विनिमयके नये दरके अनुसार इसका मतलब यह हुआ कि भारतीय खरीदारको एक कमीजका दाम १) रु० देना पड़ता है लेकिन विनिमयकी पुरानी दरके अनुसार उसे १=) आना देना पड़ता। इसका फल यह हुआ कि भारतीय बाजारमें पहलेकी अपेक्षा =) आना कम दरमें ब्रिटिश व्यापारी अपना एक रुपयेका माल बेच लेता है। भारतीय उद्योगपतिके मुकाबले ब्रिटिश उद्योगपतियोंको यह कम सुभीता नहीं हुआ है। भारत सरकार-की इस एक नीतिसे ब्रिटिश उद्योगपतियोंकी कितनी बड़ी ताकत भारतके बाजारमें बढ़ गयी है।

(५) भारत सरकारका सारा पुलिस मुहकमा पूँजीपतियों-की रक्षाके लिए तैयार रहता है। जनताको हर तरहसे दबाकर पूँजीपतियोंकी रक्षाके लिए दमन और शान्तिका स्वाँग रचा जाता है अर्थात् देशकी अधोगति भले ही होती रहे लेकिन ब्रिटिश पूँजीपतिको सुरक्षित रहना चाहिये और उसके लाभमें किसी तरहकी कमी नहीं होनी चाहिये।

(६) भारतीय उद्योगपति ब्रिटिश उद्योगपतियोंके प्रतिस्पर्धी न बन जायँ, इसके लिए भारतका उद्योगीकरण नहीं किया जा रहा है। भारतीय मजूरों तथा मध्यम श्रेणीके लोगोंको औद्यो-

गिक और टेकनिकल वैज्ञानिक शिक्षा नहीं दी जाती क्योंकि जर्मनीवालोंकी तरह ये भी टेकनिकल शिक्षा प्राप्त कर दक्ष हो गये तो ब्रिटिश उद्योगपतियोंका नियंत्रण भारतके बाजारपर नहीं रह जायगा। इसी उद्देश्यसे उन्हें केवल इस तरहकी शिक्षा दी जाती है ताकि वे क्लर्क और किरानी बने रहें और भारत सरकारकी आज्ञाओंका पालन करते रहें और उनके ज्ञानका विस्तार इतना ज्यादा न हो जाय कि वे ब्रिटिश औद्योगिक प्रभुता-के खिलाफ उठ सकें। भारतीय उद्योगपतियोंको पनपने न देनेके लिए विदेशोंसे आनेवाले यन्त्रों (मशीनों) पर महसूल बैठाया जाता है। तो भी ब्रिटिश उद्योगपति भारतमें उन उद्योगोंको उस हदतक पनपने देनेके लिए तैयार हैं जितनेसे उनके औद्योगिक विकासमें भारतीय उद्योगपतियोंसे सहायता मिल सकती है। प्रथम विश्व-युद्धके समय भारतमें लोहेके कारखानोंके खोलनेकी इजाजत दे दी गयी क्योंकि उसके बिना खुद भारत सरकारका काम नहीं चल सकता था। ब्रिटिश कम्पनियोंद्वारा संचालित छोटे-छोटे कारखाने तथा अन्य अनेक कारखाने यहाँ कायम हो गये हैं क्योंकि मजूरीका दर यहाँ सस्ती है। इन कारखानोंमें विदेश भेजनेके लिए भेजनेकी अवस्थातक कच्चा माल तैयार किया जाता है। अन्यथा ब्रिटिश सरकारकी यही नीति है कि भारतमें प्रधान उद्योगोंका विकास न होने पावे। द्वितीय विश्व-युद्धकी आवश्यकताएँ भी ब्रिटेनको अपनी इस नीतिसे डिगा न सकीं और भारतीयोंकी चिल्लाहटपर भी भारत सरकारके कानमें जूँ नहीं रेंगी। इस सम्बन्धमें भारतीय उद्योगपतियोंने भारत सर-कारके समक्ष मन्तव्य उपस्थित किये थे। उनकी सर्वथा उपेक्षा की

गयी और जो लोग अपनी जिम्मेदारीपर कल-कारखाने खोलना चाहते थे उनके रास्तेमें बाधाएँ उपस्थित कर दी गयीं। युद्धके कामके लिए रेलवे लाइनों तथा डब्बोंकी नितान्त आवश्यकता थी। भारतके उद्योगपति इन सामानोंको तैयार करना चाहते थे। सारी व्यवस्था उन्होंने कर ली थी। भारत सरकारने रेलवेलाइनों-को उखाड़कर भेजना स्वीकार किया। भारतीय यातायातको रोककर रेलके डब्बे भेजे गये, लेकिन भारतीय उद्योगपतियोंको इन सामानों-को तैयार करनेकी आज्ञा नहीं दी गयी। सारी व्यवस्था हो जानेके बाद भी अन्तिम क्षणमें इन्हें यह कहकर रोक दिया गया कि बाहरसे इन चीजोंको मँगाना ही अच्छा होगा। मोटर तथा मोटर ट्रकोंके बारेमें भी भारत सरकारकी यही नीति रही। युद्धके काम-के लिए जितनी मोटरों और मोटर-ट्रकोंकी जरूरत थी उतना भारत सरकारको विदेशोंसे नहीं मिल रहा था। भारत सरकारने इस बातको पसन्द किया कि विदेशसे लाये जाते समय ये शत्रुओं-द्वारा समुद्रमें भले ही डुबो दिये जायँ लेकिन भारतमें इन चीजोंके उत्पादनका प्रश्रय देकर ब्रिटेनका भावी बाजार खराब करना ठीक नहीं समझा। इस सम्बन्धमें भारतके साथ जो बर्ताव किया गया उसकी तुलना यदि आस्ट्रेलियाके साथ की जाय तो दंग रह जाना पड़ता है। आस्ट्रेलियाने भारतसे कहीं खराब स्थितिमें लोहेके माल तैयार करनेके कारखाने खोले। ब्रिटिश, अमेरिका तथा अन्य सरकारोंकी सहायता पाकर दो सालके अन्दर ही वह हर तरहका सामान यहाँतक कि हवाई जहाज-तक तैयार करने लगा। यदि आस्ट्रेलियाके लिए मशीनें दी जा सकती थीं और कारीगर भेजे जा सकते थे तो भारतके लिए

उनका अभाव कैसे हो गया ? लेकिन दोनों देशोंमें अन्तर यह है कि भारत गुलाम देश है और आस्ट्रेलिया स्वतन्त्र उपनिवेश है। आस्ट्रेलियामें गोरे बसते हैं और भारतमें काले। ब्रिटेनके व्यवसायके लिए कच्चा माल प्राप्त करते रहनेके उद्देश्यसे ब्रिटिश सरकार भारतको सदा कृषि-प्रधान देश बनाये रखना चाहती है यहाँ उद्योगोंको पनपने नहीं देना चाहती। यदि भारत उद्योग-प्रधान देश बन जायगा तो ब्रिटिश मजदूरोंको खाद्य सामग्री कहाँसे मिलेगी। ब्रिटिश मजूरोंको कम वेतन देनेके लिए यह भी आवश्यक है कि उन्हें सस्ते दरपर भोजनकी सामग्री दी जाय। जब-तक भारत कृषि-प्रधान देश बना रहेगा तबतक यह साध्य है।

(७) इतना ही नहीं रेल-महसूलकी भी इस तरह दर रखी गयी है कि भीतरसे कच्चा माल बाहर भेजनेमें सहूलियत हो और बाहरसे तैयार माल देशके अन्दर लानेमें सस्ता पड़े। भारतीय रेलवे कम्पनियोंको ब्रिटिश पूँजीपतियोंके लिए यहाँतक करना पड़ता है कि भारत-सरकारकी आज्ञासे वे विदेशी तैयार मालको भारतके बाजारोंमें ले जानेके लिए किरायेकी दर गिरा देती हैं और देशी उद्योगपतियोंके मालको ढोनेके लिए किरायेकी दर बढ़ा देती हैं। इसी तरह बन्दरगाहके लिए जो कच्चा माल रवाना किया जाता है उसका रेल महसूल कम लिया जाता है ताकि ब्रिटिश पूँजीपतियोंको अधिक सस्ती दरपर कच्चा माल मिला करे। ब्रिटिश साम्राज्यवादकी प्रभुताका यह परिणाम है कि विदेशी पूँजी-पतियोंके लिए भारतकी अपनी सन्तानको उन सुविधाओंसे वञ्चित किया जाता है। क्या समानताका पद रखनेवाले देशोंके बीच भी इस तरहकी बातें सम्भव हैं ?

(८) ब्रिटिश उद्योगपतियोंकी मददके लिए जो प्रबन्ध किया जाता है—जिसकी चर्चा ऊपर की गयी है। उतनेसे ही सन्तुष्ट न होकर ब्रिटिश सरकार ऐसी नीतिका प्रयोग करती है जिससे भारतीय आपसमें ही लड़ते रहें और सङ्गठित होकर उस शोषणका मुकाबला करनेके लिए विद्रोह न खड़ा करें। 'भेद डालो और शासन करो' नीतिका आश्रय लेकर अनेक तरहके सामाजिक, धार्मिक और साम्प्रदायिक उलझनें पैदा कर दी जाती हैं ताकि वे उसीमें उलझे रहें और एक न हो सकें। इस नीतिका प्रयोग इतना सफल हुआ है कि भारतके इतिहासमें इस तरहका भयानक विद्वेष कभी भी देखनेमें नहीं आया। भारतीय जनता आपसमें ही एक-दूसरेका गला काटनेके लिए सदा प्रस्तुत रहती है और शान्ति कायम रखनेके लिए ब्रिटिश सरकारका मुँह जोहती है। कहा जाता है कि भारतमें ब्रिटिश शासनका सबसे बड़ा वरदान एकता है। यदि एकताका अर्थ शासनकी यान्त्रिक एकता है तब वह इस देशको अवश्य ही प्राप्त हो सकी है। लेकिन जिन विविध जातियोंसे भारतका निर्माण हुआ है यदि उनकी समीक्षा की जाय तो परस्पर विरोधका ऐसा दृश्य देखनेमें कभी नहीं आया। इन्हीं बातोंको लक्ष्य कर महात्माजीको भी अन्तमें यह स्वीकार करना पड़ा कि जबतक भारतमें ब्रिटिश-शासन कायम रहेगा तबतक हिन्दू-मुस्लिम एकता या इस तरहकी अन्य एकता कायम नहीं हो सकती। विदेशी शासनने अपने कल्याणके लिए देशमें भेद-भावका वह बीजारोपण किया है कि एकता नामकी कोई वस्तु रही नहीं गयी है। विदेशी शासनका इससे बढ़कर अत्याचार और क्या हो सकता है?

इस ब्रिटिश डिमाक्रेसीमें भारतीय जनता कितना सुखी है इसका अन्दाज उस आँकड़ेसे लग जाता है जो १९३३ में भारतीय मेडिकल सर्विसके मेजर जेनरल सर जान मेगाने दिया है। आप लिखते हैं—'भारतीय जन-संख्याके केवल ३९ फी सदीको पेटभर भोजन मिलता है, १६ करोड़ जनता आधा पेट भोजनपर रहती है, ८ करोड़को तो निरन्तर भूखों रहना पड़ता है। ५ से १० करोड़तक मलेरियाके शिकार हैं, मलेरिया सहज-में दूर की जा सकती है लेकिन भारतमें मलेरियाका प्रकोप दिन-दिन बढ़ता जा रहा है। १५० सालके ब्रिटिश शासनके बावजूद भी जनता अविद्याके घोर अन्धकारमें पड़ी है। वहम और अन्ध-विश्वासका ऐसा साम्राज्य अन्यत्र कहीं नहीं देखा गया। ५ सालसे ऊपरकी उम्रके केवल १४·६ फीसदी लोग साक्षर मिलते हैं।' ब्रिटिश पूँजीपतियोंको जनताके सुख, स्वास्थ्यकी क्यों परवा होने लगी? इसलिए इसपर बहुत कम ध्यान दिया जाता है। भारतके कोषका सबसे ज्यादा धन सेनापर व्यय किया जाता है क्योंकि ब्रिटिश पूँजीपतियोंकी रक्षाका वह सबसे बड़ा साधन है। भारतपर ब्रिटेनका प्रभुत्व कायम रखनेके लिए तथा भारत-की लूटमें हिस्सा बँटानेके लिए यदि कोई प्रतिद्वन्द्वी खड़ा हो जाय तो उसे मार भगानेके लिए सेनाकी जरूरत पड़ती है।

भारतमें ब्रिटिश डिमाक्रेसीका यह असली रूप है और इसकी रक्षाके लिए भारतीयोंको मुक्तहस्तसे जन-धनकी सहायता करनी पड़ती है। सभी चीजोंका संगठन इस होशियारीसे किया गया है कि कर, अनुशीलन, शिक्षा, कृषि, आर्थिक नीति, सेना, पुलिस, उद्योग, रेलवे तथा शासन सब कुछ ब्रिटिश पूँजी

पतियोंके नियंत्रणमें है। जिन भारतीयोंकी आँखें खुल गयी हैं और इन अत्याचारोंको जिन्होंने परख लिया है, वे यदि यह नारा बुलन्द करते हैं कि अंग्रेजोंको अपना बोरिया-बिस्तर सम्हालकर भारतसे चले जाना चाहिये तो इसमें आश्चर्यकी कौन-सी बात है। क्या चोरसे यह कहना अनुचित है कि तुम हमारे घरसे निकल जाओ? लेकिन जो लोग इस तरहकी बातें करते हैं और भारतीयोंके कल्याणके लिए इस तरहका शासन यहाँ कायम करना चाहते हैं जो डिमाक्रेसीका सच्चा रूप हो, उन्हें जेलोंमें इसलिए ठूँस दिया जाता है ताकि ब्रिटिश पूँजीपतियोंके स्वार्थकी रक्षाके लिए भारतमें निरंकुश शासन कायम रहे। हर तरहका विरोध फ़ौलादी पंजेसे दबा दिया जाता है, विशेष कानूनोंका निर्माणकर प्रेसका गला घोंट दिया जाता है, जनताकी लिखने और बोलनेकी स्वतन्त्रताका अपहरण कर लिया जाता है। जबर्दस्ती उनके मुँहपर ताला जड़ दिया जाता है और इस तरह दिखावटी शान्ति कायम की जाती है मानो देशमें मुर्दे बसते हों।

(ग) डिमाक्रेसीका आडम्बर—

कहा यह जाता है कि यह एकतरफा चित्रण है क्योंकि भारतके शासनमें भारतीयोंका बहुत बड़ा हाथ है। बड़े लाटकी कार्य-समितिके अधिकांश सदस्य, प्रांतोंके मन्त्रीगण, भारतीय सिविल सर्विसके कम-से-कम आधे कर्मचारी तथा प्रांतीय सर्विसके प्रायः सभी कर्मचारी भारतीय हैं। इतना सब होते हुए यह कैसे कहा जा सकता है कि भारत सरकार ब्रिटिश पूँजीपतियोंके लाभके लिए केवल भारतको लूटनेके लिए ही है?

इसके उत्तरमें यह बतला देना अनुचित नहीं होगा कि बड़े लाटको विशेष अधिकार प्राप्त हैं और जहाँ ब्रिटिश स्वार्थके खिलाफ कोई बात की गयी तो वे चट उस विशेष अधिकारका प्रयोगकर ब्रिटिश स्वार्थोंकी रक्षा करते हैं।

दूसरे, रक्षा, अर्थ तथा यातायात आदि मुख्य विभाग केन्द्रीय सरकारके हाथमें है और वह केवलमात्र भारतमंत्रीके प्रति जिम्मेदार है, जनतासे उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। इन विषयोंपर भारतीयोंका कोई अधिकार न होनेके कारण प्रान्तके मन्त्रिगण अपने अधीन विषयोंके लिए कोई बड़ा काम नहीं कर सकते क्योंकि हर वक्त उन्हें केन्द्रीय सरकारकी एतद्‌विषयक नीतिका मुँह जोहना पड़ता है जो सदा इनके रास्तेमें बाधक होकर खड़ी रहती है और एक भी ऐसा काम नहीं करने देती जिससे ब्रिटिश स्वार्थोंको धक्का पहुँचे।

बंगालके अकालका उदाहरण एक दम ताजा है। १९४३ में बंगालपर भीषण अकालकी छाया पड़ी। बंगालमें जनताके प्रतिनिधियों—मंत्रियों—का शासन था तो भी वे उसका सामना नहीं कर सके। अकालका कारण क्या था ? (१) बर्मासे चावलका आना बन्द हो गया (२) सेनाविभागके लिए बहुत अधिक अन्न बंगालसे खरीदकर बाहर भेजा गया (३) ब्रिटिश सरकार जो माल खरीदती थी उसकी अदायगीके लिए उसने इतनी ज्यादा तादादमें नोट जारी कर दिये कि वस्तुओंका मूल्य एकदम बढ़ गया (४) देहातोंसे जबर्दस्ती गल्ला खरीदकर सैनिक आवश्यकताके लिए कलकत्ता तथा अन्य स्थानोंमें जमा किया गया (५) यातायातकी सारी सुविधा जनतासे छीनकर सैनिक काममें

लायी जाने लगी। यदि प्रान्तीय सरकार सावधान होती तो वह पहले ही इस खतरेका मुकावला कर सकती थी लेकिन ब्रिटिश सरकार तथा भारतीय सरकारकी सहायता विना उसके लिए कुछ भी कर सकना असम्भव था और बंगालपर इस संकटको लानेके वे ही दोनों पूर्णतः जिम्मेदार थे।

तीसरे, जो भी भारतीय भारत सरकारकी सेवामें हैं चाहे वे नामजद हों या नियुक्त कर्मचारी हों, भारत-सरकारकी मर्जीके खिलाफ कुछ नहीं कर सकते क्योंकि वे ऐसा करके देशको लाभ तो पहुँचा नहीं सकते उल्टे अपनी नौकरीसे भी हाथ धो वैठते हैं। इसलिए वे चुपचाप उसकी आज्ञाओंका पालन करते रहना ही अलम् समझते हैं। इस तरह इन्हें शिखण्डी बनाकर भारत-सरकारने सामने खड़ा कर दिया है और इनकी आड़में हर तरहका जुल्म और अत्याचार वह करती रहती है।

भारतमें ही यह कोई नया अनुभव या प्रयोग नहीं है। प्रत्येक देशकी प्रायः यही हालत है। उद्योगपति प्रभावशाली व्यक्तियोंको इसी तरह खरीद लेते हैं, विघ्न-बाधाको टाल देते हैं और निःशंक होकर लूटपाट करते रहते हैं। ऐसे लोगोंको मोटी मोटी तनख्वाहें देकर बड़े-बड़े ओहदोंपर बैठा दिया जाता है। ये लोग भी पूँजीपतियों-के अङ्ग बन जाते हैं और उनकी व्यवस्थाका विरोध करनेवालों-का मुकाबला करने लगते हैं। ब्रिटिश मजूरदलका इतिहास हमलोगोंके सामने है। शासनका भार उस दलके हाथमें आने-पर यही देखा गया कि अनुदार दलवालोंसे भी भयानक अत्या-चार उन्होंने जनतापर बर्पा किये। शासनको उदार कहनेके लिए

और विरोधियोंका मुंह बन्द कर देनेके लिए इस तरहके लोग

शासनमें शामिल कर लिये जाते हैं और पूँजीपतियोंके हितवाली नीति निःशंक वर्ती जाती है।

इस तरह हमलोग भलीभाँति समझ सकते हैं कि राजके हस्तक्षपद्वारा पूँजीवादकी बुराइयोंसे छुटकारा पानेकी लम्बी-लम्बी वातें अथवा साम्राज्यवादी शासनका भार धीरे-धीरे जनताके हाथमें सौंप देनेकी चर्चा बहानामात्र है, कोई वास्तविकता उसमें नहीं है क्योंकि शोषकोंकी अवस्थामें किसी तरहका परिवर्तन नहीं हो रहा है, वल्कि उनकी हालत दिनोदिन बिगड़ती जा रही है। उद्योग-प्रधान अथवा अधीनस्थ दोनों देशोंकी हालत समान है। इसकी असली कसौटी तो यह है कि सरकारकी सहायतासे जनताकी हालतमें किस तरहका सुधार हुआ है? ऐसे कामोंमें भी जहाँ व्यक्तिविशेषके हाथसे काम निकालकर म्युनिसिपैलिटी वा कारपोरेशनके हाथमें दे दिया गया है, वास्तविकता क्या है। म्युनिसिपैलिटीद्वारा बड़े-बड़े वेतनभोगी दो-चार कर्मचारी भले ही रख लिये गये हों, लेकिन जनताको किसी तरहकी सुविधा नहीं हो सकी है। इससे प्रत्यक्ष है कि शासनका यन्त्र जनताके कल्याणके लिए नहीं चलता। प्रत्येक देशमें मजूरोंका शोषण उसी प्रकार हो रहा है। यदि मजूर-संघ और ट्रेड यूनियन न कायम हुए होते तो मजूरोंकी हालत और भी खराव हो गयी होती। इन संस्थाओंने पूँजीपतियोंको बाध्य किया और मजूरोंकी थोड़ी-बहुत आवश्यक माँग पूरी की जा सकी। लेकिन अब तो धीरे-धीरे मध्यम श्रेणीके लोग भी मजूरोंमें ही परिणत होते जा रहे हैं क्योंकि अपनी स्वाधीनता गँवाकर वे पूँजीपतियोंके दास बनते जा रहे हैं और वे भी

अपर्याप्त और खराब भोजन, तथा निवासकी असुविधाका शिकार बन रहे हैं। १६११ की जनगणनाके अनुसार ब्रिटिश जनताके ८८·४ फी सदी मजूर थे और केवल ५·५ फी सदीके हाथमें उत्पादनका साधन था जो मजूरीपर लोगोंसे काम लेते थे। केवल ६ फी सदी लोग ऐसे थे जो अपनी इच्छाके अनुसार काम करनेवाले कहे जा सकते थे।* अधिकाधिक पूँजीवादी समाधिपत्यके साथ-साथ प्रगाढ़तम राष्ट्रीयताके प्रस्थापनका फल यह हुआ है, काम करनेवालोंकी संख्या दिनोदिन घटायी गयी है। परिणामस्वरूप बेकारोंकी संख्या दिन-दिन बढ़ती गयी है। उद्योगधन्धोंपर राष्ट्रका नियन्त्रण हो जानेपर भी इस समस्याके हलका कोई सुगम मार्ग नहीं दिखायी देता है, बल्कि हालत दिनोदिन बिगड़ती जा रही है और अमेरिकाके समान समृद्ध देशोंको भी यह समस्या सता रही है। १९३३ में अमेरिकामें बेकारोंकी संख्या १४० लाख थी अर्थात् समूची आबादीका १०वाँ हिस्सा। इससे भारतके समान दरिद्र देशकी हालतका सहजमें अन्दाजा लगाया जा सकता है। जहाँ साम्राज्यवादी विदेशी सत्ताकी शोषणनीतिके कारण गरीबी दिनोदिन बढ़ती जा रही है। ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ कालके भीतर ही इस देशमें मध्यम श्रेणीके लोग नहीं रह जायँगे क्योंकि मध्यम वर्गके लोग मजूर बनते जा रहे हैं और किसानवर्ग अकाल और महामारियोंका शिकार होता जा रहा है जिसे हमलोग बंगाल तथा बिहार आदि प्रान्तोंमें प्रत्यक्ष देख रहे हैं। जबतक वह अपने प्रतिद्वन्द्वीका सफलतापूर्वक मुकाबला करता

* जान स्ट्रेची—ह्वाट आर वी टु डू पृ० १५

रहेगा तबतक साम्राज्यवादी शासनको इन बातोंकी लेशमात्र भी परवा नहीं है।

ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे स्पष्ट है कि साम्राज्यवादी डिमाक्रेसीसे यह समस्या हल होनेके बजाय दिनोंदिन संगीन होती जायगी। संसारकी दो बड़ी डिमाक्रेसी—ब्रिटेन और अमेरिका—अपनी साम्राज्यवादी शक्तिके विस्तारकी ही धुनमें हैं और उपनिवेशोंपर अपनी प्रभुता बढ़ाना ही चाहती हैं। उपर्युक्त बात ब्रिटेनके भूतपूर्व प्रीमियर श्री चर्चिलके इस वक्तव्यसे स्पष्ट हो जाता है कि ब्रिटेनके अधीन जो कुछ है उसपर वह अपना पूर्ण अधिकार बनाकर रखेगा और उसके अधीनस्थ देशोंकी समस्या ब्रिटेनकी घरेलू समस्या है और उनका उपयोग वह विश्वकी शान्ति बनाये रखनेमें करेगा और कमजोर देशोंको औद्योगिक विकासके लिए ब्रिटेन, अमेरिका तथा रूसके बीच बाँट दिया जायगा और वे लोग अपने प्रतिद्वन्द्वियोंको इस प्रकार पंगु बना देंगे कि जो व्यवस्था ये लोग कायम करें उसमें बाधा उपस्थित करनेवाला कोई न रह जाय। और यह सब स्वाधीनता, सभ्यता, विश्वशान्ति और डिमाक्रेसीके नामपर कहा जाता है। साम्राज्यवादी लुटेरोंका फौलादी पंजा ज्यों-ज्यों फैलता जायगा त्यों-त्यों उदार और मनोहर भावनाएँ व्यक्त की जायँगी। उदार आदर्शोंके पीछे इनका खूँखार पंजा छिपा है। ऊपरसे तो उदारताकी आशापूर्ण घोषणा की जाती है लेकिन भीतर-भीतर लूट-खसोटकी नीतिको पुष्ट करनेका यत्न होता रहता है।

पूँजीपतियोंकी इस साम्राज्यलिप्साको तृप्त करनेके लिए राष्ट्रकी संचित पूँजी पानीकी तरह बहायी जाती है और देशके

नौनिहालोंको जबर्दस्ती रक्तपात करना और अपना सिर कटाना पड़ता है, चाहे वे उसे चाहें या न चाहें। भारतके समान गुलाम देशोंके धन-जनका तो मनमाना उपयोग किया जाता है। भारतीयोंसे पूछनेतककी आवश्यकता नहीं समझी जाती। यदि इसीको आजादी और डिमाक्रेसी कहते हैं तो फिर गुलामी क्या चीज़ है ?

सभी बातोंपर विचार करनेपर इसी निष्कर्षपर पहुँचना पड़ता है कि प्राचीन युगका वैयक्तिक पूँजीवाद आधुनिक पूँजीवादसे कहीं अच्छा था, क्योंकि वर्तमान पूँजीवाद डिमाक्रेसीके नामपर राष्ट्रके जन-धनके साथ सत्यानाशी खेलवाड़ कर रहा है। इसने ऐसा भयानक रूप धारण कर लिया है कि सरकारें उसके हाथकी कठपुतली बन गयी हैं और अपनेको दृढ़ तथा बलशाली बनानेके लिए वह राष्ट्रके सभी साधनोंका मनमाना प्रयोग करता है। सच बात तो यह है कि लोकतान्त्रिक देशोंका शासन पूँजीपतियोंकी अधिनायकशाही है। इस शासनका आधार विश्वासघात, ठगी और हिंसा है। इसमें व्यक्तिगत लाभका प्रश्रय दिया जाता है, सार्वजनिक हितकी तरफ़ किसीका भी ध्यान नहीं रहता।

२—फासिस्टवाद

विकासवादकी एक अवस्थापर पहुँचकर पूँजीवाद अपना नकली आवरण उतारकर फेंक देनेका निश्चय करता है और अपना असली रूप प्रकट करता है। ऊपर कहा गया है कि

लोकतान्त्रिक राष्ट्रोंमें पूँजीवाद यह आवरण लेकर प्रकट होता है कि इसका संचालन जनताकी इच्छासे हो रहा है।

लेकिन हमलोग देख चुके हैं कि यह बहानामात्र है। व्यवहारमें तो उन लोकतन्त्रोंमें भी पूँजीपतियोंका ही पूर्ण अधिकार राष्ट्रपर रहता है और बिना किसी विघ्नबाधाके वे राष्ट्रका प्रयोग अपने स्वार्थ-साधनके लिये करते हैं। फासिस्टवादमें जनताकी इच्छाका कोई मूल्य नहीं है। राष्ट्र सब कुछ है। इस तरह डिमाक्रेसीका आडम्बर भी हटा दिया जाता है और उसके स्थानपर अधिनायकशाही स्थापित हो जाती है जो निरंकुशताके साथ खुल्लमखुल्ला जनतापर जुल्म ढाहती है। पूँजीपतियोंकी इस तरहकी अधिनायकशाही उन देशोंमें कायम हो जाती है जहाँ जनताकी विरोध भावना उग्रतर होने लगती है और पूँजीपति भयभीत होकर उसका दमन करनेके लिए राष्ट्रकी शक्तिका प्रयोग करता है।

इस तरह समस्त उपकरणोंके साथ पूँजीवादका एकाधिपत्य स्थापित हो जाता है और उसका आतंक सबपर छा जाता है। मजूर, शिक्षित समाज, मध्यम वर्गके लोग, छोटे व्यापारी तथा दूकानदार सभी त्रस्त हो उठते हैं क्योंकि इसके भयानक विस्तारका प्रभाव सबपर पड़ता है और सबकी जीविकाके साधनोंका अपहरण होने लगता है; दूसरे, इस आर्थिक राष्ट्रीय व्यवस्थाके अन्तर्गत करोंकी बेतहाशा वृद्धि होने लगती है और साधारण जनता इस असह्य बोझके भारसे दबने लगती है। इसका फैलाव अन्ततोगत्वा भयानक हो उठता है। इस व्यवस्थासे असन्तुष्ट और क्षुब्ध सारी शक्तियाँ समाजवादकी तरफ दौड़ पड़ती हैं।

कोमल भावनाओंके जालसे वे ठगी नहीं जाना चाहतीं और इसका मुकाबला करनेके लिए वे संगठित होने लगती हैं।

यह व्यवस्था उत्पन्न होनेपर पूँजीपति इन विद्रोही शक्तियोंको उनके ही खिलाफ उभाड़कर प्रयोग करनेका रास्ता ढूँढ़ने लगता है। शासन उन्हें रास्ता बतला देता है। वह राष्ट्रकी उन शक्तियोंकी पीठ ठोंकने लगता है जिनका उपयोग वह उन्हें नष्ट करनेमें कर सकता है। डिमाक्रेसीकी भाँति यहाँ भी मध्यम वर्गके कतिपय लोगोंको ऊँचे ऊँचे पद देकर अपने वशमें किया जाता है। इससे फासिस्टवादी राष्ट्रको जनतन्त्रका रूप मिल जाता है और इनकी सहायतासे अमन और शान्तिके नामपर विद्रोही शक्तियोंपर अनवरत प्रहार होने लगता है और इस तरह जनताकी विद्रोही भावना निर्दयताके साथ कुचल दी जाती है।

(क) ऐतिहासिक

फासिस्टवादका उदय इटलीमें मुसोलिनीके अधिनायकत्वमें (१८८३–१९४५) में हुआ। प्रथम विश्व-युद्धके बाद जब सेनाका विघटन होने लगा तब अधिकार लोलुप मुसोलिनीने इटलीकी बढ़ती बेकारी और दुर्दशाका लाभ उठाकर सैनिकों और क्षुब्ध निम्नश्रेणीके मध्यमवर्गके लोगोंका सैनिक-सङ्गठन किया। इन लोगोंके पास किसी तरहकी सम्पत्ति नहीं थी। इसलिए वे पूँजीपतियोंके शत्रु थे और समाजवादियोंके साथ मिलकर इन्होंने अपने पूँजीवादी-विरोधी नारे बुलन्द किये। इससे असंख्य बेकार मध्यम श्रेणीके लोग इनके साथ हो गये। उन किसानों तथा अन्य लोगोंने भी इनका साथ दिया जो धनिकों और सम्पत्तिवालोंके दुश्मन थे। लेकिन मुसोलिनी समाजवादका

कट्टर शत्रु था। आरम्भमें यह स्वयं समाजवादी था लेकिन प्रथम विश्व-युद्धके समय यह राष्ट्रवादी बन गया और युद्धमें इटलीके शामिल होनेका समर्थन करने लगा, इसलिए यह पार्टीसे निकाल दिया गया। इस तरह समाजवादका कट्टर शत्रु बनकर उसने अपने सङ्गठनका प्रयोग उन समाजवादियोंके संहारमें किया जो ट्रेड यूनियनोंका पूर्ण सङ्गठनकर समाजवादी जनतन्त्र शासन कायम करनेके लिए क्रान्तिके पथपर थे। मजूरोंकी इस बढ़ती शक्तिसे इटलीके पूँजीवादी घबरा उठे थे। उन्होंने मुसोलिनीके आन्दोलनका समर्थन किया, उसे आर्थिक सहायता दी और उसके द्वारा मजूरों और समाजवादियोंकी बढ़ती शक्तिके संहारका उपक्रम हुआ। इस तरह मुसोलिनीको धनिकों और गरीबों दोनोंसे मदद मिली। गरीबोंके सहयोगसे दलकी शक्ति बढ़ी और इसने जन आन्दोलनका रूप धारण कर लिया और धनिकोंकी मददसे उसने अधिकार प्राप्त करनेकी अपनी लालसा पूरी की, शासनपर कब्जा कर लिया और अपने विरोधियों तथा समाजवादी मजूरोंपर जुल्म ढाहना आरम्भ कर दिया।

फासिज्मके पास भविष्यके लिए कोई स्वतन्त्र आर्थिक नीति या फिलासफी नहीं है। तात्कालिक आर्थिक व्यवस्थाके सुधारके लिए उसके पास कोई समाधान नहीं है। वर्तमान पूँजीवादी व्यवस्थाका ही वह हामी है। पूँजीवादके साथ केवल वह राष्ट्रीयता शब्द जोड़ देता है। फासिस्टवादके बारेमें स्वयं मुसोलिनी ने कहा है - फासिस्टवादका सम्बन्ध किसी स्थिर सिद्धान्तसे नहीं है, वह अनवरत एक ही आदर्शकी ओर आगे बढ़ता

है अर्थात् इटलीकी जनताका भावी कल्याण।") यह आदर्श इटलीके फासिस्टवादका कोई अनोखा आदर्श नहीं है। जो भी दल अधिकार प्राप्त करना चाहता है, वह यही नारा बुलन्द करता है। लेकिन फासिस्टोंके साथ यह नारा केवल वोट (मत) प्राप्त करनेके लिए नहीं था। यह दिली भावना थी। इसकी दृष्टि इटलीके अतीत इतिहासपर थी और प्राचीन रोम साम्राज्यके यशको वह पुनः प्रतिस्थापित करना चाहता था और प्राचीन रोमके निशानको (लट्ठोंका एक बण्डल और बीचमें कुल्हाड़ा) इसने अपना निशान बनाया था जो मजिस्ट्रेटों और सम्राटोंके आगे-आगे चलता था। इस निशानका अर्थ यह था कि जो लोग राष्ट्रके विरुद्ध किसी तरहका षड्यन्त्र रचेंगे उन्हें सख्त सजाएँ दी जायँगी और वे फाँसीपर लटका दिये जायँगे। अभिवादनके लिए भी उसने प्राचीन रोमका ही तरीका अख्तियार किया अर्थात् हाथ ऊपर उठाकर फैला देना। प्राचीन रोमका यह साम्राज्यवादी उपक्रम पूँजीपतियोंको सर्वथा अभीष्ट था क्योंकि इसी उपायसे वे उपनिवेशोंकी स्थापना कर अपने अभीष्ट-को सिद्ध कर सकते थे। इसीलिए उन लोगोंने मुसोलिनीकी सहायता की और अधिकार छीनकर वह इटलीका एकमात्र अधिनायक बन बैठा।

(ख) फासिस्टवादका रूप

(१) सामूहिकता—अधिनायक और उसके दलके लोग ही इसमें सर्वेसर्वा बन जाते हैं। विरोधियों और आलोचकोंका मुँह बन्द कर दिया जाता है। इस तरहके राष्ट्रको सामूहिक राष्ट्र कहते हैं क्योंकि अधिनायक और उसके समूहके लोग ही

शासन करते हैं। शासनके काममें प्रतिद्वन्द्वी दलका कहीं नामो-निशान नहीं रह जाता। विरोधी दल गैर-कानूनी करार दे दिया जाता है और उसकी स्थापनापर प्रतिबन्ध लगा दिया जाता है। विरोधी दलके नेताओंको गिरफ्तार कर लिया जाता है और उन्हें अनेक तरहके कठोर दण्ड दिये जाते हैं। शासनके विविध पद अधिनायकके समर्थकोंको ही दिये जाते हैं और जो लोग विरोधी दलके साथ किसी तरहकी सहानुभूति प्रकट करते दिखायी देते हैं वे पदच्युत कर दिये जाते हैं और उन्हें कड़े दण्ड दिये जाते हैं। विरोधियोंका पता लगानेके लिए देशमें खुफियोंका जाल बिछा दिया जाता है। इस तरह विरोधी चुन-चुनकर खत्म कर दिये जाते हैं और देशका शासन अधिनायकके इच्छानुसार चलता है। विरोध करनेका साहस किसीमें नहीं रह जाता और जनता भेड़ बकरीकी तरह आज्ञाओंका पालन करती है।

(२) स्वतन्त्रताका अपहरण :—मिलने-जुलने, बोलने, लिखने तथा संगठन करनेकी स्वतन्त्रताका अपहरण कर लिया जाता है और पूरी निरंकुशतासे काम लिया जाता है। जनता तबतक स्वाधीनताका उपभोग कर सकती है जबतक पूँजीवादपर किसी तरहका खतरा उसकी हरकतोंसे नहीं उपस्थित हो सकता, लेकिन खतरेका आभास मिलते ही हर तरहकी स्वतन्त्रता छीन ली जाती है और दमनका बाजार गर्म हो जाता है। यह सब इस सिद्धान्तके अनुसार किया जाता है कि १९वीं सदीका यह सिद्धान्त कि 'जनताके स्वतन्त्र मत ग्रहणद्वारा शासन करना चाहिये' पूर्णतया असिद्ध हुआ है। राष्ट्रके प्रतिनिधि राजके हाथमें

व्यक्तिके ऊपर पूरा अधिकार होना चाहिये और व्यक्तिको राजमें पूर्णतः समा जाना चाहिये तभी वह राजके प्रति अपने कर्तव्य-का पूरा पालन कर सकता है। राज ईश्वर है और उसकी वेदीपर व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और अधिकारको बलि चढ़ा देना चाहिये।

(३) राष्ट्रीयता—डिमाक्रेसीकी भाँति यहाँ भी आदर्शवादकी दुहाई दी जाती है लेकिन स्वाधीनताके नामपर नहीं, बल्कि देशभक्तिके नामपर। क्योंकि हर तरहकी वैयक्तिक स्वाधीनताका तो अपहरण कर लिया जाता है, जनताके ऊपर नकली देश-भक्तिका बोझ लाद दिया जाता है और इस तरह देशकी महत्ता-का राग अलापा जाता है, देशके प्राचीन गौरवका राग अलापकर युवकोंको उत्तेजित किया जाता है और इस तरह उन्हें राज और अधिनायककी पूजाके लिए तैयार किया जाता है।

देशभक्तिको इस तरह जगाकर उसका दुरुपयोग किया जाता है और देशमें एक प्रकारका निरंकुश शासन कायम किया जाता है जिसका नाम आर्थिक राष्ट्रीयता रखा जाता है। इसके अनुसार राज कर्ज, सहायता तथा चुंगीके द्वारा पूँजी-पतियोंकी सहायता करता है। इससे करमें वृद्धि होने लगती है, वस्तुओंका दाम बढ़ जाता है और जनताका उत्पीड़न होने लगता है लेकिन पूँजीपति इन सब बातोंकी ओर ध्यान नहीं देता।

(४) युद्ध—पूँजीवादके अन्तर्गत इस आर्थिक राष्ट्रीयता-का फल यह होता है कि आर्थिक सङ्घर्ष आरम्भ हो जाता है और अन्तर्राष्ट्रीय कलहकी नौबत आ जाती है। जनताको युद्धके लिए

प्रेरित करनेके निमित्त यह कहा जाता है कि उपनिवेशोंकी प्राप्ति

बिना देशका विस्तार नहीं हो सकता और देशके विस्तार बिना जनताके कष्ट दूर नहीं हो सकते। लेकिन इन युद्धोंका वास्तविक उद्देश्य रहता है कच्चा माल प्राप्त करनेके लिए, तैयार मालको खपाने तथा फाजिल पूँजीको लगानेके लिए बाजार प्राप्त करना। १९१४-१८ के प्रथम विश्व-युद्धके परिणामसे निराश होकर इटलीने यही किया था। लेकिन पूँजीपतियोंको लाभ पहुँचानेके लिए युद्धमें प्रवृत्त होकर कौन अपनी जान और अपना माल गँवानेका प्रयास करेगा? इसलिए यह प्रचार किया जाता है कि राष्ट्रके कल्याणके लिए नये उपनिवेशोंकी प्राप्ति आवश्यक और अनिवार्य है। इसके बिना देशका पतन अवश्यम्भावी है।

इटलीके सम्बन्धमें मुसोलनीने कहा था—इटलीकी जनसंख्या फ्रांसकी जनसंख्याके बराबर है लेकिन इटलीका विस्तार फ्रांसका आधा है, और फ्रांसके उपनिवेशोंके मुकाबले इसके पास १/१२ उपनिवेश है और ब्रिटेनके मुकाबले तो केवल १/६० है। इसलिए अपनी फाजिल जनसंख्याको बसानेके लिए इटलीको नये उपनिवेश प्राप्त करना आवश्यक और अनिवार्य है। लेकिन कहाँसे और किस तरह? इटलीके वर्तमान साधन उसकी ४ करोड़की आबादीके लिए पर्याप्त नहीं है। ज्यों ज्यों इसकी आबादी बढ़ती जायगी त्यों त्यों उसकी कठिनाई भी बढ़ती जायगी। उस दिन इसकी क्या हालत होगी? आर्थिक और राजनीतिक दासता।*

इस तरह जनताको असमानता, अन्याय और देशभक्तिके नामपर उभाड़ा जाता है और समस्त राष्ट्रके मनमें यह विश्वास उत्पन्न किया जाता है कि यदि नये उपनिवेश प्राप्तकर

* कोटेड बाई नार्मन अंगेल इन दी ग्रेट इल्यूजन नाऊ पृ० ७१-७२

देशका विस्तार नहीं किया जायगा तो लोग भूखों मर जायँगे और विश्वकी सम्पत्तिका उसे उचित भाग नहीं मिलेगा। इस तरह वह मरने और मारनेके लिए तैयार हो जाता है—धन और लाभके लिए नहीं बल्कि न्यायके लिए, मानवताके मौलिक अधिकारोंके लिए, जीनेके लिए ! इस तरह राष्ट्रीय जोश उत्पन्न किया जाता है, उसे उभाड़ा जाता है और संहारके लिए उसे तैयार किया जाता है।

इन उपायोंसे जनताको युद्धके लिए सन्नद्ध किया जाता है और वह देशभक्तिके नामपर अपना सब कुछ निछावर कर देती है। युद्धमें यदि विजय मिली तो लाभ होता है पूँजीपतिको। उसे अपने व्यापारको फैलानेके लिए नये उपनिवेश मिल जाते हैं। इसके साथ ही पूँजीपति तथा शासन व्यवस्थासे असन्तुष्ट जनताका ध्यान दूसरी तरफ आकृष्ट करनेका अवसर मिल जाता है क्योंकि कुछ कालके लिए वे उत्पीड़नोंको भूल जाती है और उसका ध्यान उस विदेशी शक्तिकी ओर खिंच जाता है। इस तरह हम देखते हैं कि फासिस्टवादका सबसे उपयुक्त हथियार युद्ध है। इससे मानो वह पूँजीपतियोंके लिए नया उपनिवेश तैयार करता है अथवा जनशक्तिको उस तरह भिड़ाये रखकर अपने विरोधका मार्ग साफ रखता है। इसलिए युद्धोंकी प्रशंसा की जाती है। कहा जाता है कि युद्धसे साहस, वीरता, अनुशासन कार्य-कुशलता, देश-भक्ति, त्याग आदि भावनाओंका उदय होता है और उज्वल चरित्रका निर्माण होता है।

फासिस्टोंकी इस मनोवृत्तिको तबतक दूषित नहीं कहा जा सकता जबतक कि बड़े बड़े औद्योगिक राष्ट्रोंके अधीन इतने

ज्यादा उपनिवेश रहेंगे। जिन लोगोंने सब कुछ हड़प लिया है और उसपर अपना आधिपत्य बनाये रखना चाहते हैं, तबतक उन लोगोंकी प्रवृत्ति युद्धकी ओर होना स्वाभाविक है जिनके पास नहीं हैं क्योंकि वे उसमें हिस्सेदार होना चाहते हैं। इसलिए फासिस्ट शक्तियोंको युद्धके लिए प्रेरणा देनेकी सारी जिम्मेदारी यूरोपीय डिमाक्रेसीके ऊपर है।

तो भी भौमिक विस्तारकी लिप्साका समर्थन किसी भी प्रकार नहीं किया जा सकता। उदाहरणके लिए यदि चीन और भारतके समान देश जिसके पास कोई भी उपनिवेश नहीं है— उपनिवेश प्राप्त करना चाहें, क्योंकि उन्हें भी विस्तारकी नितान्त आवश्यकता है तो विश्वमें जगह कहाँ मिलेगी। इसके साथ ही विस्तारका स्पष्ट अर्थ होता है दूसरोंकी-भूमि हड़प लेना। इसलिए फासिस्टवादका भौमिक विस्तारका दावा उचित होने-पर भी नैतिक दृष्टिसे उसका समर्थन नहीं किया जा सकता। लेकिन राजनीति और अर्थनीतिके काममें 'नैतिकता' शब्दके लिए स्थान ही नहीं है। कमसे कम उन पूँजीपतियोंके लिए तो इस शब्दका कोई महत्त्व नहीं है जो बड़े बड़े आदर्शोंके भुलावामें डालकर राष्ट्रको संहारक युद्धोंमें रत करते रहते हैं।

ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे स्पष्ट है कि इटलीके फासिस्टवाद और ब्रिटेन तथा अमेरिकाकी डिमाक्रेसीमें कोई अन्तर नहीं है क्योंकि बाहरी स्वरूपमें अन्तर होनेपर भी दोनों-का भीतरी रूप समान है। दोनोंमें राष्ट्रका नियन्त्रण पूँजी-पतियोंके हाथमें है। केवल मात्र अन्तर दोनोंमें इतना ही है

कि दिखावाके लिए अमेरिका और ब्रिटेनमें वैयक्तिक स्वतन्त्रता-

की रक्षा की जाती है जिसका फासिस्टवादमें सर्वथा अभाव है।

३—नाजीवाद

(क) ऐतिहासिक—

इटलीके फासिस्टवादके समान ही जर्मनीमें भी अडल्फ हिटलर (१८८६-१९४५) के अधीन इस आन्दोलनका जन्म हुआ। मुसोलनीके समान हिटलर भी समाजवादका शत्रु था। प्रथम विश्व-युद्धके बाद जर्मनीमें समाजवादियोंकी प्रभुता कायम हुई, ये अपनेको सोशल डिमाक्रेट कहते थे। इनकी रूप-रेखा इङ्गलैण्डके मजूरदलके समान थी। जर्मनीके सोशल डिमाक्रेटोंका सिद्धान्त समाजवादियोंसे कहीं नरम था, अर्थात् वास्तविक श्रमजीवियों—जिन्हें साम्यवादी कहते हैं—के सिद्धान्तके समान नहीं था। हिटलर समाजवादके प्रत्येक रूपका शत्रु था। इस तरह वह सोशल डिमाक्रेट और साम्यवादी दोनोंका दुश्मन था।

१९२३-२४ की मुद्रा-स्फीत नीतिका मध्यम वर्गके जिन लोगोंको शिकार होना पड़ा था उन्हें तथा सेनाके उन लोगोंको जो बेकार हो गये थे, उसने एकत्र किया। इनके सहयोगसे हिटलरने एक नयी पार्टीको जन्म दिया और उसका नाम रक्खा गया नेशनल सोशलिस्ट अर्थात् राष्ट्रीय समाजवादी दल। समाजवादका एक भी सिद्धान्त इस दलने नहीं अपनाया था। यह नामकरण इसलिए किया गया था ताकि यह दल उनलोगोंकी भी सहानुभूति प्राप्त कर सके जिनका झुकाव समाजवादकी तरफ था। नाजी शब्दका निर्माण, नेशनलिज्म शब्दसे 'ना' तथा सोशलिज्म-शब्दसे 'जी' लेकर हुआ है अर्थात् जर्मनीके लोग समाजवाद-

के लिए हैं। समाजवादके कट्टर शत्रु होते हुए भी कुछ कालके लिए नाजियोंने अपनेको समाजवादीके नामसे प्रसिद्ध किया तो भी उन्हें पूँजीपतियोंसे आर्थिक सहायता मिलती रही। नाजी-वादका संगठन उन मध्यम वर्गद्वारा हुआ था जिनका सर्वस्व अपहरण कर लिया गया था। ये लोग पूँजीपतियोंकी बराबर निन्दा करते रहते थे इसलिए इनके साथ उन लोगोंकी भी सहानु-भूति हुई तो पूँजीवादके विरोधी थे। इस तरह इस दलका बल इतना ज्यादा बढ़ा कि इसने जन-आन्दोलनका रूप धारण कर लिया और इटलीके फासिस्टोंसे यह दल कहीं ज्यादा बलशाली हो गया। जनताकी जितनी सहानुभूति जर्मनीका नाजीवाद प्राप्त कर सका उतनी इटलीका फासिस्टवाद नहीं प्राप्त कर सका। नाजीवादका सिद्धान्त पूँजीवाद तथा उसके विरोधियोंका विचित्र सम्मिश्रण था। इन विरोधी तत्वोंको उसके जन्मदाता हिटलरने अपने व्यक्तित्वसे एक साथ मिला कर रक्खा।

पूँजीवादकी एकमात्र आकांक्षा यही रहती है कि उसके अध्यवसाय फलते फूलते रहें और समाजवादके सिद्धान्तोंका दमन होता रहे। हिटलर स्वयं समाजवादका शत्रु था। इस-लिए बिना किसी रोक-टोक या विघ्न-बाधाके उसे अधिकारारूढ़ होने दिया गया और वह जर्मनीका डिक्टेटर बन बैठा। उसे बड़े बड़े जमींदारों तथा उन जर्जर लोहेके व्यापारियोंने सहायता प्रदान की जिन्हें यह आशा थी कि अधिकार पदपर आसीन होकर हिटलर उनकी आर्थिक सहायता करेगा। ये जमींदार और उद्योगपति स्वयं नाजी विरोधी थे लेकिन अपनी उन्नतिके लिए ये हिटलरसे लाभ उठाना चाहते थे। उनका प्रयत्न सफल

भी हुआ। उदाहरणके लिए, नाजी दलके आधारस्तम्भ मध्यम वर्गके लोग थे। नाजीवादका उदय बड़े बड़े उद्योगपतियोंसे इनकी रक्षा करनेके उद्देश्यसे हुआ था लेकिन अधिकार पदपर आरूढ़ होते ही नाजीदलने छोटे छोटे कारोबारको यह कहकर बन्द कर दिया कि वे व्यर्थ हैं और इन छोटे छोटे कारोबारके मालिक बड़े बड़े कारखानोंके मजूर बना दिये गये। इतना ही नहीं, सरकारी कोषकी सहायतासे लोहेके इन व्यापारियोंने अपने कारोबारको खूब बढ़ाया और हिटलरको बाध्य किया कि वह अपने दलसे उन लोगोंको अलग कर दे जिनका झुकाव समाजवादकी ओर था। इसका परिणाम १९३४ के ३० जूनका वह रक्तपात है जिसमें ३०० से १००० तक व्यक्ति अचानक गिरफ्तारकर कत्ल कर दिये गये। इनमें अनेकों ऐसे थे जिनके ही कारण हिटलरको सफलता प्राप्त हुई थी। इस तरह समाजवादियों तथा उदार विचारवालोंका सफाया कराकर उन उद्योगपतियों तथा युद्ध-प्रकृतिके लोगोंने हिटलरको हथियारोंसे सुसज्जित होने तथा साम्राज्यवादी नीतिको तेजीसे अख्तियार करनेके लिए प्रवृत्त किया। १९४४ के १२ नवम्बरको संयुक्तराष्ट्र अमेरिकाके फौजी सब-कमेटीके डिपार्टमेंटने लिखा है—जर्मनीके उन उद्योग-पतियोंने, जो व्यापारमें एकाधिपत्य प्राप्त करना चाहते थे—जर्मनीके विस्तारके लिए सतत और अनवरत प्रयत्न किया और अपने इस अध्यवसायकी पूर्तिके लिए उन्होंने खुले दिलसे हिटलरका साथ दिया। इसलिए उन लाखों नाजियोंको जिन्होंने इस कामको पूरा किया—दण्ड देनेकी अपेक्षा उन १०,००० प्रमुख उद्योगपतियोंको दण्ड देना कहीं ज्यादा उपयुक्त होगा।

विरोधियोंका दमन करनेमें इटलीसे भी ज्यादा उग्रता दिखलायी गयी। आतंकका राज्य हो गया और जिनपर हिटलर तथा उसके दलके विरोधी होनेका लेशमात्र भी सन्देह हुआ उसे पकड़ लिया गया और उसका अन्त कर दिया गया। उदार विचार रखनेवाले तथा शान्तिका उपदेश देनेवाले और समाजवादी एक-एककर पकड़ लिये गये। मजूर-वर्गके इस तरहके लोगोंको विशेष रूपसे खत्म किया गया। जर्मनीके पूँजीवादियोंने अपनी अभिलाषा पूर्ण करनेके लिए हिटलरका हर तरहसे उपयोग किया।

(ख) नाजीवादका स्वरूप—

(१) फासिस्टवाद—जर्मनीके नाजीवादका प्रत्यक्ष वही रूप है जो इटलीके फासिस्टवादका। फासिस्टवादके सभी अवयव इसमें वर्तमान हैं। इसलिए उनकी विस्तृत व्याख्या इस स्थलपर अनावश्यक है। जहाँतक राष्ट्रीयताका सम्बन्ध है दोनोंमें भारी भेद है। नाजीवादकी राष्ट्रीयता संकीर्ण साम्प्रदायिकताके आधारपर अवलम्बित है।

(२) यहूदी-विरोधी—नाजियोंकी राष्ट्रीयताका आधार साम्प्रदायिकता थी। जर्मन जातिको आर्य जातिका मानकर उन्होंने उसे विद्या और बुद्धिमें सबसे श्रेष्ठ माना। उनका कहना था कि इन गुणोंके कारण उसे अन्य सभी जातियोंपर शासन करनेकी गुरुता प्राप्त है और इस महत् उद्देश्यकी सिद्धिके लिए उसकी जातीयताको अक्षुण्ण और अमिश्रित बनाये रखना आवश्यक है। इसलिए उन्होंने प्राचीन आर्योंके चिह्न स्वस्तिकको अपना चिह्न बनाया। अपनी श्रेष्ठताका अभिमान और दूसरोंकी हीनताके

प्रति घृणाका भाव भरकर उन्होंने विश्वविजयी बननेकी आशा की। यह कल्पना जर्मनीके पूँजीपतियोंके अनुकूल थी क्योंकि उन्हें अपने विस्तारके लिए उपनिवेशोंकी आवश्यकता थी।

जर्मनीमें अनार्य जातिके लोग यहूदी ही थे। जर्मनोंने उनके खिलाफ अपनी सारी शक्ति लगा दी। हिटलरका कहना था कि अन्तर्जातीय विवाहद्वारा यहूदी लोग जर्मन जातीयताकी पवित्रताको नष्ट कर उनका ह्रास करते जा रहे हैं और आर्य जर्मन जातिसे विश्व विजयको छीन लेना चाहते हैं। पश्चिममें फ्रांस था, जो यहूदियोंका गढ़ है। फ्रांस यहूदी पूँजीपतियोंके पूर्णतया अधीन है और पूर्वमें रूस है जो यहूदी कार्लमार्क्सकी नयी फिलासफीसे प्रेरणा पाकर यहूदियोंके लिए विश्वपर प्रभुता प्राप्त करना चाहता है। जर्मनी तथा आर्य संसारको यहूदियोंसे बचानेका एकमात्र उपाय फ्रांस तथा रूसका अन्त कर देना है। हिटलरके अनुसार यही उसका उद्देश्य था।

वास्तविकता यह है कि जर्मनीमें यहूदियोंकी प्रधानता थी। छोटे-बड़े सभी उद्योग-धन्धे उनके हाथमें थे। भूमि भी उनके अधीन पर्याप्त थी। इन यहूदियोंके विरुद्ध साम्प्रदायिक उत्तेजना फैलाना सबसे सहज और उत्तम मार्ग समझा गया क्योंकि इस उपायसे उन्हें लूटकर गरीबोंका पेट भी चल सकता था और जर्मन पूँजीपतियोंके सबसे बड़े प्रतिद्वन्द्वीका अन्त भी हो जाता था। ऊपर कहा जा चुका है कि नाजियोंके दलमें ऐसे ही लोगोंकी अधिकता थी जो बेकार और असहाय थे और उनकी जीविकाके लिए साधनकी आवश्यकता थी। पितृभूमिके प्रति अनुरागकी आड़में उन्हें लूटने-खसोटनेका अवसर मिल गया।

उन्होंने यहूदियोंके साथ हर तरहकी पाशविकताका व्यवहार आरम्भ किया और वहिष्कार, निर्वासन, मार-पीट तथा हत्या हर तरीकोंसे काम लेकर उन्हें खत्म करना आरम्भ कर दिया। यहूदियोंके खिलाफ जो आन्दोलन चल रहा था उसकी तहमें उन मध्यवर्गके पेट भरनेका सवाल था जिनके पास जीविकाका कोई साधन नहीं था।

(३) वर्सेईको सन्धिके प्रति विद्रोह—हिटलरके यहूदी-विरोधी आन्दोलनका देश-विदेशमें व्यापक प्रचार हुआ। लेकिन अन्य राष्ट्रोंमें बसे जर्मन जातिको अपनी ओर आकृष्ट किया उसकी जड़ राष्ट्रीयताने। नाजियोंके अनुसार न्यायकी निम्नलिखित परिभाषा थी—राष्ट्रके लिए जो उपयोगी हो वही न्याय है। वर्सेई-की सन्धिमें जर्मनीको पूरी तरहसे पददलित करनेका यत्न किया गया था। जर्मन जातिके हृदयमें बदला लेनेकी आग सुलग रही थी। वह ऐसे नेताकी प्रतीक्षामें थी जो इस काममें उसका नेतृत्व करता। जर्मन साम्राज्यको खण्डित कर अनेक देशोंको दे दिया गया था। वे हर तरहसे छिन्न-भिन्न कर टुकड़ोंमें बाँट दिये गये थे। जर्मनीके पूँजीपति अपनी खोयी भूमिको प्राप्त करना ही चाहते थे, साथ ही नये देशोंको प्राप्त करनेकी चाह भी रखते थे।

(४) सोवियत विरोधी—रूसका सोवियत संघ यूरोपसे लेकर एशियातक फैला हुआ था। सोवियत रूससे ही जर्मनीको नये उपनिवेश मिल सकते थे। इसलिए ज़र्मनीकी गृद्ध-दृष्टि सोवियत रूसपर पड़ी। रूसके पास था और जर्मनीके पास नहीं था इसलिए जर्मनी उसमेंसे हिस्सा बँटानेके

लिए उत्सुक था। इसके साथ ही साथ जर्मनीके पूँजीपति रूसके साम्यवादका भी अन्त चाहते थे। इस काममें हिटलर बड़ी आसानीसे सोवियत रूसके विरुद्ध यूरोपका अग्रणी हो सकता था और अपने इस उद्योगमें वह अपने देशके ही नहीं बल्कि इटली आदि अन्य यूरोपीय साम्राज्यवादी देशोंके पूँजीपतियोंसे भी सहायता प्राप्त कर सकता था यदि उन देशोंको इसकी बढ़ती शक्तिका आतंक न होता और यदि वे इसे शंकाकी दृष्टिसे न देखते होते।

इस तरह हम देखते हैं कि अपनी दो-एक निजी विशेषताके अतिरिक्त नाजीवादका वही रूप था जो फासिस्टवादका था। दोनों वादोंका उद्देश्य एक ही था। दोनों देशोंके पूँजीपति यह देख रहे थे कि मजूरवर्ग क्रान्तिके पथपर है। इससे अपनी रक्षा करनेके लिए उन्होंने नये रूपमें यह प्रयास किया था।

ऊपर जो लिखा गया है उससे स्पष्ट हो जाता है कि राष्ट्र-द्वारा नियंत्रित पूँजीवाद (जैसा कि साम्राज्यवादी डिमाक्रेसीमें है) नाजीवाद अथवा फासिस्टवादमें अन्ततोगत्वा जनसाधारणको कोई अधिकार नहीं रह जाता, पूँजीपति ही सर्वेसर्वा बन जाता है और पूँजीपति अपने लाभके लिए राष्ट्रकी शक्तियोंका उपयोग करता है। यद्यपि यह अंशतः सत्य है कि उन देशोंके औद्योगिक जीवनमें राष्ट्रका हस्तक्षेप बराबर बढ़ता गया है और समय समयपर पूँजीपतियोंके स्वार्थके खिलाफ हस्तक्षेप हुआ है लेकिन वास्तवमें इन राष्ट्रोंका उद्देश्य राष्ट्र और युद्धकी आवश्यकताओंपर दृष्टि रखते हुए पूँजीवादको प्रोत्साहन देना रहा है। पूँजीवादकी अनेक बुराइयोंको दूर कर वे उसमें सुधार

लाना तथा उसकी शक्ति बढ़ाना चाहते हैं। इनका उश्द्देश्य है कि पूँजीवादी प्रथा कायम रहे लेकिन देशकी आर्थिक व्यवस्था अधिक व्यवस्थित रूपसे काम करने लगे। लेकिन कोई अन्य आर्थिक व्यवस्था खड़ी करके वे पूँजीवादको मिटाना नहीं चाहते। जिन तीन देशोंका विवरण ऊपर दिया गया है उनमें जहाँ कहीं राष्ट्रने किसी उद्योगको, यदि अपने हाथमें भी ले लिया है, तो वहाँ उसका उद्देश्य समाजवादकी स्थापना नहीं रहा है, जैसा दावा पेश किया जाता है। इस तरहकी व्यवस्थाको 'समाजवादी पूँजीवाद' या 'राष्ट्रीय समाजवाद' कह सकते हैं। इसमें मजूरोंकी और ज्यादा दुर्दशा होती है। उन्हें कमसे कम मजूरी देनेका यत्न किया जाता है। इसलिए इतना तो स्पष्ट है कि यदि मजूरोंको उचित मजूरी मिली है तो पूँजीवादका किसी भी रूपमें कायम रहना वाञ्छनीय नहीं है। समाजवादमें उसीके लिए प्रयास किया गया है जैसा अगले अध्यायमें दिखलाया जायगा।

अध्याय ३

समाजवाद

पूँजीवादके अध्ययनसे हम इस निष्कर्षपर पहुँचे हैं कि उसके अन्दर सारी मुसीबतोंकी जड़ यह है कि विस्तृत पैमानेपर उत्पादनसे जो लाभ होता है वह सबका सब मालिककी जेबमें चला जाता है। इस उपायसे धनका उपार्जन बहुत अधिक होता है लेकिन मजूरोंको उसका बहुत कम अंश मिलता है। उसी तरह खेतके उत्पादनका बहुत ज्यादा अंश मालिकोंको मिलता है। जबतक भूमि और मशीनोंपर पूँजीपतियोंका अधिकार रहेगा तबतक यही दशा कायम रहेगी। मालिककी हैसियतसे नफापर अपना पूरा अधिकार जमाना वह अपना कर्तव्य समझता है। इस तरह जिस अल्प-संख्यक समुदायके हाथमें ये साधन हैं वह चुपचाप बैठा रहकर मजा उड़ाता है और वह बहु-संख्यक समुदाय जो एँडी चोटीका पसीना एक करके उपार्जन करता है मुश्किलसे अपना पेट चला पाता है। इस व्यवस्थाको दूर करनेका एकमात्र यही उपाय है कि खेतों और मशीनोंपर अधिकार कर लिया जाय, पूँजीवादका अन्त हो जाय और उत्पादनसे जो कुछ प्राप्त हो वह हिस्सा मुताबिक उन लोगोंमें बाँट दिया जाय जो लोग इसके लिए परि-

श्रम करते हैं। प्रश्न यह उठता है कि खेतों और मशीनोंपर अधिकार किसका होगा ? यदि किसी व्यक्ति विशेषके हाथमें इन्हें सौंप दिया जाय तब तो उसी पूँजीवादकी पुनरावृत्ति हो जायगी। इसलिए इसपर समाजका संयुक्त अधिकार होना चाहिये। अर्थात् खेतों और उत्पादनके साधनोंपर समाजका अधिकार हो और उत्पादनसे जो कुछ प्राप्त हो उसे समाजके विभिन्न अंगोंमें कम-वेश बराबर बाँट दिया जाय। इस उपायसे आधुनिक वैज्ञानिक आविष्कारोंका पूरा लाभ समाजको प्राप्त होगा और अरक्षित, असमान विभाजन, गरीबी, वेकारी, वर्गद्वेष, आदि बुराइयोंसे समाजकी रक्षा होगी। उत्पादन व्यक्तिगत लाभके लिए न होकर समाजके कल्याणके लिए होगा। प्रतिस्पर्धाके कारण जो बर्वादी उत्पादनकी होती है वह रुक जायगी। मजूरोंका दुरुपयोग नहीं होगा और कमजोर राष्ट्रपर वलवान राष्ट्रकी गृद्ध-दृष्टि नहीं पड़ेगी। युद्धके लिए प्रेरणाका अन्त हो जायगा। पूँजीवादी व्यवस्थामें लाभके लिए पागल समाजके हृदयसे मानवीय विचारोंका जो सर्वथा लोप हो गया था उसका पुनः उदय होगा और आर्थिक व्यवस्थाका एकमात्र उद्देश्य आवश्यकताके अनुसार उत्पादन रह जायगा। संघर्ष, कलह और मारपीटका स्थान सहयोग, सद्भाव और शान्ति ग्रहण करेंगे और परस्पर मेलके भावका उदय होगा। समाजवादका यही आधारस्तम्भ है। अर्थात् उत्पादन और विभाजनका उद्देश्य व्यक्तिगत लाभ न होकर समुदायका लाभ होगा। इसीलिए इस व्यवस्थाका नाम समाजवाद है जो पूँजीवाद अथवा व्यक्तिवादका विरोधी है।

१—ऐतिहासिक

उत्पादनके साधनोंपर समाजका अधिकार और उत्पादनका आपसमें बँटवारा समाजवादका कोई नया विधान नहीं है। प्राचीन युगमें यह प्रथा कायम थी। उस समय भूमिका मालिक व्यक्ति विशेष न होकर गरोह होता था और उत्पादनका बँटवारा उनके बीच हो जाया करता था। समाजवादने उसी पुरानी प्रथा-को पूँजीवादकी बुराईको दूर करनेके लिए नये रूपसे खड़ा मात्र किया है। विगत शताब्दीके अर्ध शतकमें इंगलैण्ड, फ्रांस तथा अमेरिका आदि देशोंमें कल-कारखानोंने मजूरोंके लिए अनेक तरहकी असुविधाएँ उत्पन्न कर दीं। उन देशोंके विचारवानोंने इन बुराइयोंको दूर करनेके अनेक उपाय निकाले। उनमेंसे यह भी एक उपाय पेश किया गया कि उत्पादनके साधनोंपर समाज-का अधिकार हो और इस उपायका नाम पड़ा समाजवाद।

समाजवाद शब्दका पहले पहल प्रयोग १८३० में रावर्ट ओवेनने किया। यह इंगलैण्डका रहनेवाला कारखानेका अधि-पति था। रावर्ट ओवेन उदार और दयालु था। कारखानोंमें मजूरोंकी दुर्दशा होते देख उसका दिल भर आया और उसने यह इच्छा प्रकट की कि मजूर अपनी सहयोग समितियाँ कायम कर उसीके द्वारा कारखानोंका संचालन करें और उत्पादनको आपसमें बाँट लें। इसके साथ ही मजूरोंका ट्रेड यूनियन (व्यवसाय संघ) दूसरी धारासे, पनपा। इसका उद्देश्य मजूरोंको अधिक वेतन तथा रहन-सहनकी सुविधा दिलाना था। ओवेन तथा उस विचारधाराके अन्य लोगोंके समाजवादी

विचारोंका प्रभाव ट्रेड यूनियन आन्दोलनपर पड़ा और समाजवादकी प्रगतिमें उससे भी सहायता मिली।

ओवेनके समाजवादके अलावा इस तरहकी एक नयी विचारधारा भी यूरोपीय महाद्वीपपर फैल रही थी। इसे अराजकता कह सकते हैं अर्थात् शासनका अभाव! ये अराजक भी समाजवादी थे। लेकिन समाजवादियोंसे उनमें यह अन्तर था कि समाजवादकी तरह ये प्रत्येक वस्तुपर राष्ट्रका नियंत्रण नहीं चाहते थे। वैयक्तिक स्वतन्त्रतापर उन्होंने बहुत अधिक जोर दिया। लेकिन उन्हें यह अभीष्ट नहीं था कि पूँजीपतियोंके जुल्मसे मजूरोंको छुड़ाकर राष्ट्रके जुल्मके अन्दर उन्हें रख दिया जाय। उनका सिद्धान्त था कि शासनका अभाव ही उत्तम शासनका लक्ष्य है। वे वैयक्तिक स्वतन्त्रताके हामी थे। उनका सिद्धान्त था कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी स्वतन्त्र इच्छासे एक दूसरेके साथ सहयोग करे और एक दूसरेके अधिकारोंकी रक्षा करे। ये समाजवादी अराजकताको ही आदर्श मानते थे लेकिन इस अराजकताको सम्पन्न करनेके लिए वे सुदृढ़ समाजवादी शासन आवश्यक समझते थे। अराजकता सिद्धान्ततः भले ही सुन्दर प्रतीत हो लेकिन इसका व्यावहारिक रूप सुखद नहीं हुआ। अनधिकारियोंके हाथमें पड़कर इसका पूरा दुरुपयोग होने लगा। अनाचार बढ़ गया, राजाओं तथा अधिकारीवर्गकी निर्मम हत्याएँ होने लगीं। उनपर बम फेंके जाने लगे। आतंकका राज्य छा गया। अराजकता सिद्धान्तके नेताओंने हिंसाका घोर विरोध किया लेकिन इसका कोई असर नहीं हुआ। परिणामस्वरूप पूरी निर्दयताके साथ इस आन्दोलनका दमन किया गया और इसका अन्त हो गया।

समाजवादका विकास दो प्रधान धाराओंमें हुआ। पहली विचारधाराके वे लोग थे जिनका विश्वास था कि समाजवादकी स्थापना एक दिनमें सम्पन्न नहीं हो सकती। इसे सम्पन्न करनेके लिए जन-साधारण तथा पूँजीपतियोंके हृदयोंमें परिवर्तन करना आवश्यक है। इसके लिए वर्षोंतक परिश्रमकर समाजवादकी भावना इन लोगोंके मनमें भरना होगा। इन्हें हम विकासवादी कहते हैं। इनका कहना है कि मनुष्य समझदार व्यक्ति है। अगर उसे समझा दिया जाय कि वर्तमान आर्थिक व्यवस्था समाजके लिए हितकर नहीं है तो वह उसे बदलनेके लिए तैयार हो जायगा। इसलिए वह प्रत्येक व्यक्तिमें सद्भावना, मानवता और न्यायप्रियता उत्पन्न करना चाहता है और उसका विश्वास है कि अन्तमें न्याय और सत्यकी ही जीत होगी। इस विचार-धाराका नाम पड़ा आदर्शवादी समाजवाद या क्रमिक विकासवाद अथवा सुधारवाद। यूरोपमें इसे सोशल डिमाक्रेसीके नामसे पुकारते हैं। इस सिद्धान्तमें विश्वास रखनेवाले सुधारके लिए शान्तिमय वैधानिक उपायोंके अवलम्बनका प्रतिपादन करते हैं। इंगलैण्डमें यही विचारधारा अधिक व्यापक है। यहाँके मजूर अधिक सुखी हैं। यहाँ समाजवादके प्रचारक सुखी विद्वान् लोग हैं और जबतक समाजका संचालन पूँजीवादी व्यवस्थाके अनु-सार हो रहा है तबतक वे लोग अपना सब कुछ त्यागकर गरीबोंको दे देनेके लिए तैयार नहीं हैं। यह निर्विवाद है कि वे समाजवादके सिद्धान्तोंमें विश्वास रखते हैं लेकिन ये लोग इसका प्रयोग हिंसाद्वारा नहीं करना चाहते और न वर्तमान प्रचलित प्रथाको उखाड़ फेंककर नयी प्रथा कायम करनेके लिए

हिंसापर ही उतारू होना चाहते हैं। उनका कहना है कि पूँजीवाद धीरे-धीरे समाजवादकी तरफ अग्रसर हो रहा है। आवश्यकता इस बातकी है कि इस नयी व्यवस्थाके लिए जनताके मनोभाव और आर्थिक व्यवस्थाको तैयार किया जाय और इस तरह इस सुधारको वेगवान बनाया जाय। इस विचारधाराके लोग पार्लामेण्टके सदस्य बनते हैं, मंत्रिमण्डलमें शामिल होते हैं और धीरे-धीरे इस पूँजीवादी सरकारको समाजवादी बना देना चाहते हैं। लेकिन अधिकार पदपर आरूढ़ होनेके बाद इनका व्यवहार भी एकदम बदल जाता है और इनकी शासन-प्रणाली तथा कुलीन वर्गके अनुसार दलबन्दी शासन-प्रणालीमें किसी तरहका अन्तर नहीं प्रतीत होता। इस विचारधाराका सबसे नया प्रतिनिधि 'फेबियन सोसायटी' है। इस सोसायटीके सदस्य उग्र विद्वान् और प्रतिष्ठित व्यक्ति हैं। इनका विश्वास है कि धीरे-धीरे समाजवाद आप-से-आप सम्पन्न हो जायगा। इस दलका नाम प्राचीन रोमन सेनापति फेबियसके नामपर पड़ा। यह सेनापति शत्रुपर आक्रमण नहीं करता था बल्कि उसे थकाकर मार डालता था।

इसके प्रतिकूल दूसरी विचारधारा उन क्रान्तिकारियोंकी है जिनका विश्वास है कि पूँजीवादी इतने उदार और विचारशील नहीं हैं कि अपना अन्त करनेके लिए वे सद्भावना और न्यायसे काम लेंगे। उनका कहना है कि दबावमें पड़कर ही पूँजीपति किसी तरहकी रियायत करनेके लिए तैयार होता है और वह इस तरहकी कोई रियायत कभी नहीं करता जिससे उसके अधिकारपर धक्का लग सके। शासनके यन्त्रोंपर अधिकार-

कर सुधारके पक्षमें यह दल नहीं है। उसका कहना है कि पार्ला-मेण्ट तथा डिमाक्रेसीकी माया एक प्रकारका जाल है जिसमें सुधार-वादी समाजवादी फँस जाते हैं और उन्हें अपने मायाजालमें फँसाकर पूँजीवादी अपनी शक्तिको और भी मजबूत और दृढ़ बनाता जा रहा है। उनका कहना है कि तर्क और सद्भावनाका मनमाना प्रयोगकर पूँजीवादी अपनी सत्ता कायम रखनेमें पूर्ण समर्थ हैं। वह अपनी सत्ताका तभी त्याग करेगा जब उसके मुकाबलेमें शक्ति-सम्पन्न प्रतिद्वन्द्वी खड़ा हो जायगा जिसका मुकाबला वह नहीं कर सकेगा। इसलिए पूँजीपतियोंके अत्या-चारका मुकाबला करनेके लिए मजूरोंका संगठित होना अनि-वार्य है। इतिहास यही बतलाता है कि समाजमें परिवर्तन श्रेणी और वर्गद्वारा ही उपस्थित किया जा सकता है इसलिए व्यक्ति-को सुधारनेका यत्न करना निष्फल है। जबतक एक संगठित शक्तिशाली दल तैयार न कर लिया जाय तबतक सद्भावना और सदाशयता कोई मूल्य नहीं रखती। इसलिए पूँजी-पतियोंके चंगुलसे छुटकारा पानेका एकमात्र यही उपाय है कि मजूर वर्ग संगठित होकर क्रान्तिद्वारा उनके हाथसे सारा अधि-कार छीन ले। इस दलके अनेक नाम हैं। मार्क्सवादी, वैज्ञानिक समाजवादी, बोल्शेविक, समाजवादी या रूसी समाजवादी अथवा साम्यवादी। समाजवादके मुकाबलेमें इस विचारधाराको साम्यवादके नामसे पुकारते हैं, अन्यथा दोनों सिद्धान्तोंके लिए समाजवाद एक ही नाम प्रचलित है।

इस विचारधाराके सबसे बड़े प्रतिपादक कार्लमार्क्स

(१८१८–१८८३) थे। कार्लमार्क्स जर्मन यहूदी थे जो कि इति-

हास, दर्शन तथा कानूनके पूर्ण विद्वान् तथा सफल पत्रकार थे। पत्रकारीमें उनसे और शासकोंसे संघर्ष उत्पन्न हो गया और उन्हें जर्मनी छोड़कर पेरिस जाना पड़ा। पेरिसमें उन्होंने समाजवादी तथा अराजकवादी साहित्यका पूर्ण अध्ययन किया और समाजवादी बन गये। पेरिसमें ये फ्रीडरिच इंगल्सके संसर्गमें आये। इंगल्स जर्मनी जातिके थे। इंगलैंडमें उनका कारखाना था। रावर्ट ओवेनके प्रभावमें आकर ये समाजवादी बन गये थे। इसके बाद इंगल्स और मार्क्स साथ मिलकर काम करने लगे। १८४८ में उन्होंने कम्यूनिस्ट मेनिफेस्टो (समाजवादी घोषणापत्र) प्रकाशित किया। उस घोषणापत्रमें उन्होंने उदारवादियोंकी स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृभावके घोषित प्रचारकी कड़ी आलोचना की। उन्होंने दिखलाया कि ये शब्द पूँजीपतियोंके लिए आवरणका काम कर रहे हैं और इनकी आड़में राष्ट्र पूँजीपतियोंकी रक्षा कर रहा है और जनताकी हालतको सुधारनेका कोई यत्न नहीं हो रहा है, उनकी दशा पूर्ववत् दयनीय बनी है। उन्होंने समाजवादके अपने सिद्धान्त स्थिर किये और घोषणापत्रके अन्तमें लिखा :—
"विश्वके मजूरो! संगठित हो जाओ। तुम्हारे पास दासताकी बेडियोंके अतिरिक्त खोनेके लिए और कुछ नहीं है और जीतनेके लिए तुम्हारे सामने सारा विश्व पड़ा है।" इस घोषणापत्रका विश्वके मजूरोंपर व्यापक प्रभाव पड़ा।

१८६४ ई० में मार्क्सने यूरोपके भिन्न भिन्न देशोंके समाजवादी दलको एकत्र किया और "अन्तर्राष्ट्रीय मजूर संघ" (इण्टर नेशनल वर्किंग मैन्स असोसिएशन) की स्थापना की।

यही "फर्स्ट इण्टर नेशनल" के नामसे पुकारा जाता है। इस संस्थाका उद्देश्य भिन्न-भिन्न देशोंके समाजवादियोंको संगठित कर एक निर्दिष्ट प्रणालीके अनुसार मजूरोंमें समाजवादी भावना-का प्रचारकर अन्तिम घड़ीके लिए उन्हें तैयार करना था। लेकिन आठ सालसे ज्यादा यह संस्था नहीं चल सकी। १८७१ में पेरिसमें पहले पहल समाजवादी विद्रोह खड़ा हुआ। इस विद्रोह-द्वारा जनसाधारणने पेरिसमें अपना शासन स्थापित करनेका यत्न किया। इस शासनका नाम पेरिस कम्यून रक्खा गया था। इस विद्रोहका दमन पूर्ण निर्दयताके साथ किया गया और उसके वाद यूरोपके प्रत्येक राष्ट्रने मजूर संगठनके साथ कड़ाईका व्यवहार आरम्भ किया। यहाँतक कि प्रथम इण्टर नेशनलके कार्यालयको १८७२ में न्यूयार्क ले जाना पड़ा। न्यूयार्क मजूरोंके कार्यक्षेत्रसे इतनी दूर पड़ता था कि वहाँ रहकर वह जीवित नहीं रह सका और धीरे-धीरे उसका वहीं अन्त हो गया।

अराजकताके प्रभावके कारण फ्रांसके समाजवादने दूसरा ही रूप ग्रहण किया। उसका नाम सिण्डिकलिज्म पड़ा। इस शब्द-की उत्पत्ति फ्रेंच शब्द सिण्डिकेटसे है जिसका अर्थ मजूरोंका संग-ठन या ट्रेड यूनियन होता है। अराजकोंकी भाँति इन लोगोंने भी राजको उठा देने अथवा जहाँतक सम्भव हो उसका अधिकार सीमित कर देनेका यत्न किया। इसलिए उन्होंने यह यत्न किया कि प्रत्येक कारखाना स्वशासित हो अथवा उसमें काम करनेवाले मजूरोंका उसपर अधिकार हो। उन्होंने यह व्यवस्था की कि शासनमें प्रत्येक सिण्डिकेटके प्रतिनिधि रहें और उन्हींकी सभा राजकी सारी देख-भाल करे, केवल राष्ट्रके अन्दरूनी

मामलेमें हस्तक्षेप करनेका अधिकार न रहे। इसे सम्पन्न करनेके लिए सिण्डिकेटने मजूरोंकी व्यापक हड़तालकी घोषणा की ताकि जबतक उद्देश्यकी सिद्धि न हो जाय तबतक देशका औद्योगिक जीवन मुर्दा बना रहे। मार्क्सवादियोंने सिण्डिकलिज्मका समर्थन नहीं किया।

१८८९ ई० में अमर्स्टडममें मजूरोंका एक इण्टर नेशनल कायम हुआ। यह सेकेण्ड इण्टरनेशनलके नामसे प्रसिद्ध है। यह १९१४ तक कायम रहा। प्रथम विश्व-युद्धके आरम्भके साथ ही उसका अन्त हो गया। इस इण्टरनेशनलमें अनेक व्यक्ति नरम विचारधाराके थे, जिन्होंने बादमें अपने-अपने देशोंमें सरकारी पद ग्रहण कर लिया, पार्लामेण्टके सदस्य बने और प्रधान मन्त्रीतक हो गये। अधिकार-पदपर आसीन होते ही वे मजूरोंकी सुध भूल गये और शासन-यन्त्रके अंग बन गये।

१९०३ में रूसके साम्यवादियोंको विकट सङ्कटका सामना करना पड़ा क्योंकि उनमें दो दल हो गया— विकासवादी और क्रान्तिकारी। लेनिन क्रान्तिकारी दलका नेता था और उसके अनुयायियोंका बहुमत था। लेनिन पश्चिमी समाजवादियोंकी पार्लामेण्टरी-मनोवृत्तिका विरोधी था। उसका कहना था कि ये पदलोलुप हैं और टुकड़ोंके लिए लालायित रहते हैं। इस तरह रूसके समाजवादी बोलशेविक (बहुमत) और मेशेविक (अल्पमत) दलमें विभक्त हो गये। लेनिनका दल बोलशेविकके नामसे प्रसिद्ध हुआ।

शासनके मुकाबले अपने उद्देश्यकी सिद्धिके लिए समाजवादियोंने मजूरोंकी सामूहिक हड़तालको साधन बनाया। रूसके

समाजवादियोंने १९०३ से जारके शासनके खिलाफ इसी अस्त्र-को ग्रहण किया। पीटसबर्ग तथा मास्को आदि बड़े-बड़े शहरों-में हड़तालको सफल बनानेके लिए संस्थाएँ कायम की गयीं। इस संस्थाका नाम सोवियत पड़ा। सोवियतका अर्थ है सभा। आरम्भमें इस संस्थाका उद्देश्य केवल हड़तालोंका सङ्गठन करना था, बादमें इसका उद्देश्य मजूर-आन्दोलनकी देख-रेख करना हो गया। अन्तमें नगर-कमेटी या म्युनिसिपैलिटीपर इसका अधिकार हो गया। १९१७ में जब क्रान्ति हुई तो यही सोवियत जारके मुकाबले उठ खड़ी हुईं और यूनियन आफ सोवियत सोशलिस्ट रिपब्लिक कायम किया।

१९१९ में युद्ध समाप्त हो जानेके बाद लेनिनने मजूरोंका नया इण्टरनेशनल मास्कोमें कायम किया। यह पूर्ण रूपसे साम्य-वादी था और इसका नाम थर्ड इण्टरनेशनल पड़ा। इसे कामि-एटर्न भी कहते हैं। यह पूर्णरूपसे साम्यवादी है और किसी रूपमें साम्राज्यवाद और पूँजीवादका कट्टर विरोधी है। पूँजी-वादियों और साम्राज्यवादियोंके साथ किसी तरहका समझौता न कर यह इनका समूल नाश कर इनके स्थानपर सर्वहारा या मजूरोंका शासन कायम करना चाहता है और इस तरह वह वैयक्तिक सम्पत्तिका पूर्णतया नाश करना चाहता है। द्वितीय इण्टरनेशनलके सदस्योंने इसे जल्दीबाजी और आतुरता बतलाकर द्वितीय इण्टरनेशनलको पुनः जीवित किया। इसका परिणाम यह हुआ कि समाजवाद दो भागोंमें विभक्त हो गया। दोनों एक-दूसरेके विरोधी और दोनों आपसमें एक-दूसरेसे इस प्रकार घृणा करते हैं जितना अपने समान शत्रु पूँजीवादियोंसे

भी घृणा नहीं करते। लेकिन द्वितीय विश्व-युद्धकी परिस्थितिसे विवश होकर रूसने अपनी नीति बदली और १९४३ में अपना अन्तर्राष्ट्रीय रूप त्यागकर राष्ट्रीय नीति अपनायी और इसके फलस्वरूप कामिण्टर्नका अन्त कर दिया। जो लोग इस तरहकी राष्ट्रीय नीतिके विरुद्ध थे, जिसका रूसके वर्तमान अधिनायक स्टालिनके नेतृत्वमें लगातार प्रयोग होता रहा, उन लोगोंने ट्राटस्कीके नेतृत्वमें १९३६ में स्थापित चतुर्थ इण्टरनेशनलको अपनाया।

रूसमें सोवियत शासनकी स्थापनाके बाद जन-साधारणने समाजवादको क्रान्तिकारी प्रधान संस्था माना है। ये लोग कार्लमार्क्सको अपना पथ-प्रदर्शक मानते हैं जिसने इससे सम्बन्ध रखनेवाले सिद्धान्तोंका १८६७ में लिखित अपनी पुस्तक कैपिटल-में समावेश किया है। कार्लमार्क्सके कुछ प्रधान सिद्धान्तोंकी यहाँ चर्चा कर देना अनुचित नहीं होगा—

२—मार्क्सवाद

इतिहासकी मौलिक व्याख्या

मार्क्स पहला व्यक्ति था जिसने ऐतिहासिक घटनाओंका अध्ययन नये रूपसे किया। ऐतिहासिक घटनाओंके आधारपर उसने कुछ सिद्धान्त स्थिर कर यह दिखलानेका यत्न किया कि अनेक युगोंसे मानव-जीवनमें जो परिवर्तन होते आये हैं उनका आधार ये ऐतिहासिक घटनाएँ हैं। उसके अनुसार यदि हमें मनुष्यको आगे बढ़ाना है तो हमें सबसे पहले उन नियमोंको समझना चाहिए जिनके अनुसार मानव-समाज जिन्दा रहता है और आगे बढ़ता है और तब हम प्रकृतिके विकासका अध्ययन

करते हुए ऐतिहासिक शक्तिके आधारपर अपने ध्येयतक पहुँच सकते हैं। इतिहासका यह वैज्ञानिक अध्ययन मार्क्सकी सबसे बड़ी देन है और उसके इस दृष्टिकोणका प्रभाव हजारों व्यक्तियों-पर पड़ा है। उसके विरोधी भी उसकी इस महानताको स्वीकार करते हैं। मार्क्सकी इस व्याख्याके फलस्वरूप उसके द्वारा प्रतिपादित उस समाजवादका नाम वैज्ञानिक समाजवाद पड़ा। उसने इतिहासकी जो वैज्ञानिक व्याख्या की उसके अनु-सार तीन महत्वपूर्ण सिद्धान्त स्थिर हुए—

(क) द्वन्द्व न्याय

उन्नीसवीं शताब्दीके मध्य भागमें जर्मनीमें हीगल नामका दार्शनिक हुआ था। मार्क्सपर उसकी शिक्षाका बहुत अधिक प्रभाव पड़ा। उसकी शिक्षासे प्रभावित होकर मार्क्सने समस्त इतिहास – अतीत, वर्तमान और भविष्य—को तर्ककी कसौटीपर कसकर उससे एक निश्चित परिणाम निकाला। हीगलने इसका नाम डायलेक्टिक (द्वन्द्व न्याय) रखा था। यूनानी दार्शनिकोंके अनुसार डायलेक्टिक (द्वन्द्व न्याय) विवादकी एक कलाका रूप था—इस तरह दर्शनके विविध विरोधाभासोंके समाधानके लिए विवादके जिस तरीकेका सहारा लिया जाता था उसका नाम डायलेक्टिक (द्वन्द्व न्याय) पड़ा। हीगलने इस सिद्धान्तको व्यापक और स्थिर रूप देना चाहा। इसलिए विशेषतः उसके तथा उसी विचारधाराके अन्य लोगों द्वारा यह प्रतिपादन किया जाने लगा कि केवल विचारोंमें ही नहीं वल्कि प्राकृतिक तथा ऐतिहासिक घटनाओंमें भी विकासवादके अनुसार इसी आधार-पर उलट-फेर हुआ करते हैं। हीगलने तर्कोंमें विचारोंकी गतिका

विश्लेषण किया और यह सिद्धान्त स्थिर किया कि विचारोंका प्रवाह वास्तविकताकी ओरसे उसके निषेधात्मक रूपकी ओर प्रवाहित होता है। उसके बाद वह एक मध्यम वृत्ति ग्रहण करता है जिससे वास्तविकता तथा उसके निषेधात्मक रूप दोनोंकी अनिवार्यता सिद्ध हो जाती है। उसने इन तीनों अवस्थाओंका नाम वाद (Thesis) प्रतिवाद (Artithesis) और युक्तिवाद (Synthesis) रखा। हीगलका मत था कि ऐतिहासिक घटनाएँ भी इसी रूपमें प्रकट होती हैं। उनका भी यही आधार है। लेकिन मार्क्सने हीगलके इस सिद्धान्तको पूर्णतया स्वीकार नहीं किया। मार्क्सका कहना था कि यद्यपि स्थूल पदार्थोंका विकास डायलेक्टिक (द्वन्द्व न्याय) के अनुसार होता है, लेकिन उनका यह विकास आप-से-आप होता है। विचारोंका इनपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इसके प्रतिकूल स्थूल पदार्थोंमें जो परिवर्तन होते हैं उनका प्रभाव विचारोंपर पड़ता है और उनके अनुसार विचारोंका रूप बदलता है। अर्थात् हीगलका मत यह था कि पहले विचारोंका उदय होता है और उसके बाद स्थूल पदार्थोंपर उसकी प्रतिक्रिया होती है। इसके प्रतिकूल मार्क्सका मत था कि पहले स्थूल पदार्थोंमें परिवर्तन होते हैं और इन परिवर्तनोंके फलस्वरूप विचारोंका निर्माण होता है। मार्क्सके अनुसार इतिहासकी प्रत्येक घटना अपने विरोधी तत्वको जन्म देती है। कालान्तरमें उस विरोधी तत्वका भी लोप हो जाता है और उसका स्थान नया तत्व ग्रहण करता है। उदाहरणके लिए पूँजीवाद (वाद) के विकासका फल मजूर आन्दोलन है (प्रतिवाद) है जो उसका विरोधी तत्व है। मजूर-आन्दोलन धीरे-धीरे शक्ति ग्रहण

करता है और पूँजीवादका नाश कर साम्यवाद (युक्तिवाद) अर्थात् वर्गहीन आर्थिक व्यवस्थाको स्थापित करता है। इसे इस प्रकार और स्पष्ट किया जा सकता है। आरम्भमें पूँजीपति थोड़े धनसे काम आरम्भ करता है और चन्द मजूरोंसे काम लेता है। ज्यों-ज्यों धनकी वृद्धि होती है उसका कारोबार आगे बढ़ता है अधिकाधिक मजूर वह रखने लगता है। इस तरह ज्यों-ज्यों पूँजीवादकी शक्ति और समृद्धि बढ़ती है त्यों-त्यों मजूरोंकी संख्या और बलकी भी वृद्धि होती जाती है। दोनों एक दूसरेके शत्रु होते हुए भी एकके कारण दूसरेकी वृद्धि होती रहती है। इस तरह धीरे-धीरे मजूर वर्गका बल इतना ज्यादा बढ़ जाता है कि वह पूँजीपतियोंके जुल्म और अत्याचारको समूल नष्ट-कर सारे कारोबारको अपने हाथमें ले लेता है और जनसाधा-रणके लिए उसका सञ्चालन करता है। मैदानसे पूँजीपतिका लोप होते ही वर्गभेदका स्वभावतः अन्त हो जाता है और सभी लोग एक वर्गहीन समाजके व्यक्ति हो जाते हैं। इस तरह ऐतिहासिक घटनाएँ अनिवार्य रूपसे धीरे-धीरे आगे बढ़ती हैं और हमेशा सङ्घर्ष उपस्थित करती हैं और जो अवस्था कायम रहती है, उसीमेंसे किसी शक्तिका प्रादुर्भाव होता है जो उस वर्तमान अवस्थाका अन्त कर देती है।

विश्लेषण

(१) मार्क्सने इस सिद्धान्तका प्रतिपादन पूरी कट्टरतासे किया। उसका मत था कि जीवनकी कोई भी घटना इस ऐति-हासिक तथ्यसे बचकर नहीं जा सकती। लेकिन यह निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता कि मानव जीवनकी सारी घट-

नाएँ हिसाबके अंकोंकी भाँति स्थिर नियमके अनुसार ही घटित होती रहती हैं। (२) इस आवश्यकताकी पूर्तिके लिए मार्क्सने मानव-जीवनकी घटनाओंमें डायलेक्टिकके प्रयोगका यत्न किया जिसे विचारोंकी गतिके विश्लेषणसे हीगलने स्थापित किया था। लेकिन सूक्ष्म-विचार और स्थूल जगत्में प्रतिदिन घटित होनेवाली घटनाओंमें एकरूपता नहीं रहती इसलिए सूक्ष्म विचारोंके लिए जो सत्य है वही व्यावहारिक जीवनके लिए सत्य नहीं भी हो सकता। इस तरहकी कोरी सिद्धान्तकी बातें हीगलके सम्बन्धमें तो समझमें आ सकती हैं क्योंकि वह पूरी तरह आदर्शवादी था लेकिन मार्क्सके सम्बन्धमें इसे स्वीकार करना कठिन प्रतीत होता है क्योंकि वह पूरी तरह व्यवहारवादी या भौतिकवादी अपनेको बतलाता था। इतना ही नहीं मार्क्सने अपने इस सिद्धान्तका नाम डायलेक्टिक मेटिरियलिज्म (द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद) रखा है। इसमें भी विरोधाभासकी झलक है। (३) मार्क्स जिस परिणामपर पहुँचा है उसे अनिवार्य सिद्ध करनेके लिए उसके अनुयायी डायलेक्टिक उपायोंका जिस तरह प्रयोग करते हैं उसे भी सङ्गत नहीं कहना चाहिए। लेकिन यदि हीगलके डायलेक्टिकको मानव-जीवनके स्थूल जगत्में सच स्वीकार न किया जाय, तब क्या होगा? सब-कुछ होते हुए भी हीगलका डायलेक्टिक स्वतन्त्र सिद्धान्तका दावा नहीं कर सकता। यदि इसे स्वतन्त्र सिद्धान्तके रूपमें स्वीकार भी कर लिया जाय तो भी मार्क्सकी भाँति हमलोग साम्यवादको मानव-इतिहासका अन्तिम लक्ष्य स्वीकार करनेके हेतु यदि इसका प्रयोग करनेके लिए तैयार न हों तो कैसा होगा क्योंकि साधारणतः

किसी भी परिणामपर पहुँचनेके लिए वाद तथा प्रतिवादको ढूँढ़ निकालना कठिन नहीं होगा। उदाहरणके लिए भारतमें ब्रिटिश-शासनको वाद माना जा सकता है और पूर्ण स्वाधीनता प्राप्त करनेके लिए राष्ट्रीय आन्दोलनको प्रतिवाद माना जा सकता है और ब्रिटिश साम्राज्यके अन्तर्गत औपनिवेशिक स्वराज्यको युक्तवाद, इस तरह ब्रिटिश साम्राज्यका अंग बने रहना भारतीय इतिहासका अन्तिम परिणाम होगा जो आवश्यक, अनिवार्य पर साथ ही दबकर स्वीकार किया जायगा। इस रूपमें यह तर्क भले ही अनुचित प्रतीत हो क्योंकि अमेरिका और आयलैंण्डको स्वाधीनता प्राप्त करनेके लिए औपनिवेशिक स्वराज्यवाली सीढ़ीसे नहीं गुजरना पड़ा, लेकिन साम्यवादकी अनिवार्यता सिद्ध करनेके लिए जब डायलेक्टिक का प्रयोग किया जाता है तब ऊपरवाले तर्कसे इसका दोष स्पष्ट हो जाता है। इससे मनमें यह धारणा उत्पन्न होती है कि मनुष्यके कार्यक्षेत्रमें प्रयोग किये जानेपर डायलेक्टिक किसी निश्चित परिणामको प्रकट करनेकी क्षमता नहीं रखता। (४) बल्कि इससे यह परिणाम निकाला जा सकता है कि यदि मार्क्सके सिद्धान्त सही हैं तब तो साम्यवादकी स्थापना वहीं सम्भव है जहाँ पूँजीवाद अपनी चरम सीमाको पहुँच गया है। लेकिन वास्तविकता इससे सर्वथा प्रतिकूल है क्योंकि उद्योगमें एकदम पिछड़े हुए देश रूसमें साम्यवादकी स्थापना हो गयी लेकिन ब्रिटेन तथा अमेरिकाके समान उद्योग-प्रधान देशोंमें इसके पनपनेतककी नौबत अभी नहीं आयी। (५) इसका कारण यह है कि बलशाली ट्रेड यूनियनोंके अभावसे तथा संग-

ठित सार्वजनिक आन्दोलनके फलस्वरूप कानूनोंके निर्माणसे इन देशोंमें मजूरी तथा काम करनेकी दशामें जो सुधार और परिवर्तन होते रहते हैं, उनपर मार्क्सका ध्यान नहीं था। इन सुधारोंने मजूरोंके विद्रोहको रोकनेमें बहुत बड़ा काम किया है और इस तरह मार्क्सके सिद्धान्तको गलत बना दिया है। (६) सम्पत्तिहीन तथा अर्ध सम्पत्तिवान मध्यम श्रेणीके सम्बन्धमें मार्क्सने जो मत कायम किया था उसने भी उसके सिद्धान्तको गलत साबित कर दिया। क्योंकि आज उसी श्रेणीके लोग फासिस्ट तथा साम्राज्यवादी देशोंमें पूँजीपतियोंका साथ देकर साम्यवादके मुकाबले पूँजीवादको नवजीवन प्रदान कर रहे हैं और इस तरह मार्क्सकी भविष्यवाणीको गलत बना रहे हैं। मार्क्सकी कल्पनाके अनुसार इस वर्गके लोग सर्वहारा वर्गकी संख्या बढ़ानेके लिए उनमें शामिल नहीं हो रहे हैं। (७) मार्क्सने राष्ट्रीयताकी भावनाको कोई महत्व नहीं दिया था। यह भावना पूँजीवादियोंके पक्षमें बहुत बड़ा काम कर रही है। राष्ट्रीयताकी यह भावना पूँजीवादियोंके खिलाफ विश्वके मजूरोंको एक सूत्रमें संगठित होनेके मार्गमें बाधा स्वरूप खड़ी है। वर्गकी भावनाकी अपेक्षा राष्ट्रीय भावनाका महत्व बहुत अधिक हो रहा है। इसका परिणाम यह है कि एक राष्ट्रका मजूर दूसरे राष्ट्रके मजूरकी निर्मम हत्या करनेके लिए सदा तैयार रहता है, इसे अचरजकी बात भी नहीं मानना चाहिये, क्योंकि ब्रिटेनके मजूर उस पूँजीवादी प्रथासे अपनी जीविका पाते हैं जो भारतको लूट रही है। यदि ब्रिटिश मजूर इस लूटको रोकना चाहें तो उनके मुँहका कौर छिन जायगा। इसलिए वह

अपने मालिक पूँजीपतिके समान ही साम्राज्यवादी बन जाता है। ये उपकरण मार्क्सके निर्णयोंके प्रतिकूल जाते हैं।

इन सब बातोंके होते हुए भी मार्क्सने इतिहासको वर्गयुद्ध और वर्ग सङ्घर्षका आधार बनानेका जो प्रयास किया है, वह कम मूल्यवान नहीं है। विश्वके इतिहासके अनेक भागोंकी आधुनिक घटनाओंपर इसका बहुत ज्यादा प्रकाश पड़ा है। इन घटनाओंने प्रकट कर दिया है कि यह इतिहास पूँजीवाद तथा उसके द्वारा शोषित जनसमुदायके संघर्षके अलावा और कुछ नहीं है। मार्क्सने यह भी प्रकट किया है कि अतीत इतिहास भी इसी तरहकी घटनाओंसे पूर्ण है। उदाहरणके लिए सामन्तशाहीके साथ पूँजीवादका निरन्तर सङ्घर्ष होता रहा और उसके अनुसार वर्तमान युगमें पूँजीवाद और मजूरवर्गके बीच अन्तिम वर्ग युद्ध चल रहा है। जबतक एक वर्ग दूसरे वर्गका शोषण करता रहेगा तबतक इस तरहका वर्ग-युद्ध अनिवार्य है। लेकिन समाजवादकी स्थापनाके साथ ही शोषणका अन्त हो जायगा और इसके साथ ही एक वर्गकी इच्छाका पालन करनेके लिए दूसरे वर्गको दबानेका राष्ट्रके कामका अन्त हो जायगा। उस समय राष्ट्रकी आवश्यकता नहीं रह जायगी और अराजकोंका वर्ग-हीन समाजकी स्थापनाका स्वप्न पूरा हो जायगा जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अपना शासक होगा। यदि इस सिद्धान्तसे दूसरा कोई लाभ न भी हो तो इससे इतना लाभ तो अवश्य हो जाता है कि क्रान्तिकारी मजूरवर्गको इतना आश्वासन अवश्य मिल जाता है कि प्रकृतिके नियमके अनुसार अन्तिम विजय उनकी होगी और मनुष्यके उस अन्तिम

ध्येयकी पूर्तिके लिए इतिहासकी गतिको सहायता पहुँचाना उनका कर्त्तव्य है।

(ख)—सामाजिक परिवर्तनके आधार भौतिक साधन

इतिहासके अध्ययनसे मार्क्सने दूसरा महत्वपूर्ण सिद्धान्त यह प्रतिपादित किया कि मानव-समाजके पूरे ढाँचे—उसके विधान, संस्थाएँ, रीति-रिवाज, राजनीतिक सङ्गठन, यहाँतक कि उसके सदाचार—पर उन साधनोंका प्रभाव पड़ता है जिसका प्रयोग वह उत्पादनके लिए करता है। वे साधन आधारभूत हैं और प्रत्येक अवस्थामें उनके इर्द-गिर्द सामाजिक जीवनकी दुरूहताका उदय होता रहता है। उत्पादनके साधनोंके परिवर्तनके साथ-ही-साथ ऐतिहासिक तथा सामाजिक परिवर्तन होते रहते हैं। उदाहरणके लिए ज्यों ही हाथसे प्रयोग किये जानेवाले औजारोंका स्थान शक्तिद्वारा चलायी जानेवाली मशीनें ग्रहण करती हैं त्यों ही एक नयी तरहकी सामाजिक तथा आर्थिक व्यवस्थाका उदय होता है और उसके साथ ही नयी संस्कृति तथा सदाचारका जन्म होता है। इससे जनताके विचार और जीवनमें भारी परिवर्तन हो जाता है। हमारे ही देशमें देख लीजिये। पश्चिमके उद्योगवादने ग्राम-सङ्गठन, परम्परा, रीति-नीति, यहाँतक कि हमारे धार्मिक विचारोंतककी जड़ हिला दी है। प्राचीन-युगमें आत्म-निर्भर गाँव, जाति-प्रथा तथा संयुक्त परिवारकी प्रणालीका तेजीसे अन्त हो रहा है। पुराने जमानेकी सारी बातें—आरामसे काम करना, एक-दूसरेके सुख-दुःखमें शामिल रहना, शालीनता, सौम्यता, दयालुताका लोप होता जा रहा है और उनका स्थान ग्रहण कर रही हैं अर्थ-लोलुपता,

भौतिक विलासिता, दिखावट और व्यक्तिगत स्वार्थ जिसमें दूसरोंके सुख-दुःखकी चिन्ताके लिए कोई स्थान ही नहीं है।

इस सम्बन्धमें मार्क्सके विचार कितने भी सही क्यों न हों लेकिन समस्त ऐतिहासिक घटनाओंका आधार आर्थिक मान लेना पूर्ण सत्य नहीं कहा जा सकता। यह बात निर्विवाद है कि मानव-जीवनका प्रधान लक्ष्य जीविकाका साधन ढूँढना है और मानव-इतिहासकी प्रधान घटनाएँ इसी अर्थ-शास्त्रपर अवलम्बित हैं। लेकिन इसके साथ ही यह भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि इसके अतिरिक्त अन्य बातें भी हैं जिनका प्रभाव सामाजिक परिवर्तनोंपर पड़ता है, जैसे ज्ञान, सदाचार कला तथा धर्म मानव-जीवनको प्रभावित करनेवाली अन्य घटनाओंके महत्वकी उपेक्षा कर केवल एक घटना—अर्थात् आर्थिक घटनाको ही सारा श्रेय दे देना समीचीन नहीं कहा जा सकता। आर्थिक घटनाओंको ही इतना अधिक महत्व प्रदान करना वर्तमान युगका अभिशाप है और विश्वमें जो घोर रक्तपात हो रहा है तथा सङ्घर्ष बढ़ रहा है उसकी जिम्मेदारी इसीपर है। इसलिए मानव जीवनपर प्रभाव डालनेवाली किसी एक घटनाको अत्यधिक महत्त्व प्रदान करनेकी प्रवृत्तिको रोकना आवश्यक है।

मार्क्सके मतानुसार सामाजिक तथा सदाचारिक परिवर्तन उत्पादनकी विधिपर निर्भर करता है और किसी समुदायकी सभ्यताकी कसौटीकी अन्तिम परख भी वे ही हैं। उत्पादनकी विधि जितनी पेचीदा और पूर्ण होगी उनका प्रयोग

करनेवाले उतने ही अधिक सभ्य समझे जायँगे। इस तरह सभ्यता अन्तःकरणके विकासकी वस्तु न रहकर बाहरी दुनिया अर्थात् उत्पादनके साधन-यन्त्रों आदिके विकासकी वस्तु बन जाती है। इस कसौटीपर कसे जानेपर बुद्ध, ईसा, प्लेटो तथा शेक्स-पियर आदिम व्यक्ति हो जाते हैं और आजकलका लारी हाँकने-वाला या कल-कारखानेका मशीन चलानेवाला कहीं अधिक सभ्य माना जायगा जो हर तरहका दुराचार करता रहता है। उपरोक्त उदाहरणसे ही इस सिद्धान्तकी अयथार्थता सिद्ध हो जाती है। यह बात अस्वीकार नहीं की जा सकती कि सभ्यताकी अनेक कसौटियोंमेंसे एक कसौटी उत्पादनके साधनोंका उन्नत रूप या पूर्णता है और वहाँतक उन्हें श्रेय दिया जा सकता है लेकिन सभ्यताका सम्पूर्ण साधन उत्पादनकी विधिको मान लेना और सभ्यताको उसका ही परिणाम मानना कभी भी उपयुक्त नहीं कहा जा सकता और न इसका प्रतिपादन ही हो सकता है।

इसके साथ ही यदि मार्क्सके इस भौतिकवादके सिद्धात-को पूर्णतया स्वीकार कर लिया जाय और यह मान लिया जाय कि मानव जीवनके ऐतिहासिक परिवर्तनोंपर एकमात्र इसीका प्रभाव पड़ता है तब तो मनुष्यको एकदम भाग्यवादी बना देना होगा अर्थात् सङ्कट-कालमें वह अपनेको हर तरहसे लाचार बोध करेगा क्योंकि जब भौतिक साधन ही सब कुछ है तब मनुष्य स्वतः कुछ नहीं कर सकता। इसलिए सुव्यवस्थित आर्थिक व्यवस्थाकी स्थापनाके लिए मनुष्यकी चेतनाको अपील करना निष्प्रयोजन है। हमें तो सबसे पहले परिस्थितियोंमें परिवर्तन लानेकी आवश्यकता है। इसके बाद तो व्यक्तिके

दृष्टिकोण और व्यवहारमें आप-से-आप परिवर्तन हो जायँगे। और यदि मनुष्यकी चेतनामें जागृति उत्पन्न होनेसे पहले ही भौतिक वातावरणमें परिवर्तन हो गया तो उस परिवर्तनका फल परिस्थितिका उग्रतम विवर्तन या क्रान्ति होगा। इसलिए मार्क्सके सिद्धान्तके मुख्य अङ्ग हिंसा और क्रान्ति हैं और आदर्शवादी समाजवादियोंके समझा-बुझाकर राजी करनेकी नीतिके लिए यहाँ कोई स्थान नहीं है।

यह निश्चित है कि मार्क्सका यह उद्देश्य कभी नहीं था कि उसके सिद्धान्तका पालन इतनी जड़तासे हो क्योंकि मनुष्यके विवेक और चेतनाकी अपीलपर उसे स्वयं विश्वास था। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण उसका 'कैपिटल' है। यदि उसे ऐसा विश्वास न होता तो अपने अभिप्रायको समझानेके लिए वह इतना मोटा पोथा लिखनेका प्रयास न करता। यदि उसकी दृष्टिमें व्यक्ति नगण्य होता तो ऐतिहासिक विकासके क्रमकी शिक्षा देनेकी उसे क्या आवश्यकता थी। इससे इतना तो मान ही लिया जा सकता है कि यद्यपि मार्क्सने यह बात मान ली थी कि साधारणतः व्यक्ति अपने आसपासकी परिस्थितियोंका गुलाम है पर साथ ही उसने यह भी मान लिया था कि उनमें कुछ ऐसे व्यक्ति भी हैं जो परिस्थितियोंसे ऊपर उठ सकते हैं और उन्हें बदल सकते हैं। लेकिन यदि यह बात स्वीकार कर ली जाती है कि ऐसे असाधारण व्यक्ति हैं जो अपने आसपासकी परिस्थितियोंसे ऊपर उठ सकते हैं और थोड़ी मात्रामें ही सही उन्हें प्रभावित कर सकते हैं, तब मार्क्सके इस सिद्धान्तको स्वीकार कर लेनेपर भी कि व्यक्तिकी सामाजिक और भौतिक परिस्थितियाँ उसके

विचारों और व्यवहारोंको प्रभावित करनेमें महत्त्वपूर्ण काम करती हैं, हमलोग इस भौतिक सिद्धान्तको नहीं स्वीकार कर सकते कि व्यक्ति परिस्थितियोंका गुलाम है और उसपर उसका कोई नियन्त्रण नहीं है।

विगत शताब्दीके भौतिकवादी दार्शनिकोंके साथ सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि तत्कालीन भौतिक विज्ञानके विकासका उनपर इतना जबर्दस्त प्रभाव पड़ा कि उन्होंने सब कुछ— यहाँतक कि व्यक्तिकी निर्माण-योग्यताको भी—भौतिक आवश्यकताकी पूर्तिका ही एकमात्र साधन मान लिया। यह बात स्मरण रखने-की है कि यद्यपि व्यक्तिकी निर्माण-क्षमताका बोध परिस्थितियों-के कारण ही हो सकता है और उससे अलग न तो वे काम ही करती हैं और न उनका अस्तित्व ही है तो भी वह इस बातको स्वीकर करनेके लिए तैयार नहीं है कि वह केवलमात्र परिस्थितियोंका गुलाम है और उनसे भिन्न उसका कोई अ-स्तित्व नहीं है। महात्मा गान्धीको ही ले लीजिए. वे अपने युगकी ही देन हैं। उनके जीवन, उनके कार्य, उनके उपदेश सबपर देशकी वर्तमान प्रचलित अवस्थाका प्रभाव पड़ा है। लेकिन इसके साथ-ही-साथ वे इस युगके स्रष्टा भी हैं। इस युगमें उन्होंने ऐसी अवस्थाकी सृष्टि की है जिसकी कल्पना भी इस युगके पूर्ववर्ती युगके लोग नहीं कर सकते थे। भारतीय महि-लाओंका परदा त्यागकर मैदानमें आना और पुलिसकी बन्दूकों-का निर्भीकताके साथ मुकाबला करना, निरीह किसानोंका संसारके सबसे शक्तिशाली साम्राज्यके मुकाबलेमें उठ खड़ा होना और मालगुजारी देनेसे इन्कार करना, तथा उन वीर

पठानोंका जिनमें सहनशीलताका सर्वथा अभाव था—चुपचाप सीना खोलकर खड़े हो जाना और पुलिसकी गोलियोंको बर्दाश्त करना, क्या प्रकट करता है ? ये आश्चर्यजनक परिवर्तन महात्मा गांधीकी प्रेरक शक्तिका फल है जिसके बिना यह होना असम्भव था। परिस्थितियोंको ही सब कुछ और व्यक्तिको नगण्य मान लेनेके सिद्धान्तके अन्धप्रतिपादनके लिए इन स्थूल तथ्योंकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। हमलोगोंको इसे स्वीकार करना ही पड़ेगा कि परिस्थितियाँ मनुष्यको अवश्य बनाती हैं लेकिन व्यक्ति भी परिस्थितियोंका निर्माण करता है। एक दूसरे दूसरेपर आश्रित हैं और एकका दूसरेपर प्रभाव पड़ता है। यदि इस तथ्यको स्वीकार कर लिया जाता है कि व्यक्तिका प्रभाव भी परिस्थितियोंपर पड़ता है तब यह भौतिक सिद्धान्त कि इतिहासके निर्माणमें केवल भौतिक और सामाजिक वातावरणका ही प्रभाव पड़ता है, व्यर्थ हो जाता है।

(ग) मार्क्सका हिंसा और वर्गयुद्ध

ऊपर हमने जो कुछ कहा है उसकी सत्यताको स्वीकार कर लेनेका अर्थ होगा कि परिस्थितियोंमें परिवर्तन लानेके लिए व्यक्तिकी चेतना और विवेकशक्तिको अनुप्राणित करनेसे भी काम चल सकता है। इस अवस्थाको स्वीकार कर लेनेके बाद उग्र क्रान्तिके लिए प्रेरणाकी आवश्यकता नहीं प्रतीत होती क्योंकि उसका केवलमात्र आधार पशुबल है। वर्गयुद्धकी आवश्यकता भी नहीं रह जाती क्योंकि वर्गयुद्धका उद्देश्य होगा प्रचलित शासनकी निर्दयताके

साथ कुचलकर उसके अस्तित्वको मिटा देना। उपरोक्त तथ्यके साथ हमें यह भी स्वीकार कर लेना होगा कि पूँजीपति भी चेतनायुक्त प्राणी हैं और समझानेपर वह उचित और सङ्गत बातको स्वीकार कर लेगा। इससे यह भ्रम नहीं पैदा होना चाहिए कि नयी आर्थिक व्यवस्था कायम करनेके लिए हमें पूँजीपतियोंके सामने घुटने टेककर गिड़गिड़ाना और प्रार्थना-पत्र उपस्थित करना होगा क्योंकि मार्क्सने स्पष्ट शब्दोंमें लिखा है कि किसी वस्तुको प्राप्त करनेका यह तरीका नहीं है। केवल पार्लामेण्टरी उपायोंसे बहुत ज्यादा लाभ नहीं हो सकता। शिक्षाद्वारा जनताका मत परिवर्तित कर उनमें जागृति उत्पन्न करना होगा और अहिंसाके सिद्धान्तके आधारपर इस तरहका व्यापक आन्दोलन खड़ा करना होगा जिसके प्रभावसे कठोर-से-कठोर हृदय भी पिघल जाय और जनमतके सामने झुक जाय। इस तरहकी शान्तिमय और अहिंसक क्रान्ति आवश्यक और अनिवार्य हो सकती है। हिंसक क्रान्तिसे उद्देश्यकी सिद्धि नहीं हो सकती क्योंकि हिंसासे प्रतिहिंसाका उदय होता है और इससे अत्याचारीके हृदयमें किसी तरहका परिवर्तन नहीं हो सकता। हमारे सामने तो हिन्दुस्तानका ही उदाहरण मौजूद है। महात्मा गान्धीने जो अहिंसाका सङ्ग्राम चलाया वह सिद्धान्ततः पूर्ण नहीं था। तो भी प्रतिद्वन्द्वीके हृदयको जीतनेमें इसे बहुत कुछ सफलता मिली। अहिंसक क्रान्तिका प्रभाव व्यक्तिके मस्तिष्क और चेतनापर पड़ता है और हिंसक क्रान्ति पशुबलको निमन्त्रण देता है। मार्क्सवाद भौतिकताका उपासक है। उसकी दृष्टिमें

नैतिकताका कोई मूल्य नहीं है। इसलिए वह पशुबलपर ही

निर्भर कर सकता है और हिंसक क्रान्तिको ही प्रेरणा देता है।

मार्क्सका द्वन्द्वन्यायका सिद्धान्त ही वर्गयुद्ध और हिंसाको प्रेरणा देता है। प्रतिवाद वादका विरोधी रूप है। इसलिए दोनोंमें सङ्घर्ष और युद्ध अनिवार्य है। दोनोंके सङ्घर्ष और युद्धके फलस्वरूप ही युक्तवादकी स्थापना सम्भव है। लेकिन जैसा हमने ऊपर दिखलाया है, यदि यह प्रमाणित कर दिया जाय कि द्वन्द्वन्यायका सिद्धान्त मानवीय कार्योंके लिए अनिवार्य और आवश्यक नहीं है तब मार्क्सका यह सिद्धान्त कि समाजमें उत्तम आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था कायम करनेके लिए वर्गयुद्ध अनिवार्य है—आप-से-आप धराशायी हो जाता है। मार्क्सवादियोंको यह देखना होगा कि क्या वर्गयुद्धका उसका सिद्धान्त हीगलके द्वन्द्वन्यायसे अलग होकर वैज्ञानिक समाहारके रूपमें अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रख सकता है? लेकिन इसकी कहींसे भी चेष्टा नहीं की गयी। इसलिए यह मान लेना पड़ेगा कि इसे तथ्य रूपसे अभीतक प्रतिपादित नहीं किया जा सका कि वर्गयुद्ध और हिंसा अनिवार्य है।

दूसरा प्रश्न यह उठता है कि वर्गयुद्धके आधारपर मार्क्सवादी सभी लोगोंका कल्याण कैसे कर सकते हैं और समाजमें भ्रातृभाव कैसे स्थापित कर सकते हैं क्योंकि भ्रातृभाव और वर्गयुद्ध दोनों एक दूसरेके विरोधी हैं। मजूर-वर्गकी स्वार्थ-बुद्धि आगे चलकर निःस्वार्थका रूप नहीं ग्रहण कर सकती। कँटीली झाड़ीसे उत्तम फसलकी आशा नहीं की जा सकती। स्वार्थ और घृणाके भावको उत्तेजना देकर प्रेमका राज्य नहीं स्थापित किया जा सकता। वर्गयुद्धका परिणाम राष्ट्रोंमें द्वेष, घृणा, कलह

और अन्याय होगा और पूँजीवादी वर्गको समूल नष्ट करके भी इस भावको नष्ट नहीं किया जा सकेगा। थोड़ी देरके लिए मान लीजिये कि इस उपायसे पूँजीवादी वर्गका अन्त हो गया। लेकिन क्या इस बातकी सम्भावना नहीं बनी रहती कि जिस शिक्षित वर्गके हाथमें शासनका सूत्र साम्यवादमें रहेगा, वह स्वयं उत्पीड़क बन जायगा ? तब तो उसका अन्त करनेके लिए भी युद्धको प्रेरणा देनी पड़ेगी अर्थात् इस तरह लगातार वर्गयुद्ध होते रहेंगे और उनका कहीं अन्त नहीं होगा। इससे यह साफ है कि केवल अहिंसक मतपरिवर्तनके द्वारा ही देशमें सच्चे भ्रातृभावकी स्थापना हो सकती है। अपने शत्रुओंका निर्दयता पूर्वक संहार। समाजमें असद्भावना उत्पन्न करनेका एकमात्र साधन करता ही। यही वर्गयुद्धका अभिप्राय है जिसकी प्रेरणा मार्क्सवादसे मिलती है।

यदि आज रूस अपने सिद्धान्तकी स्थापनाके लिए संसारके किसी देशपर आक्रमण कर दे तो इसके द्वारा जिस भ्रातृभावकी स्थापना होगी उसका वास्तविक स्वरूप क्या होगा ? रूस ऐसा कर सकता है क्योंकि साम्यवादके सिद्धान्तके अनुसार जबतक सारा विश्व साम्यवादी न हो जाय किसी एक देशमें सच्चा साम्यवाद कायम नहीं रह सकता। इस उपायसे तो सच्चे भ्रातृ-भावकी स्थापना दूर रही, रूस विश्व-शान्तिके लिए सदा संकट बना रहेगा। सिद्धान्त कितना ही उपयोगी क्यों न हो वह तल-वारके बलपर लोगोंके सिर लादा नहीं जा सकता। उसकी उपयोगिता बतलाकर लोगोंको उसके पक्षमें विनयके साथ ही लाया जा सकता है। व्यक्तिके रूपमें हमें प्रतिदिन यह शिक्षा

मिलती रहती है और इसको हमें राष्ट्रके रूपमें सीखना पड़ता है। दूकानदार ग्राहक पैदा करनेके लिए साड़ी लेकर लोगोंके पीछे दौड़ता नहीं रहता। वह सद्व्यवहार और मीठे शब्दोंद्वारा ही लोगोंको अपनी ओर आकृष्ट करता है। अहिंसामें ही वह शक्ति है जो शत्रुको भी मित्र बना सकती है और फिर उन्हें विलग नहीं होने देती।

इस तरह हम देखते हैं कि साम्यवादके सुखद और आशाप्रद आदर्श-हिंसा और वर्गयुद्धके समान कलुषित उपायोंसे जुड़े हैं जिस सुखद भविष्यकी प्रेरणासे मनुष्य वर्गयुद्ध और हिंसाके लिए प्रवृत्त होता है उसकी प्राप्ति कभी नहीं होती क्योंकि समानता और भ्रातृभावकी नयी सृष्टिके लिए जिस वर्गयुद्धका आश्रय लिया जाता है उस वर्गयुद्धका कहीं अन्त नहीं दिखायी देता। साम्यवादी अलादीनके चिरागकी भाँति पलक भँजते समाजका रूप बदल देना चाहता है और इसके लिए वह इतना व्यग्र हो उठता है कि वर्गयुद्धके सिवा उसे दूसरा साधन दिखायी नहीं देता। लेकिन व्यवहार-जगत्‌में आनेपर उसे प्रकट होगा कि जिसे वह लम्बा रास्ता समझकर छोड़ देना चाहता है वास्तवमें वह लम्बा रास्ता नहीं है बल्कि जिसे नजदीकका मार्ग समझकर वह अपनाता है वही लम्बा रास्ता है। हिंसाके उस मार्गका आश्रय लेकर वह अपने अभीष्टकी सिद्धि नहीं प्राप्त कर सकता।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि मार्क्सवादके द्वन्द्वन्याय तथा मानव प्रकृतिकी भौतिकवादिता जिसका परिणाम नृशंस वर्गयुद्ध और क्रूर क्रान्ति है, मान्य नहीं हो सकते। यह सम्भव

है कि अभीतक इतिहासमें जबर्दस्ती अधिकार छीननेके ही उदाहरण पाये जाते हैं, लेकिन इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि सदा यही होता रहेगा। इसके प्रतिकूल इतिहासके अध्ययनसे हमें अपने पूर्वजोंकी भूलोंसे चेतावनी ग्रहण करनी चाहिए। क्योंकि इतिहाससे इतनी शिक्षा तो स्पष्ट तौरपर मिलती है कि हिंसा अनवरत विरोधको जन्म देता है और अहिंसासे विरोधियोंके हृदयोंको जीता जा सकता है और इस तरह समस्या-का स्थायी हल निकाला जा सकता है।

३—समाजवादका मूल तत्त्व

समाजवादीके लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह मार्क्स-वादी हो अथवा किसी समाजवादीद्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तोंका सम्यक् प्रतिपालन करे। उदाहरणके लिए किसी भी सच्चे समाजवादीके लिए यह मानना आवश्यक नहीं है कि ऐतिहासिक विकास उसी तरहके किसी स्थिर सिद्धान्तके आधारपर होता है जैसे नक्षत्रोंकी गतिके लिए सिद्धान्त स्थिर हैं अर्थात् बीचमें ही यदि कोई असम्भावित घटना हो जाय तो भी उसका प्रभाव ऐतिहासिक विकासपर नहीं पड़ सकता। यह भी स्वीकार करना आवश्यक नहीं कि वर्गयुद्ध या भीषण क्रान्तिके बिना समाजवादकी स्थापना नहीं हो सकती। समाजवादमें विश्वास करनेके लिए ये आवश्यक बातें नही हैं। ऐसे अनेकों महा-पुरुष हो गये हैं जिन्होंने कट्टर समाजवादी होते हुए भी इन सिद्धान्तोंको स्वीकार नहीं किया है।

इसी तरह एक सच्चे समाजवादीके लिए यह भी आवश्यक

नहीं है कि सोवियत रूसमें जो कुछ हो रहा है सबका वह अन्ध समर्थन करे। चूँकि रूसमें समाजवादको व्यावहारिक रूप देनेका प्रयास किया गया है इसलिए वहाँकी अवस्थाके अध्ययनसे हमें समाजवादके व्यावहारिक रूपको समझने और जाननेमें अवश्य सहायता मिल सकती है। पर इसके साथ ही हमें यह भी स्मरण रखना चाहिये कि रूसमें भी समाजवाद अपनी प्रारम्भिक अवस्थामें ही है और वह चारों ओरसे ऐसी पूँजीवादी शक्तियोंसे घिरा है जो समाजवादसे सहानुभूति तो नहीं ही रखतीं वल्कि उसकी कट्टर शत्रु हैं। इसलिए सोवियत रूसको वाध्य होकर इस तरहकी हरकतें समय-समयपर करनी पड़ती हैं जो समाजवादी सिद्धान्तोंके सर्वथा प्रतिकूल हैं। रूसके किसान उस नयी व्यवस्थासे सर्वथा अपरिचत हैं, इसलिए समय-समयपर उसे व्यक्तिगत किसानोंको खेत देकर नफा लेकर ही सन्तोष करना पड़ता है। पूँजीवादी देशोंकी अपेक्षा जनताको कहीं ज्यादा श्रम करना पड़ता है और उन देशोंके निवासियोंकी अपेक्षा कहीं कम आमदनीपर गुजर करना पड़ता है क्योंकि उन्हें अपनी सारी शक्ति मशीनरी तथा हथियारोंके उत्पादनमें लगा देना पड़ता है। सोवियत रूसको शिक्षापर पूरा नियन्त्रण रखना पड़ता है ताकि समाजवादके सिद्धान्तोंका जनसाधारणमें पूरा प्रचार हो और लोग उसकी वास्तविकताको समझें। इसलिए शिक्षा संस्थाओं द्वारा अन्य विचारधाराके प्रचारको रोकनेके लिए उसे कड़ाईसे काम लेना पड़ता है क्योंकि उसे समस्त नागरिकों-को एक ही साँचेमें ढालना है। विरोधी पूँजीवादी शक्तियोंका

मुकाबला करनेके लिए उसे हर तरहके हथियारोंसे सुसज्जित

रहना पड़ता है इसलिए समाजवादके अन्तारराष्ट्रिय प्रयोगके कामसे उसे मुँह मोड़ना पड़ रहा है बल्कि अपनी रक्षाके लिए युद्धमें एक पूँजीवादी शक्तिके खिलाफ उसे दूसरी पूँजीवादी शक्तिका साथ देना पड़ता है। इस तरहकी अनेक हरकतें रूसको करनी पड़ी है और समाजवादके शत्रु इन दृष्टान्तोंका हवाला देकर समाजवादकी निन्दा करते हैं मानो सोवियत रूसमें समाजवाद अपनी पराकाष्ठापर पहुँच गया है और समाजवादका प्रयोग सोवियत रूसमें जिस प्रकारसे हुआ है उसके अतिरिक्त प्रचारका कोई दूसरा तरीका ही नहीं है। लेकिन वास्तविकता ऐसी नहीं है। प्रथम प्रयोगमें यह रूप धारण करनेके बावजूद भी उसे त्याग देना उचित नहीं होगा, क्योंकि समाजवाद बहुत बड़ी चीज है। वर्त्तमान अवस्थामें समूल परिवर्तन उपस्थित करनेके लिए बहुत अधिक समयकी आवश्यकता है, इसलिए यदि उसका प्रथम प्रयोग असफल भी हुआ—यद्यपि सोवियत रूसमें भी उसे असफलता ही नहीं मिली, यद्यपि चारों ओरसे उसका निरोध होता रहा—तो भी उसे इतने सहजमें त्यागा नहीं जा सकता। कहनेका मतलब यह है कि सोवियत रूसमें चाहे उसने कोई भी रूप क्यों न धारण किया हो समाजवादके मूल्यको उसकी निजी योग्यतापर ही आँकना होगा।

प्रश्न यह उठता है कि समाजवाद है क्या? मार्क्सके वादके आवरणको हटाकर तथा सोवियत रूसमें उसने जो रूप ग्रहण किया है उसपर दृष्टि न रखकर समाजवाद—जैसा कि सभी दलके समाजवादियों, मार्क्सवादियों तथा रूसके साम्यवादियों की धारणा है—वह अवस्था है जिसके द्वारा समाजके सभी

प्राणियोंका कल्याण तभी हो सकता है जब उत्पादन तथा बँट-वाराके सभी साधन जनताके हाथमें आ जायँ। समाजवादके इस सूक्ष्म तत्वको सभी विचारके समाजवादी स्वीकार करते हैं और इसी रूपके आधारपर आगे हम समाजवादका विचार करेंगे।

४—समाजवादकी सार्थकता

(क) उत्पादन तथा बँटवारासे लाभ—

(१) उत्पादनकी बहुलता :—समाजवादकी सबसे बड़ी विशेषता यह मालूम होती है कि समाजवादी व्यवस्थामें अधिक उत्पादनके सारे सुखोंका उपयोग करनेका अवसर प्राप्त होगा और अधिक उत्पादनकी बुराइयोंका खतरा नहीं उठाना पड़ेगा। विज्ञान तथा आधुनिक आविष्कारोंके कारण जो अनेक तरहकी सुविधाएँ समाजको प्राप्त हुई हैं समाज उनका आदी बन गया है। उनके बिना समाजका काम नहीं चल सकता। अगर उनके द्वारा किसीको हानि पहुँचाये बिना समाजको आराम मिलता हो तो वह उनसे वञ्चित क्यों रहे आरामसे रहना, विविध प्रकारकी वस्तुओंसे घिरे रहना, हर आवश्यकताकी पूर्ति कोई पाप नहीं है। विज्ञानके द्वारा हम अपनी हर तरहकी आवश्य-कताकी पूर्ति कर सकते हैं। विगत युद्धके पहले पूँजीवादी देशोंमें उत्पादनपर नियन्त्रण रखनेकी भावना उत्पन्न हो रही थी। बाजारमें आवश्यकतासे अधिक मालके आ जानेका फल यह हो रहा था कि या तो मालको ही नष्ट करना पड़ता था या कल-कारखानोंको बन्द करना पड़ता था। कल-कारखानोंको बन्द करनेसे बेकारी बढ़ती थी। लाचार होकर राज (शासन) को

हस्तक्षेप करना पड़ता था। उत्पादनको कम करनेके लिए कानूनी कारवाईका किया जाना, एक विचित्र बात थी। उत्पादनपर नियन्त्रणका फल यह होता था कि हजारों मजूरोंको बराबर बेकार रहना पड़ता था। साथ ही पूँजी तथा भूमिकी उत्पादन शक्तिका पूरी तरह उपयोग नहीं हो सकता तथा अनेक टेक्निकल तरीकोंको पूरी तरहसे काममें नहीं लाया जा सकता। इससे यही प्रकट होता है कि वर्तमान युगकी समस्या यह नहीं है कि उत्पादन किस तरीकेसे किया जाय बल्कि यह है कि उत्पादन द्वारा पूँजीपतियोंको अधिक-से-अधिक लाभ किस उपायसे हो। लेकिन यदि राष्ट्र उत्पादनका काम करे और नफ़ेका प्रश्न नहीं रह जाय तब तो पूँजी, मजूर, वैज्ञानिक साधन सबका पूरी तरहसे उपयोग और समाजको उपयोगके लिए अधिकाधिक सामान प्राप्त होने लगे। इससे अत्यधिक उत्पादनका भय जाता रहेगा और हर साधनोंका प्रयोग कर उत्पादनको बढ़ानेका ही यत्न किया जायगा। कम उत्पादन करनेकी अपेक्षा यदि विज्ञान हमें अधिक उत्पादन करनेके लिए साधन प्रस्तुत करता है तो उसका सहारा लेकर हम उत्पादनको अनियन्त्रित रूपसे क्यों नहीं बढ़ा सकते। लेकिन यह समाजवादके अन्तर्गत ही सम्भव है कि हम उत्पादनको बेरोकटोक बढ़ा सकते हैं और उसका पूरा लाभ उठा सकते हैं।

विज्ञानने यदि हमारे लिए स्वर्गका दरवाजा खोल दिया है—उत्पादनद्वारा प्रचुर सम्पत्ति कमाकर हम मनमाना आनन्द लूट सकते हैं—तब हम निर्विघ्न क्यों न उसमें घुसें और उससे लाभ उठावें। इसके विरुद्ध अभीतक यही तर्क पेश किया जाता

था कि ऐसा करनेमें हमें हजारोंको रौंदकर आगे बढ़ना होगा और उन्हें पशुवत् जीवन बिताना पड़ेगा। लेकिन समाजवादका यह दावा है कि कोई भी किसीको रौंदकर आगे नहीं बढ़ेगा। यदि सभीलोग अपने पैरोंका सहारा लेकर आगे बढ़ेंगे तो सभी स्वर्गमें पहुँच जायँगे और उसका उपयोग करेंगे। समस्याका हल सहज, उचित और मान्य प्रतीत होता है। साथ ही आकर्षक भी है।

(२) मशीन गुलाम है :—मशीनोंके प्रयोगमें भी कोई बाधा नहीं उठ सकती। स्वयं मशीन किसी तरह भी बुराई नहीं उपस्थित कर सकती। बल्कि वह तो एक प्रकारसे साधक है। मशीन साधक है या बाधक यह तो हमारे प्रयोगपर निर्भर करता है। आग बहुत उपयोगी है। भोजन बनाने, रोशनी करने और अपनेको सर्दीसे बचानेके काममें हम उसका उपयोग करते हैं; लेकिन यदि आगका दुरुपयोग कर हम उसे अपनी झोपड़ीमें ठूँस दें तो वह अवश्य ही घरको जला देगी। लेकिन इसमें दोष हमारा है आगका नहीं। इसी तरह मशीनको भी दोष नहीं दिया जा सकता। यदि मशीनोंका प्रयोग हमलोग इस तरह करें कि उससे जो उत्पादन हो उसका लाभ जनसमाज-को समानरूपसे हो, आजकलकी भाँति केवल कुछ लोग ही उससे लाभ न उठा सकें तो उसमें बुराई कहाँसे आती है। समाजवादका यही कहना है कि बड़े-बड़े कल-कारखाने ज्यों-के त्यों रहें लेकिन उनका प्रयोग केवल धनिकोंको और अधिक धनिक बनानेके लिए न हो, बल्कि समाजके प्रत्येक प्राणीके लिए समान रूपसे उपयोग हो।

(३) मशीनयुगमें वर्गकी सत्ता :—समाजवाद कल-कारखानों-पर जिस तरहका अधिकार रखना या स्थापित करना चाहता है वर्तमान उद्योगोंकी प्रवृत्ति प्रायः उसी ओर है। वर्तमान पूँजी-वादी युगमें भी उद्योगधन्धोंपर व्यक्ति-विशेषका आधिपत्य नहीं रह गया है। वह आधिपत्य दल या जमातके हाथमें चला जा रहा है। जिन उद्योगोंपर पहले व्यक्ति-विशेषका अधिकार था उनपर अब वर्ग या दलका अधिकार होता जा रहा है क्योंकि वे कारबारको अधिक योग्यता तथा निष्पत्तिके साथ चला सकते हैं। इस तरह हम देखते हैं कि पूँजीवादी युगमें भी प्रवृत्ति केन्द्री-करणकी ओर ही है। समाजवादी जो चाहते हैं उसी तरफ़ पूँजीपतियोंकी प्रवृत्ति है। वर्तमान मशीनयुग जो चीज़ क़ायम करने जा रहा है उसका विरोध निरर्थक प्रतीत होता है।

(४) उत्पादन-व्यवस्थामें किफ़ायतसारी :—यह केवल मशीन युगका प्रभाव नहीं है। वैज्ञानिक और आर्थिक स्थितियाँ भी हमलोगोंको उसी ओर ढकेलती हैं। उत्पादनका साधन व्यक्ति-विशेषके हाथोंमें रहनेका फल यह होता है कि सब-के-सब एक ही तरहकी वस्तु पैदा करने लगते हैं। पारस्परिक स्पर्धा बढ़ जाती है उससे आर्थिक उथलपुथल और मेहनत तथा उपकरणोंकी बर्बादी होने लगती है। लेकिन उत्पादनका काम राष्ट्रके हाथमें रहनेसे व्यवस्थित ढंगसे उसका प्रबन्ध किया जायगा और ऐसी कोई चीज तैयार नहीं की जायगी जिसके नष्ट होनेकी सम्भावना हो। देशमें उत्पादनके जो साधन हैं उनका उचित रीतिसे उपयोग होगा। उसी तरहके माल और उतनी ही तादादमें पैदा किये जायँगे जितनेकी राष्ट्रको ज़रूरत है। कलाकौशलमें जो

प्रगति होती रहती है उसका पूरा उपयोग उद्योगधन्धोंमें हो सकता है। वर्तमान युगमें मिल-मालिकोंकी दृष्टि एकमात्र लाभ-पर रहती है इसलिए वे मशीनोंको जल्दी बदलना नहीं चाहेंगे और नये आविष्कारोंका प्रयोग खर्चके भयसे नहीं करना चाहेंगे यद्यपि देशके खयालसे उनका तरीका भले ही लाभदायक न हो। लेकिन उद्योगधन्धोंका राष्ट्रीयकरण हो जानेके बाद इस तरहके प्रश्न नहीं उठ सकते क्योंकि राष्ट्रका एकमात्र उद्देश्य जनताका हित करना होगा और वह बिना हिचकके नये-नये आविष्कारोंका उपयोग कर सकेगा।

(५) बटवारेकी असमानताका अन्त :—वर्तमान युगमें नफाके बँटवारेमें जो असमानता है वह सदाके लिए दूर हो जायगी। पूँजीवादी प्रथामें उत्पादन तो सामूहिक रूपसे होता है लेकिन लाभका बँटवारा नहीं। पूँजीवादी प्रथाका यही सबसे बड़ा दोष है। जो उत्पादन करता है उसे नफा लेनेका पूरा हक है, यह प्राचीन प्रणाली है। लेकिन वर्तमान कल-कारखानोंमें हजारों व्यक्तियोंके सहयोगसे ही काम चलता है। ऐसी हालतमें कुल-का-कुल लाभ एक ही व्यक्तिको या दलविशेषको हड़प जानेका क्या अधिकार है? जो हजारों अन्य व्यक्तियोंने इस लाभके उत्पादनमें भाग लिया, उनसे मानो कोई सरोकार ही नहीं। न्याय तो यही कहता है कि उत्पादनमें जितने लोग शामिल थे सबको लाभमें हिस्सा मिलना चाहिये। उत्पादनके ढंगको बदल देना लेकिन लाभको हड़प जानेका पुराना तरीका ही काममें लाना किसी भी प्रकार सङ्गत नहीं कहा जा सकता। समाजवाद इसी अनीतिको दूर करना चाहता है। उसका कहना है कि

उत्पादनमें जो लोग भाग लेते हैं उनका हिस्सा लाभमें भी होना चाहिये।

इस दृष्टिकोणसे विचार करनेपर यही कहा जा सकता है कि समाजवाद वर्तमान पूँजीवादी व्यवस्थाकी चन्द बुराइयोंको ही दूर कर देना चाहता है, इससे अधिक कुछ नहीं। इस तरह यही प्रमाणित होता है कि बड़े पैमानेपर केन्द्रित उत्पादनके बिना मानव समाजका कल्याण नहीं हो सकता।

(ख) विकास और उससे लाभ—

(१) आर्थिक जीवनका केन्द्र : आवश्यकता :—समाजवादका दूसरा ध्येय है आर्थिक जीवनमें मानवताका समावेश। पूँजीवादी प्रथा दूसरोंकी परवा न कर अपने लिए अधिक-से-अधिक लाभ करना चाहती है। उसका ध्येय है, जो पीछे हैं वे मरें, अपनी चिन्ता करनी चाहिये। इस दृष्टिसे पूँजीवादी प्रथा भौतिकवादी, पाशविक, जालिम और अमानुषिक है। उसका आधार असभ्य नियम है जिसमें सदाचार और मानवीय विचारोंके लिए कोई स्थान नहीं है। समाजवाद इसे अनुचित मानता है और कहता है कि उत्पादनका उद्देश्य लाभ न होकर आवश्यकताकी पूर्ति होना चाहिये। इस उपायसे वह आर्थिक व्यवस्थामें मानवको अपने उचित स्थानपर बैठाना चाहता है। पूँजीवादी प्रथामें मानव अपने शोषण करनेवालोंका यन्त्रमात्र रह गया है। समाजवादी चाहता है कि उत्पादन और बँटवारेका केन्द्र मानव हो।

(२) खुदगर्जीके स्थानपर सचाईकी स्थापना :—इसलिए समाज-

वाद मानसिक प्रवृत्तियोंको प्रेरणा देना चाहता है। अन्याय, दमन, शोषण, उत्पीड़न तथा दरिद्रताने उसे विद्रोही बना दिया है और वह उनका समूल नाश चाहता है। स्वार्थपरता ही इन सभी बुराइयोंकी तहमें है और पूँजीवादी प्रथाकी जड़में यही स्वार्थपरता काम कर रही है और यही मनुष्यका संहार भी कर रही है। इसका समूल नाश कर वह संसारमें सच्चाई और प्रेमकी स्थापना करना चाहता है। केवल निस्वार्थताकी शिक्षा देकर ही उसे सन्तोष नहीं है वह वर्तमान आर्थिक व्यवस्थाको ही उलट देना चाहता है ताकि समाजसे लाभ और स्वार्थका लोप हो जाय और उनका स्थान परस्पर प्रेम तथा भ्रातृभाव ग्रहण करे। समाजवादके साथ आज सर्वहाराकी सहानुभूति है क्योंकि वह अपने लिए कुछ प्राप्त करना चाहता है। वर्तमान अवस्थामें यह स्वाभाविक भी है। लेकिन समाजवादका उद्देश्य केवलमात्र इतना ही नहीं है कि धनिकोंके हाथसे सम्पत्ति छीनकर गरीबोंमें बाँट दी जाय, बल्कि उसका उद्देश्य वह अवस्था कायम करना है जहाँ सम्पत्ति व्यक्तिविशेषके हाथमें जमा न होकर समाजके हाथमें रहे और सभी मिलकर उसका उपयोग करें। इसके विपरीत कुछ कहना समाजवादका गलत अर्थ लगाना होगा। वर्तमान स्थितिमें सबसे अधिक अपील उद्देश्यकी होती है। इसका फल यह हो रहा है कि भ्रातृभाव और सदाशयता पनपने नहीं पाती। इसके प्रतिकूल समाजवाद वह स्थिति कायम करना चाहता है जिसमें सभी मिलकर एक दूसरेके लाभ और कल्याणके लिए काम करेंगे। गला घोंटनेवाली स्पर्धाका स्थान सहयोग लेगा। इससे परस्पर द्वेषकी भावनाका अन्त

होगा और सभीलोग मिलजुलकर प्रेमसे काम करेंगे क्योंकि इससे जो लाभ होगा उसका सुख सभी भोगेंगे। पूँजीपतियोंका आदर्श है 'सबकुछ अपने लिए'। समाजवादका आदर्श है : "सबकुछ सबके लिए और सबलोग सबके लिए।" समाजवाद-का विश्वास है कि मनुष्य स्वभावतः सदिच्छा रखनेवाला व्यक्ति है और व्यक्तिगत लाभकी आकांक्षा न रखकर समाजके कल्याणके लिए मिलजुलकर काम करनेकी प्रवृत्ति उसमें सदा जागृत रहती है।

(३) हृदयसे धार्मिक :—समाजवाद उस धार्मिक आडम्बर-का विरोधी है जो धनिकों तथा विशिष्टाधिकारवालोंका पृष्ठपोषण करता रहता है और गरीबों तथा शक्तिहीनोंके निर्दय शोषणका समर्थन करता रहता है तथा जो धनिकोंके विशिष्टाधिकारोंका समर्थक है। समाजवाद विश्वमें नये धर्मका प्रचार करना चाहता है जिसका उद्देश्य है उनलोगोंमें प्रकाश फैलाना जो अधिकारके गर्तमें पड़े हैं; उन्हें अन्न-वस्त्र देना जो भूखे हैं; उन्हें मुक्त करना जो बन्धनमें पड़े हैं। समाजवाद आशा करता है कि उसके अनुयायियोंकी सहानुभूति संसारके दलितों तथा पीड़ितोंके साथ होगी और अपने आदर्शकी पूर्तिके लिए समाजवादी अधिक-से-अधिक त्याग करनेमें कभी भी नहीं चूकेगा। उसका विश्वास और उसकी धार्मिक भावना जड़ नहीं है। अधार्मिक तथा पूर्णतः भौतिकवादी होनेकी अपेक्षा वह धार्मिक, दार्शनिक और आदर्शवादी है। जो लोग समाजसे दरिद्रता और उत्पीड़नको

दूरकर समृद्धि, स्वतन्त्रता तथा समानताकी स्थापना चाहते हैं

उनकी दृष्टिमें समाजवादके लिए सबसे अधिक सम्मान और आदर होना चाहिये।

(४) दरिद्रताका अन्त—समाजवादी व्यवस्थामें उत्पादनके साधनोंपर राष्ट्रका उसी तरह अधिकार होगा जिस तरह तार तथा डाक विभागपर उसका अधिकार है। उत्पादनका काम वह किसी व्यक्तिविशेषके लाभके लिए न कर समाजके प्रत्येक प्राणीके लाभके लिए करेगा। समाजवादीकी धारणा है कि समाजमें जो बुराइयाँ घुस गयी हैं उनका निराकरण इसी उपायसे हो सकता है। समाजमें दरिद्रताका राज्य है। इसका एकमात्र कारण यही है कि आज समाजकी सारी सम्पत्तिके मालिक चन्द विशिष्ट व्यक्ति बन बैठे हैं। उत्पादन और बँटवारे-का सारा अधिकार राष्ट्रके हाथमें हो जानेपर न किसीको अत्यन्त अधिक प्राप्त होगा और न किसीको अत्यन्त कम। राष्ट्रद्वारा वही वस्तुएँ उत्पन्न की जायँगी जिनकी समाजको आवश्यकता होगी। उत्पादनको हथियाने या हड़पनेका अधिकार व्यक्तिविशेषको नहीं होगा। इसलिए दरिद्रता दूर हो जायगी और प्रत्येक व्यक्ति समृद्ध हो जायगा।

(५) बेकारीका अन्त—आजकी तरह जैसे, आजकल जिन विशिष्ट लोगोंके हाथमें उत्पादनके साधन हैं वे मनमाना शर्तपर नौकर रख लेते हैं, उस समय वैसा नहीं होगा क्योंकि उत्पादनके साधनों पर उनका अधिकार न रहकर वह समाजके हाथमें रहेगा। इसलिए अपनी नौकरी कायम रखनेके लिए मजूरको गिड़गिड़ाना और हर तरहसे पददलित नहीं होना पड़ेगा। आजका मजूर मजूरी-का गुलाम है। अपने पुत्र और कलत्रको भूखों मरनेसे बचानेके

लिए उसे हर तरहसे अपने मालिकको खुश रखना पड़ता है। इस दासवृत्तिके प्रदर्शनके बावजूद भी यदि व्यवसायमें मन्दी आ गयी या मजूरी घटानेके कोई नये यन्त्र निकल पड़े तो वह नौकरीसे हटा दिया जाता है। इसलिए उसे बेकारीका भूत सदा सताता रहता है। लेकिन समाजवादमें कामके लिए प्रत्येक व्यक्तिको निश्चिन्तता रहेगी; क्योंकि राजके ऊपर इस बातका भार रहेगा कि वह प्रत्येक व्यक्तिके लिए काम मोहैया रखे, ठीक उसी तरह जिस तरह उसे भोजनकी व्यवस्था करनी पड़ती है। अगर किसी कारखानेमें मजूरोंकी संख्या आवश्यकतासे अधिक है तो वह अनावश्यक मजूरोंको दूसरे कारखानेमें भेज देगा या वेतनमें किसी तरहकी कमी किये बिना सब मजूरोंका कामका घण्टा घटा देगा।

(६) अरक्षणका अभाव—इस तरह मजूरोंके सिरपरसे चिन्ताका वह भूत उतर जायगा जिसका वह आज शिकार हो रहा है। समाजवाद अरक्षणके भूतको भार भगावेगा। प्रत्येक व्यक्तिको धनकी उतनी चिन्ता नहीं रहती जितनी चिन्ता उसे इस बातकी रहती है कि उसके परिवारको अन्न और वस्त्रका सङ्कट न होने पावे। समाजवादमें जब उसे यह आश्वासन मिल जाता है तो वह सब कुछ पा लेता है।

(७) स्वाधीनता और लोकतन्त्रकी प्राप्ति—पूँजीवादी व्यक्तिगत स्वतन्त्रताकी दोहाई देते हैं, लेकिन दैनिक आवश्यकतासे त्राण प्राप्त किये बिना अन्य सभी स्वतन्त्रताका कोई मूल्य नहीं है और न उनका उपभोग ही किया जा सकता है। दैनिक आवश्यकता-की चिन्तासे मुक्ति भी केवल समाजवाद ही प्रदान करता है।

उदाहरणके लिए कहा जाता है कि पूँजीवादी प्रथामें प्रत्येक व्यक्तिको अपना पेशा चुननेकी स्वतन्त्रता है। लेकिन जहाँ, आवश्यक शिक्षा, उपयुक्त ट्रेनिंग तथा प्रभावके अभावमें जब अनेक पदोंसे वह वंचित रह जाता है वहाँ तथाकथित स्वतन्त्रताका मूल्य ही क्या है ? पूँजीवादी प्रथामें जिस स्वतन्त्रताका राग अलापा जाता है उसकी प्राप्ति चन्द विशिष्ट व्यक्तियोंको ही है, मजूरोंके लिए वह सुविधा प्राप्त नहीं है जो दरिद्रतासे घिरा हुआ है। अपनी सन्तान, पत्नी तथा परिवारके लिए वह इतना ज्यादा भीरु और चिन्तित बना रहता है कि एक कामको छोड़कर उसे दूसरा अच्छा काम खोज निकालनेका साहस नहीं होता, उसे अपने विचारोंको व्यक्त करनेका साहस नहीं होता ; क्योंकि उसे सदा इस बातका भय बना रहता है कि कहीं उसकी नौकरी न चली जाय, उसकी तरक्की न रुक जाय। उसे इतना भी सहारा नहीं होता कि सङ्कटकालमें वह अपने साथियोंकी सहायता करे या ट्रेड यूनियनका सदस्य बनकर संगठित हो जाय। इस तरहकी दुर्दशामें पड़ा व्यक्ति आजाद कैसे कहा जा सकता है ? और जिस डिमाक्रेसीके लिए उसे प्राण उत्सर्ग करनेकी प्रेरणा दी जाती है उस डिमाक्रेसीका उसके लिए क्या महत्व है जब कि वह दरिद्र है, चिन्ताओंसे घिरा है, और न तो अपने भविष्यके बारेमें सोच सकता है और न विचारपूर्वक अपने वोटका उपयोग ही कर सकता है। इस तरहकी तथाकथित डिमाक्रेसीमें राज शोषक समुदायकी आज्ञाओंका पालकमात्र है। और अपनी गरीबीके कारण जबतक जनसमुदाय कमजोर बना रहेगा, अपने प्रभावको व्यक्त न करनेके लिए लाचार बना रहेगा

तबतक यही हालत बनी रहेगी। सच्ची डिमाक्रेसी वहीं कायम हो सकती है जहाँ आवश्यकताके लिए चिन्ता और परीशानी नहीं है। कहनेका मतलब यह कि सच्ची डिमाक्रेसीका दर्शन समाजवादमें ही सम्भव है।

(८) समान अवसर :—आज क्या हालत है। धनमें असमानता होनेके कारण सभी क्षेत्रोंमें असमानताका राज्य है। चन्द विशिष्ट व्यक्तियोंको जन्म, प्रभाव, स्वास्थ्य, आमोद, विश्राम, काम, शिक्षा तथा संस्कृतिकी सारी सुविधाएँ प्राप्त हैं और जनसाधारणको केवल उन टुकड़ोंसे सन्तोष करना पड़ता है जो उन्हें अपने मालिकोंके जूठनसे मिल जाता है। लेकिन समाजवादमें ये असमानताएँ दूर हो जायँगी। समाजवादमें धन और वर्ग-जनित असमानता नहीं रह जायगी। सभी श्रेणीके मजूरोंका समान आदर होगा चाहे वे खेतमें काम करते हों, कल-कारखानोंमें काम करते हों या दफ्तरोंमें काम करते हों। ऊँचनीचका भेदभाव मिट जायगा और सभीको समान सुविधाएँ प्राप्त होंगी। इस विचारसे सभी मजूर एक ही परिवारके प्राणी समझे जायँगे। योग्यता और प्राप्तिका भेदभाव अवश्य उनके बीच रहेगा। लेकिन जहाँतक राजका सम्बन्ध है वह प्रत्येक व्यक्तिको उन्नति तथा विकासका समान साधन प्रस्तुत करेगा। वर्तमान युगमें हजारों बालक तथा बालिकाएँ ऐसी मिलेंगी, जिनमें प्रतिभा है लेकिन साधनोंके अभावमें वे उपयुक्त शिक्षासे वञ्चित रह जाते हैं और दूसरी तरफ धनी परिवारमें उत्पन्न होनेके कारण जाहिलों और बुद्धुओंकी शिक्षाके लिए बेकार लाखों रुपये खर्च कर दिये जाते हैं। समाजके दृष्टिकोणसे यह बर्बादी और

अलाभकर है। समाजवादमें इस तरहकी सारी असमानताओंका अन्त हो जायगा और जनसाधारणको जीवन आरम्भ करनेके लिए उपयुक्त अवसर प्राप्त होगा। इसका परिणाम यह होगा कि प्रत्येक को अपने विकासके लिए पर्याप्त साधन मिल जायगा।

(९) विश्राम :—आज केवल विशिष्ट वर्गको ही विश्रामका अवसर मिलता है लेकिन समाजवादमें यह प्रत्येक व्यक्तिको उपलब्ध होगा। राजका प्रधान कर्तव्य होगा प्रत्येक व्यक्तिके कामके घण्टेको कम-से-कम कर देना। काम करने योग्य प्रत्येक व्यक्तिसे वह अधिक-से-अधिक काम लेगा और श्रम-को घटानेवाले यन्त्रोंका अधिकाधिक उपयोग होगा। वर्तमान युगमें श्रमको घटानेवाले यन्त्रोंके उपयोगका सारा लाभ पूँजीपतिको ही होता है। उन यन्त्रोंके प्रयोगसे मजूरोंकी संख्यामें कमी कर दी जाती है, कम मजूरोंसे काम होने लगता है, मजूर बेकार हो जाते और भूखों मरने लगते हैं। लेकिन समाजवादमें इस तरहके यन्त्रोंका प्रयोग सभी मजूरोंके श्रमका घण्टा कम करनेके लिए होगा ताकि मजूरोंको अपने विकासका अवसर मिले। अभीतक तो अपने कामके लिए मनुष्य मनुष्यको तथा पशुको अपना गुलाम बनाता रहा है किन्तु यदि उसी कामके लिए यन्त्रोंका प्रयोग किया जाय तो क्या यह समीचीन नहीं होगा? बिजली, भाफ, तेल और कोयला हमारी गुलामीका काम कर सकते हैं। इसलिए अपनी आवश्यकताकी पूर्तिके लिए हम उन्हींका प्रयोग क्यों न करें? वर्तमान युगमें हममेंसे अधिकांशको अपना सारा समय अन्न-वस्त्र जुटानेमें ही समाप्त कर देना पड़ता है। लेकिन यदि इन कामोंके लिए हम

यन्त्रोंका उपयोग करें तो हमें अन्य कामोंके लिए पर्याप्त समय मिल जाता है। यह हालत केवल मजूरोंकी ही नहीं है बल्कि पढ़ लिखे लोगों—वकीलों, अध्यापकों, शिक्षकों, डाक्टरों तथा सरकारी अफसरों—तककी है। इन लोगों-का भी सारा समय जीविका उपार्जनमें ही लग जाता है। इन सभी लोगोंके सामने जिन्दा रहनेका ही प्रमुख प्रश्न है, सुखसे रहनेकी बात तो ये सोच भी नहीं सकते। यदि उन्हें अन्न-वस्त्रकी निश्चिन्तता हो जाय तो वे अपना समय उन कामोंमें लगावें जिनमें उन्हें अधिक रुचि है। मनुष्य जीवनके सभी क्षेत्रोंमें कैसी उन्नति देखनेको मिलेगी!

(१०) मजूरोंकी देखभाल:—समाजवादका प्रधान उद्देश्य मजूरोंको सुखी बनाना है। इसलिए वह इस तरहके उपायोंके निका-लनेमें सदा तत्पर रहेगा जिससे मजूरोंको काम करनेमें सहूलियत और आराम मिले। ऐसे उपाय निकाले जायँगे जिनसे उन्हें काम करनेमें थकान न हो और वह परेशान न हों। राज अधिक-से-अधिक द्रव्य व्यय करके भी मजूरोंके कामको सुगम बनानेका यत्न करेगा। वर्तमान युगमें बीमार हो जानेपर मजूरकी चिन्ता बढ़ जाती है क्योंकि काम करनेसे वञ्चित हो जानेके कारण उसकी आमदनी बन्द हो जाती है और दवादारूके अभावमें उसकी चिकित्सा और शुश्रूषा ठीक तरहसे नहीं हो सकती। समाजवादमें मजूरोंको मुफ्त चिकित्सा तथा दवादारूकी सुविधा प्राप्त होगी और डाक्टरी जाँचमें जबतक वह काम करने लायक नहीं समझा जायगा तबतक उसके परिवारवालोंको राजकी

ओरसे अन्न, वस्त्र तथा अन्य आवश्यक चीजें मिलती रहेंगी।

(११) आत्मविकासकी सुविधा :—समाजवादी राष्ट्र केवल इतनी ही सुविधाएँ नहीं प्रदान करता। वैज्ञानिक सङ्गठनकी सहायतासे जो धन सग्रहीत होगा वह सब-का-सब जनताका होगा। इसलिए जनसाधारणको वे अनेक सुविधाएँ प्राप्त होंगी जो आज केवल धनिक वर्गको ही प्राप्त हैं, जैसे, स्वस्थकर प्रदेशोंकी यात्राके लिए अवकाश, खेल, बागबगीचा, आमोद-प्रमोद, पाठशाला तथा विद्यालय कलागृह, इञ्जिनियरिङ्ग, शिल्पशाला, प्रयोगशाला, अनुसन्धान-गृह, पुस्तकालय, संग्रहालय, स्वस्थकर मकान, मकान-सम्बन्धी हर तरहकी सुविधाएँ तथा अन्यान्य सहूलियतें।

(१२) अपराधोंमें कमी:—शोषक वर्गका अन्त हो जानेसे वर्गद्वेष और वर्गयुद्धका अन्त हो जायगा। व्यक्तिगत सम्पत्तिकी रक्षाके लिए अनेक तरहके कानून बनाये गये हैं। उनमें हाथ लगानेवाला कानूनकी दृष्टिमें अपराधी माना जाता है और उसे अनेक तरहके दण्ड दिये जाते हैं। इसलिए व्यक्तिगत सम्पत्तिके न रह जानेपर अपराधोंमें कमी आप-से-आप हो जायगी। समाजवादका यही मुख्य उद्देश्य है। एक तो व्यक्तिगत सम्पत्तिको उठा देना और दूसरे प्रत्येक व्यक्तिकी आवश्यकताकी पूर्ति राजकी तरफसे होना। दोनों बातें अपराधको घटानेमें सहायक होंगी। राष्ट्रसे पूँजीवादी प्रथाके उठते ही साम्राज्यवादका भी अन्त हो जायगा अर्थात् दुर्बलों तथा कमजोरोंका शोषण नहीं हो सकेगा। नफा बटोरनेकी समस्याके उठते ही लोग उतना ही कमाना चाहेंगे जितनेकी उन्हें आवश्यकता होगी।

इस तरह युद्धको प्रोत्साहन देनेवाली शक्तियोंका अन्त हो जायगा और चारों ओर शान्ति तथा सुव्यवस्था स्थापित हो जायगी।

इस तरह हम देखते हैं कि समाजवादकी स्थापनाके साथ-ही-साथ समाजको अनेक तरहकी बरकतें मिलने लगेंगी। उन बरकतोंका मूल्य किसी भी प्रकार कम आँकना हमलोगोंके लिए उपयुक्त नहीं होगा। लेकिन साथ ही-साथ समाजवाद जिस परिणामपर पहुँचता है उसे भी हम आँख मूँदकर क़बूल करनेके लिए तैयार नहीं हैं। हम इस बातकी समीक्षा भी कर लेना चाहते हैं कि समाजवाद जिन बातोंका आश्वासन देता है वे कहाँतक सम्भव हैं।

५—समाजवादके विरुद्ध बातें

(क) समाजवादियोंकी कल्पना—

(१) आर्थिक प्रथाका उद्देश्य जनसाधारणका कल्याण—समाजवादियोंका तर्क है कि जनसाधारणको अधिकाधिक सुख पहुँचानेका एकमात्र साधन समाजवाद है, दूसरा कोई मार्ग नहीं है। समाजवादियोंका कहना है कि मानवताका पूर्ण विकास केवलमात्र उसी आर्थिक व्यवस्थासे सम्भव है जिसका प्रतिपादन वह करता है। इससे यह सिद्ध होता है कि उसके सारे प्रयासोंका एकमात्र उद्देश्य जनसाधारणका कल्याण है। जहाँतक इस प्रश्नका सम्बन्ध है हम पूरी तरह समाजवादियोंके साथ हैं। समाजवादियोंकी इस बातको हम पूरी तरह स्वीकार करते हैं कि आर्थिक व्यवस्थाका एकमात्र उद्देश्य जनसाधारणकी आवश्यक-

ताओंकी पूर्ति होना चाहिये। इस बातमें पूँजीवादियोंसे हमारा मेल नहीं खाता। इसी लक्ष्यको सामने रखकर हम समाजवादियोंकी कल्पनाओंकी समीक्षा करेंगे।

(२) बड़े पैमानेपर उत्पादनसे लाभ :—पीछे कह आये हैं कि समाजवाद सम्पत्तिपरसे व्यक्तिगत अधिकार उठाकर पूँजीवादी प्रथाकी बुराइयोंका अन्त करना चाहता है। पूँजीवादी प्रथामें दो उपकरण हैं-(१) बड़े पैमानेपर उत्पादन तथा (२) सम्पत्तिपर व्यक्तिगत अधिकार। समाजवाद सम्पत्तिपर व्यक्तिगत अधिकारको ही सारी बुराइयोंकी जड़ मानता है। बड़े पैमानेपर उत्पादनको वह स्वीकार करता है और उसे अपनी व्यवस्थामें कायम रखना चाहता है। समाजवादकी धारणा है कि बड़े पैमानेपर उत्पादन लाभकर है। इस व्यवस्थाको स्वीकार कर लेनेपर इससे सम्बन्ध रखनेवाली सभी बातोंको स्वीकार कर लेना होगा। बड़े पैमानेपर उत्पादनकी व्यवस्थाको स्वीकार कर लेनेपर समाजवादको अस्वीकार करना असम्भव है। यदि हम बड़े पैमानेपर उत्पादनकी व्यवस्थाको कबूल करते हैं तो उसकी देखरेखकी जिम्मेदारी राजके हाथमें दे देना ही उचित होगा अन्यथा चन्द धनिकोंके हाथमें बहुत अधिक प्रभुता चली जाती है। जो पूँजीवादी देश समाजवादको दबाने तथा नियन्त्रित रूपमें पूँजीवादी प्रथाको कायम रखनेके लिए प्रत्नयशील है वे ऐसे युद्धमें निरत हैं जिसमें उनकी हार निश्चित है। आन्दोलनका मनोविज्ञान उनके प्रतिकूल है। हम समाजवादियोंके इस दावेसे सर्वथा सहमत हैं कि यदि बड़े पैमानेपर उत्पादन कायम रहता है तो पूँजीवादी प्रथाका अन्त होना तथा उसके स्थानपर समाजवादका कायम होना

अनिवार्य है। पूँजीवादके खिलाफ समाजवादके सभी तर्क अकाट्य हैं। इसके अलावा न्याय और ईमानदारीका भी यही तकाजा है कि पूँजीवादी प्रथाका स्थान किसी ऐसी प्रथाको ग्रहण करना चाहिये जिसमें किसी ऐसे व्यक्तिके हाथमें वह विशेषाधिकार न चला जाय जो अपने पड़ोसीकी दरिद्रता और निरीह दशासे लाभ उठाकर उसे गुलाम बनाकर रखे और अपना स्वार्थ-साधन करे। समाजवादी भावनाओंका विस्तार होना अचरजकी बात नहीं है। अचरजकी बात तो यह है कि वह अभीतक कुण्ठित क्यों पड़ा है। इसका एकमात्र कारण यही प्रतीत होता है कि समाजवादकी सम्भावनाओंपर लोगोंको दृढ़ विश्वास नहीं है। इसलिए लोग रूढ़िवादके अनुयायी बनकर पुरानी प्रथाको छोड़नेके लिए तैयार नहीं हैं। वर्तमानकी बुराइयाँ उन्हें स्वीकार हैं लेकिन भविष्यके अन्धकारमें वे जाना नहीं चाहते। लेकिन यह रूढ़िवाद और भय समयकी प्रगतिको नहीं रोक सकते। जो उचित और न्याययुक्त है उसके सामने उन्हें सिर झुकाना ही पड़ेगा।

इतना सब कह चुकनेके बाद भी यदि हम समाजवादकी निन्दा करते हैं तो इसका मतलब यह नहीं है कि पूँजीवादी प्रथाके खिलाफ जो कुछ तर्क समाजवादका है उसके हम विरोधी हैं बल्कि इसका कारण यह है कि पूँजीवादी प्रथाके स्थानपर समाजवाद जो कुछ कायम करना चाहता है उससे हमारी सहमति नहीं है अर्थात् हम इस बातको स्वीकार करनेके लिए तैयार नहीं हैं कि राजके हाथमें प्रबन्ध देकर बड़े पैमानेपर उत्पादन कायम रखनेसे समाजका कल्याण होगा। समाजवादके इस सिद्धान्तके आधारको हम नीचे विश्लेषण करेंगे। लेकिन

उससे पहले हम उन कतिपय सिद्धान्तोंका विश्लेषण कर देना चाहते हैं जो समाजवादी विचारधाराके आधारस्तम्भ हैं।

(३) भौतिक साधनोंकी बहुलतासे लाभ :— समाजवादकी उत्पत्ति पूँजीवादसे है। इसलिए पूँजीवादकी मौलिकताको वह अपनेसे दूर नहीं कर सकता। तात्पर्य यह कि भौतिक साधनों-से घिरे रहना वह कल्याणकारक मानता है। समाजवाद इस सिद्धान्तको बिना आपत्तिके स्वीकार कर लेता है कि जिसके पास जितना अधिक होगा वह उतना ही ज्यादा सुखी होगा। समाजवादका उद्देश्य इसी तरहके सुखका साधन प्रत्येक व्यक्तिके लिए जुटाना है। ऐतिहासिक विवेचनसे प्रकट होता है कि समाजवादका उदय इसी सिद्धान्तके आधारपर हुआ कि जिन लोगोंको सुखका समस्त साधन प्राप्त है, उतना ही उन लोगोंको मिलना चाहिए जिन्हें प्राप्त नहीं है। इसलिए भौतिक साधनोंपर ही समाजवाद अधिक जोर देता है अर्थात् जीवनकी अपेक्षा वह सुखके साधनोंको ज्यादा महत्व देता है। समाजवाद-ने इस प्रश्नपर कभी विचार नहीं किया कि क्या सुखके इतने भौतिक साधन मनुष्यके लिए आवश्यक हैं।

लेकिन सुखके साधनोंकी बहुलताके सिद्धान्तको आँख मूँद-कर स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि इतिहास इस बातका साक्षी है कि प्रत्येक युगमें इस तरहके महापुरुष हो गये हैं जिन्होंने यह बतलाया ही नहीं है बल्कि प्रमाणित कर दिया है कि मनुष्यका जीवन साधनोंकी बहुलतापर ही निर्भर नहीं करता। इतना ही नहीं, बहुतोंने तो यहाँतक प्रमाणित कर दिया है कि मनुष्यके पास भौतिक साधन जितने ही ज्यादा होंगे उतने ही वे

उसके आत्म-विकासके मार्गमें बाधक होंगे। महात्मा ईसाने तो यहाँतक कह डाला है कि सुईके छेदमें ऊँट भले ही समा जाय लेकिन ईश्वरके साम्राज्यमें धनी प्रवेश नहीं पा सकता। भौतिक साधनोंकी बहुलतासे चिन्ताका उदय होता है। चिन्ता मस्तिष्कको इस प्रकार विकृत कर देती है कि मनुष्य तुच्छ बातोंमें ही फँसा रह जाता है। उदाहरणके लिए यदि हम हाथसे नारङ्गी या अनार खा सकते हैं तो उसके लिए तश्तरी, काँटा, छुरी तथा चम्मचकी क्या आवश्यकता है ? इनसे तो हमारी झंझट और भी बढ़ जाती है। एकके होनेके साथ ही इनके साथ होने वाले अन्य उपकरणोंकी जरूरत पड़ जाती है। जैसे काँटा-छुरीसे खानेके लिऐ टेबुल-कुर्सी चाहिए। टेबुल-कुर्सी रखनेके लिए बड़ा कमरा चाहिए। बड़े कमरेके लिए बड़ा मकाम भी होना आवश्यक है। फिर इन सामानोंको साफ-सुथरा और सजाकर रखनेके लिए आदमी-जन चाहिए। अच्छा भोजन, साफ-सुथरा और स्वस्थकर मकानकी आवश्यकताको तो समझा जा सकता है लेकिन इसके लिए बहुत अधिक सामान तथा आडम्बरकी आवश्यकता समझमें नहीं आती। सामानोंकी भीड़ लगा देनेके अतिरिक्त इनसे हमें कोई लाभ नहीं दिखायी देता और इस तरह हमें अपने बहुमूल्य समयका अधिक भाग उन वस्तुओंकी देख-रेखमें लगाना पड़ता है जिनका जीवनके लिए कोई महत्व नहीं है। हमारी वास्तविक आवश्यकताओंकी पूर्ति अवश्य होनी चाहिये। अन्न-वस्त्र आदिकी प्राथमिक आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिए जिन चीजोंकी नितान्त आवश्यकता है वे तो हमें अवश्य प्राप्त होने चाहिये। हम त्यागी और विरागी बनकर नहीं रहना

चाहते। लेकिन कम सामानोंसे भी हम सुखमय जीवन बिता सकते हैं। जिसने विलासिताका जीवन बिताया है, वह यह भली-भाँति बतला सकता है कि जरूरी सामानोंके अलावा फाजिल सामानोंको हटा देनेसे उसे जीवनमें किस तरहकी शान्तिका अनुभव प्राप्त हुआ है। पूँजीवादी प्रथामें लोग सामानोंकी बहुलताके पीछे इस तेजीके साथ दौड़ रहे हैं कि इससे पूँजी-पतियोंकी साम्पत्तिक अवस्थामें वृद्धि ही नहीं हुई है बल्कि लोग उसके गुलाम बन गये हैं। इसलिए समाजवादके इस सिद्धान्त-को पूर्णतया स्वीकार करनेकी अपेक्षा उससे कदम पीछे हटाकर यह प्रतिपादित करना चाहते हैं कि इससे मनुष्यके सुखके साधनोंमें वृद्धि न होकर इसके प्रतिकूल उन्हें हानि हुई है। सामानोंकी बहुलतासे तृष्णा और चाहकी वृद्धि होती है। चाहकी वृद्धिके साथ ही साथ उनकी पूर्तिके लिए तत्पर होना पड़ता है। इसका परिणाम यह होता है कि मनुष्य सदा चाहोंकी पूर्तिमें ही फँसा रहता है वह अपने लिए और कुछ नहीं कर सकता। उसके जीवनका एकमात्र उद्देश्य हो जाता है सामानोंकी खोज, उनका उत्पादन या प्राप्ति और उन्हें सम्हालकर रखना और उनकी देखभाल करना। अधिकाधिक वस्तुओंके प्राप्त करनेकी यह प्यास पूँजीवादकी देन है और समाजवादने मनुष्यके सुख-साधनकी कसौटीपर कसे बिना ही इसे स्वीकार कर लिया है।

(४) श्रम : एक अभिशाप—इसके साथ ही श्रमके प्रति समाज-वादकी जो धारणा है उसे स्वाभाविक और समीचीन नहीं कहा जा सकता। यह भी पूँजीवादकी देन है जिसे समाजवादने

अपना लिया है। पूँजीवादने श्रमको नीरस और यन्त्रवत् बना दिया है। किसी कल-कारखानेमें मशीनके सामने खड़ा होकर लगातार एक ही क्रियाको करते रहनेमें आनन्द ही क्या मिल सकता है। इसलिए मजूरको इस तरहके कामसे घृणा हो जाती है और वह काम नहीं करना चाहता। वह अपने अवकाशके समयपर ध्यान लगाये रहता है जब उसे इस तौरसे कामसे छुटकारा मिल जायगा और वह विश्रामका आनन्द लेगा। इसका परिणाम यह होता है कि कामसे अरुचि होनेपर वह विश्रामकी ओर अधिक झुकता है और उसका विश्राम व्यसनका रूप धारण कर लेता है। ऐसी हालतमें यह आश्चर्यकी बात नहीं है कि समाजवादमें मनुष्य विश्रामको ही प्रमुख मानता है और कामको बुरा समझकर उससे जल्दी-से-जल्दी समाप्त करना चाहता है। अब हमें यह देखना है कि मनुष्यके विकासके लिए काम आवश्यक है या बुराई है। शरीर-विज्ञानकी दुनियामें जीवनको कायम रखने या आगे बढ़ानेके लिए पशुपक्षी जो शारीरिक श्रम करते हैं वही श्रम उनके जीवनके प्रत्येक तन्तुका शासन करता है। अंग-प्रत्यंगका निर्माण,शरीरका गठन, इन्द्रियों और अवयवोंका कार्यकलाप, प्रेम और घृणाके भाव, खेलकूद सब कुछ उसी श्रमपर निर्भर करता है। उसका सारा विकास इसी श्रमपर निर्भर करता है। इससे हम इस परिणामपर पहुँचते हैं कि श्रम कोई बुरी चीज नहीं कि हम उससे अपना पिण्ड छुड़ानेका यत्न करें। रोगी और अपाहिज ही वेकार बैठना पसन्द करता है। किसी शिशुको ले लीजिए और उसकी जाँच कीजिए। शिशु प्रकृतिके बहुत निकट है लेकिन बड़े होकर समाज-

की रीति-रिवाज और आदतोंको अपनाकर हम प्रकृतिसे बहुत दूर हो गये हैं। बच्चेमें चञ्चलता और कार्यशीलताकी मात्रा कितनी ज्यादा रहती है। यदि उसे हाथ-पैर हिलाने या दौड़ने-घूमनेसे रोका जाता है तो उसे कष्ट होता है। वह नहीं चाहता कि उसके ऊधममें किसी तरह की बाधा उपस्थित की जाय। पूरी ताक़त-को बार-बार लगाकर भी वह थकता नहीं दीखता। सबसे ज्यादा नफरत उसे बिस्तरसे होती है। बिस्तर अकर्मण्यता सूचक है। तब क्या इससे हम इस परिणामपर नहीं पहुँचते कि यदि हम कामके घण्टेको घटाना चाहते हैं तो हमारे सिद्धान्तमें कोई त्रुटि अवश्य है। यन्त्रोंका प्रचारकर पूँजीपति श्रममें इसलिए कमी करना चाहते हैं कि उसे मजूरी कम देनी पड़ती है। समाजवादके सामने कम या अधिक मजूरीका प्रश्न नहीं है। तब भी यदि वह हाथके श्रमको उठा देना चाहता है तो क्या इससे यह मतलब नहीं निकलता कि उसके इस अध्यवसायका परिणाम शारीरिक कार्य कलापके लिए समीचीन और स्वास्थ्यप्रद नहीं होगा ?

इतिहास हमें बतलाता है कि जिस राष्ट्रके प्राणी कामसे जी चुराने लगते हैं और अकर्मण्य बन जाते हैं उस राष्ट्रका अन्त निकट समझा जाता है। वे काहिल और सदाचारहीन हो जाते हैं और प्रयास करनेकी माद्दा खो बैठते हैं। वे बिलासी बन बैठते हैं और अपना सारा काम नौकरों या गुलामों द्वारा कराने लगते हैं। प्रकृतिका नियम है कि जो श्रम करेगा वही उसका फल भोगेगा। इसलिए जो जाति आरामपसन्द हो जाती है और कामसे भागने लगती है उसका ह्रास हो जाता है, उसकी मेधाशक्तिका लोप हो जाता है, वह सदाचार विहीन हो जाती है,

शारीरिक क्षमता उसमें नहीं रह जाती क्योंकि जीवनके साथ सङ्घर्ष करते रहनेसे ही ये प्राप्त होते हैं। जो बात समाजके लिए सच है वही व्यक्तिके लिए भी सच है। कहावत है जो लड़का दिन-रात बेकार रहता है और काम नहीं करता, वह गावदू हो जाता है। किसीके पिताने परिश्रमसे सम्पत्ति हासिल की, वह परिश्रमी, संयमी और योग्य था। अपने परिश्रमसे वह इतना बड़ा बन गया। लेकिन उसका बेटा विलासिताका दास बन गया, जीवनके उथल-पथल तथा थपेड़ोंका उसे कोई ज्ञान नहीं, अपने पिताकी कमाई पूँजीसे वह मौज उड़ाता है और इस तरह निकम्मा बन जाता है। समाजवादमें भी इसी तरहका खतरा है। बड़े पैमानेपर उत्पादनका फल यह होगा कि सुखके साधन प्रत्येक व्यक्तिको बहुतायतसे मिलने लगेंगे, काम कम करना पड़ेगा। परिणाम यह होगा कि मनुष्य अपने विकासकी चरम सीमापर नहीं पहुँच सकेगा। उसकी प्रगति रुक जायगी। कामके बाद विश्राम फलदायक होता है लेकिन बेकाम रहकर दिन-रात आमोद-प्रमोदमें डूबे रहना हमेशा हानिकर सिद्ध हुए हैं।

मार्क्स तथा जर्मनीके अन्य दार्शनिकोंने—फिचे, शेलिंग हीगल—इस बातपर बहुत अधिक जोर दिया है कि सङ्घर्षसे ही प्रगति सम्भव है। यूनानके दार्शनिक हेराक्लीटसका कहना है कि सभी चीजोंका जनक सङ्घर्ष है। विघ्नबाधाओंका सामना पड़नेपर ही हमारी सोयी शक्ति जागृत होती है और संघर्षके बीचसे वह हमें आगे बढ़ाती है। दार्शनिकोंके इस ध्रुव सत्यका सीमित उल्लेख मार्क्सने वर्गयुद्ध तथा समष्टिवादकी स्थापनाके लिए किया।

लेकिन इसे कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता कि आपदाओंसे लड़कर उनपर विजय पानेसे ही विकास हो सकता है चाहे वह युद्ध कमजोरियोंके साथ हो, आलस्यके साथ हो अथवा मूर्खताके साथ हो। अनिवार्य आवश्यकता ही हमें प्रेरणा शक्ति प्रदान करती है और निस्तारका रास्ता निकालती है। इसीलिए आवश्यकताको आविष्कारकी जननी कहा जाता है। इस तथ्यको स्वीकार करलेनेपर क्या यह नहीं मान लिया जा सकता कि जिस वातावरणमें लोगोंको कम-से-कम श्रम करनेकी प्रेरणा मिलेगी वहाँ प्रगति रुक जायगी। एक बात और, प्रकृति न तो स्थिर रह सकती है और न स्थायी। उसका क्रम सदा चलता रहता है। यदि कदम आगेकी ओर नहीं बढ़ेगा तो स्वभावतः वह पीछेकी ओर हटेगा अर्थात् जहाँ प्रगति नहीं है वहाँ पतन निश्चित है।

इसके उत्तरमें समाजवादी यह कह सकते हैं कि श्रम आवश्यक और श्रेयस्कर तो है; लेकिन उत्पादनके रुढि और आदिम तरीकोंसे चिपके रहना कहाँकी बुद्धिमानी है। यदि बड़े-बड़े यन्त्रों द्वारा उत्पादनका काम सहूलियत और उत्तमतासे हो सकता है तब उनका उपयोग क्यों न किया जाय और मनुष्यको क्यों व्यर्थ परीशानीमें डाला जाय। हमलोग कामसे भागना नहीं चाहते लेकिन परीशानीसे अवश्य पिण्ड छुड़ाना चाहते हैं। इसके उत्तरमें यह कहा जा सकता है कि यदि समाजवादी कामसे भागना नहीं चाहते बल्कि केवल परीशानीसे बचना चाहते हैं तब तो किसी तरहका मतभेद नहीं उत्पन्न हो सकता। इस बातसे सभी सहमत होंगे कि जहाँतक सम्भव हो परीशानीको मिटाकर

कामको सरल, रोचक तथा मनपसन्द बनाना चाहिए। लेकिन इसके साथ ही प्रश्न यह उठता है कि परीशानीको घटानेके लिए हमलोग बड़े पैमानेपर उत्पादन करनेका साधन जब जुटाना चाहते हैं तो इसका प्रभाव उन मजूरोंपर कैसा पड़ेगा जिन्हें इस प्रथाके अन्दर कारखानों और खेतोंमें काम करना होगा। यह स्मरण रखना चाहिए कि उत्पादनका कौनसा तरीका उपयुक्त है और किसे काममें लाना चाहिए, उसकी जाँचकी हमारे पास एक ही कसौटी है और वह यह कसौटी है कि किसी भी उत्पादन प्रणालीका मनुष्यके विकासपर क्या असर पड़ता है।

(ख) बड़े पैमानेपर उत्पादनमें दोष :—

पूँजीवादी प्रथामें मनुष्यकी आवश्यकताको बढ़ाते रहना समीचीन माना गया है। समाजवादियोंने भी इसे उपयुक्त मान लिया है। इसलिए उन्हें पूँजीवादियोंके बड़े पैमानेपर उत्पादनके रोगको भी सार्थक मान लेना पड़ा है। अनियन्त्रित आवश्यकताको पूरा करनेका एकमात्र उपाय निःसीम उत्पादन है। एकका दूसरेके साथ अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। यदि मनुष्यकी आवश्यकताको इस तरह सीमित कर दिया जाय कि थोड़े सामानोंसे ही वह सन्तुष्ट हो सके जो हाथसे चलनेवाले यन्त्रोंसे तैयार किये जा सकें तब बड़े-बड़े कल-कारखानोंकी आवश्यकता नहीं रह जाती। आवश्यकताकी अनियन्त्रित बाढ़के ही कारण बड़े पैमानेपर उत्पादन आधुनिक जीवनका आवश्यक अङ्ग बन गया है। प्रश्न यह उठ सकता है कि बड़े पैमानेपर उत्पादनमें दोष ही क्या है ? यदि हमारी आवश्यकताओंकी पूर्ति इसके

द्वारा सहजमें हो जाती है तो इसे हमलोग क्यों न ग्रहण करें। इसका एक उत्तर तो हमलोग ऊपर दे आये हैं कि आवश्यकताकी वृद्धि मनुष्यके विकासमें सहायक नहीं होती। लेकिन इसके और भी कारण हैं जिनकी समीक्षा आगे की जायगी।

(१) बुद्धिके विकासमें बाधा:—बड़े पैमानेपर उत्पादनका काम हमेशा केन्द्रीभूत होता है। इससे यह स्पष्ट है कि प्रबंन्धमें मजूरोंका हाथ नहीं रहता। ग्रामोद्योगकी पुरानी प्रणालीमें मजूर खुद अपना मालिक था। उसे खुद यह सोचना पड़ता था कि वह क्या उत्पन्न करेगा और कैसे उत्पन्न करेगा। यदि उसमें आविष्कारकी योग्यता होती थी तो वह अपने औजारों और काम करनेके तरीकोंमें सुधार भी कर लेता था। अपने कामके रास्तेमें जो बाधाएँ उपस्थित होती थीं उन्हें दूर करनेके प्रयासमें वह बहुत कुछ सीखता रहता था। जो कच्चा सामान उसे उपलब्ध हो सकता था उसीके अनुसार वह अपने कामका नक्शा तैयार करता था। उसे अपने साधनोंकी देख-भाल करनी पड़ती थी। अपने मालके लिए बाजार ढूँढनेमें वह दक्षता सीखता था। इस तरह उसे पगपगपर अपनी बुद्धिका उपयोग करना पड़ता था। इस सिलसिलेमें अनेक बातें उसकी दृष्टिमें आती थीं और उन्हें वह सीखता था, जैसे इञ्जीनियरिङ्ग, हिसाब, रसायन, भौतिक विज्ञान, अर्थशास्त्र, आयव्यय तथा यातायातका उसे पर्याप्त ज्ञान हो जाता था। इन समस्याओंसे वह भिड़ जाता था और उनका हल निकाल लेता था। उसे सदा यह खटका लगा रहता था कि इनको सुलझाये बिना उसका काम नहीं चल सकता। इस तरह धीरे-धीरे वह निपुण हो जाता था।

और जो साधन उसे प्राप्त होते थे उनसे ही काम करना वह सीख जाता था। कामसे न तो वह थकता ही था और न उसे अरुचि ही उत्पन्न होती थी क्योंकि एक ही कामके विविध अङ्गों- में उसका मन बहलाव हो जाता था और नीरसता नहीं आने पाती थी। अब इससे कारखानोंमें काम करनेवालोंकी तुलना कीजिये। उनके सामने इस तरहकी कोई समस्या नहीं उपस्थित होती। उन्हें उत्पादनके केवल एक ही विभागमें काम करना पड़ता है। वहाँ यन्त्रोंका ताँता बँधा है। उनकी देखभाल करनेके लिए भिन्न-भिन्न अफसर हैं। धरतीके कोने-कोनेमें दलाल और पोद्दारों- का जाल बिछा है जो आवश्यक कच्चा माल खरीदकर भेजा करते हैं। उत्पादन प्रणालीमें सुधार तथा नयी बातोंके प्रवेशके लिए अलग कारीगर नियुक्त हैं जिनका यही काम है। फोरमैन तथा मैनेजर प्रबन्धके कामकी देखरेख करते रहते हैं। डाय- रेक्टर लोग कारोबारकी नीति तथा आर्थिक अवस्थापर सदा ध्यान रखते हैं तथा तैयार मालको बेचनेके लिए भी दलालों और एजेण्टोंका जाल बिछा हुआ है। इस लम्बी-चौड़ी जञ्जीरमें मजूरके लिए एक भी कड़ी खाली नहीं है जहाँ उसे गूँथा गया हो। उसे यहाँ अपनी बुद्धि लगानेकी लेशमात्र भी गुञ्जायश नहीं है। मशीनें अनवरत चक्कर देती रहती हैं, उसके सामने तैयार मालका ढेर लग जाता है, लेकिन वे कैसे आते हैं और कहाँसे आते हैं, यह सब कुछ वह नहीं जान पाता।

वह यह भी नहीं जानता कि वह उत्पादनके किस भागमें सहायता प्रदान कर रहा है। वह सिर्फ इतना ही जानता है कि जिस यन्त्रके सामने वह खड़ा कर दिया गया है उसकी गतिको

ठीक रखनेके लिए उसे निर्दिष्ट अंग सञ्चालनमात्र कर देना है। वही काम वह विना किसी परिवर्तनके दिनरात करता रहता है। मनोविज्ञानके पण्डितोंका कहना है कि काममें विविधता न होनेपर मनको स्फूर्ति नहीं मिलती और कामसे मन हट जाता है। उदाहरणके लिए सब बातें समान होनेपर भी स्थिरकी अपेक्षा गतिमान् अपनी ओर अधिक ध्यान खींचता है, जैसे आकाशमें हजारों लाखों नक्षत्र उदय और अस्त होते रहते हैं, हमलोग प्रतिदिन उन्हें देखते हैं, लेकिन हमें उनमें कोई विशेषता नहीं प्रतीत होती लेकिन जहाँ कोई तारा टूटा कि हमारा ध्यान उस ओर खिंच जाता है। स्थिर चित्रोंकी अपेक्षा चल-चित्रोंमें ज्यादा आकर्षण मिलता है। भारतीय दार्शनिकोंका भी यही मत है कि विविधतामें ही विचारशक्तिको स्फूर्ति मिलती है लेकिन जहाँ स्थिरता है वहाँ विचारधाराका प्रवाह कुण्ठित या बन्द हो जाता है। जहाँ जीवन और गति है वहाँ विचारोंका प्रवाह होता रहता है, लेकिन बेकाम होनेपर मन चञ्चल होकर इधर-उधर भटकने लगता है और अन्तमें सुस्त पड़कर सो जाता है। यदि ये बातें सच हैं तो इस तरहके वातावरणमें मनका विकास सम्भव नहीं है। इसका परिणाम अस्थिरता है। उद्योग-प्रधान देशोंकी आज यही हालत है। यह ठीक है कि समाजवादमें इसके निवारणका कुछ हदतक उपाय किया जायगा। मजूर एक विभागसे दूसरे विभागमें जा सकता है। कारखानोंमें कामके सभी तरीकोंको सीख सकता है, प्रबन्धमें भी दिलचस्पी ले सकता है, उसकी बात भी चल सकती है। लेकिन यह सब उसकी इच्छापर निर्भर है। उसे जो काम सौंपा गया है उसका

यह अङ्ग नहीं है क्योंकि जिस यन्त्रको चलाने, देखने-भालने तथा सम्हालनेका जो काम उसे सौंपा गया है, उससे इसे कोई प्रयोजन नहीं है और उसके केवल इतना ही जानते रहने पर भी उन कामोंमें किसी तरहकी वाधा नहीं पड़ सकती। वह काम उसी प्रकार चलता रहेगा। उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि मजूरको अपनी वुद्धि लगानेका कोई अवसर नहीं मिलता। आप अपनेको स्वयं शिक्षित करनेके अयोग्य हैं। अर्थात् कामके ऊपर उसे अपनेको शिक्षित करनेका अलग उद्योग करना पड़ेगा जो उसके कामसे एकदम भिन्न होगा और उसे स्वतन्त्ररूपसे प्राप्त करना होगा। कामके द्वारा उसकी वुद्धिका विकास तभी हो सकता है जब काम इस तरहका हो कि उसे पूरा करनेमें मजूरको अपनी वुद्धि लगाना आवश्यक हो। लेकिन कल-कारखानोंमें मजूरके सामने इस तरहकी कोई समस्या उपस्थित नहीं हो सकती इसलिए कल-कारखानोंमें काम करनेवाले मजूरोंकी वुद्धि और कौशलका विकास नहीं हो सकता। बल्कि ज्यों-ज्यों यन्त्रोंमें उन्नति या सुधार होता जायगा और उत्पादनके तरीके उन्नति करते जायँगे त्यों-त्यो उसकी वुद्धिकी आवश्यकता घटती जायगी। इससे यही आशा की जा सकती है कि कल-कारखानोंमें काम करनेवाले मजूरोंकी बौद्धिक योग्यता दिन-पर-दिन घटती ही जायगी और उनके शारीरिक गठनका भी ह्रास होता जायगा।

(२) कलात्मक ज्ञानके विकासमें बाधा—अब यह देखना है कि बड़े कारखानोंमें काम करनेवाले मजूरोंके कलात्मक ज्ञानका विकास होता है या नहीं। ग्रामोद्योगमें जुलाहेको रंगोंके नये-नये रूप निकालनेका अवसर मिलता है, रंगोंको मिला-मिला कलात्मक-

में मिलाकर वह नया नया रङ्ग तैयार कर सकता है। नया तर्ज भी निकालनेका उसे अवसर मिलता है। जब लोग उसके नये रङ्ग और नये तर्जको पसन्द करते हैं तो उसे खुशी होती है। बुरा हो या भला उसे इतना सन्तोष तो होता है कि यह उसकी सूझकी उपज है, उसके अपने प्रयासका फल है। यदि वह रङ्ग या तर्ज लोगोंको पसन्द नहीं आया तो वह उसे बदल देता है। इस तरहसे लोगोंकी रुचिका पता लगता है और वह इसी तरह अपने कलात्मक ज्ञानको बढ़ाता है। उसे समता, अनुपात, तरीका आदिका ज्ञान हो जाता है। ये सब गुण उसके विकासके लिए परमावश्यक हैं। इनका उसके जीवनपर प्रभाव पड़ता है और उसमें नवीनता आती जाती है। उसे अपने कामसे कभी सन्तोष नहीं होता। इसलिए उसका हाथ रुकता नहीं। वह प्रतिदिन नयी-नयी कल्पनाओंका प्रयोग करता रहता है। उसकी आँखें इतनी अभ्यस्त हो जाती हैं कि वह दोष या कमीको तुरन्त समझ लेता है और उन्हें दूर करनेका उपाय सोच निकालता है। नये-नये निर्माणके आनन्दसे वह फूल उठता है और अपने इर्दगिर्दकी चीजोंसे ही सन्तुष्ट न होकर वह अपने भावके अनुसार चीजें तैयार करता है। उसका कौशल उसे गतिशील बनाता है, उसे अनुशासन और समयकी शिक्षा मिलती है, वह परिश्रमी बन जाता है; क्योंकि उसके कलात्मक ज्ञानसे उसे जो प्रेरणा मिलती है वह तबतक उसे सन्तोषकी साँस नहीं लेने देती जबतक वह अपने मालको पूर्णतापर नहीं पहुँचा देता। इस तरह उसका काम उसे पूर्ण योग्य बना देता है। लेकिन कारखानोंमें काम करनेवाले मजूरोंको यह नसीब नहीं है।

कारखानोंमें मशीनों द्वारा जो कपड़ा तैयार होता है उसके उत्पादन-में पहले तो एक आदमीका हाथ नहीं रहता, दूसरे सारा काम मशीनों द्वारा होता है। वह तो कलोंके पास खड़ा रहकर केवल-मात्र इतना देखता रहता है कि मशीनोंमें किसी तरहकी गड़बड़ी पैदा नहीं होने पाती और बेरोक-टोक काम चलता रहता है। न तो रङ्ग और न तर्जका ही उसे कोई श्रेय है। और जिस तर्जका कपड़ा तैयार करनेके लिए मशीनें ठीक कर दी गयी हैं उसमें वह किसी तरहसे हस्तक्षेप भी नहीं कर सकता। इसलिए जहाँ तक उसके कामका सम्बन्ध है न तो उसे रङ्गोंके मिलावट-का कोई ज्ञान पैदा हो सकता है और न कलात्मक ज्ञान ही वह प्राप्त कर सकता है।

(३) चरित्र निर्माणमें बाधा—बड़े-बड़े कारखानोंके मजूरोंके चरित्र निर्माणमें भी रुकावट पैदा हो जाती है। जिम्मेदारीसे ही चरित्रका निर्माण होता है। अपनी रुचिसे काम करना तथा दूसरेकी रुचिसे काम करनेमें बड़ा अन्तर है। जो व्यक्ति अपनी इच्छाके अनुसार अपने कामपर नियन्त्रण नहीं रख सकता वह उस कामके द्वारा अपना चरित्र निर्माण नहीं कर सकता। बड़े-बड़े कारखानोंमें मजूर अनेकोंमें एक हैं। वह अपनी इच्छा-नुसार काम नहीं कर सकता। उसे काम करनेके लिए औरोंका साथ देना पड़ता है। वह एक सेनाके सैनिकके समान है जिसे सेनाके साथ ही चलना और रुकना पड़ता है। अपनी रुचिके अनुसार वह उत्पादनकी वस्तुमें किसी तरहका परिवर्तन नहीं कर सकता। वह पूरी एक वस्तुको तैयार भी नहीं करता बल्कि एक वस्तुके किसी एक अंशको और उसी अंशको तैयार करनेमें

मशीनोंकी योजनाके अनुसार न-जाने कितने मजूर लगे हुए रहते हैं। उसे मशीनकी गतिके अनुसार काम करना पड़ता है। उसमें कमीवेशी करना उसके हाथमें नहीं है। उसके कामका समय नियत है और समयका नियन्त्रण दूसरोंके हाथमें है। इस तरह जो वस्तु तैयार होती है उसके उत्पादनमें न तो उसकी रुचिका कोई सवाल उठता है और न उसकी इच्छा-शक्तिका ही उपयोग होता है। चरित्र निर्माणके लिए अपनी शक्ति और योजनाको प्रकट करनेका अवसर मिलना आवश्यक है। जिस व्यक्तिको यह अवसर नहीं मिलता वह ठीक यन्त्रके समान है या गुलाम है।

यहींपर हम उस प्रश्नपर विचार कर लेना चाहते हैं जो समाजवादियोंके अनुसार मजूरोंके चरित्र निर्माणमें सहायक हो सकते हैं। समाजवादका कहना है कि मजूरोंको अपने साथि-योंसे मिलने-जुलने, मजूरोंकी सभामें बैठकर कारखानोंके प्रबन्ध आदिपर विचार करनेका अवसर मिलेगा और इस तरह कारखानोंके संचालनमें उनका हाथ रहेगा। इसे स्वीकार भी कर लिया जाय तो उसका कार्यक्षेत्र फैक्टरी कौन्सिल या सोवियततक ही सीमित रह जाता है; क्योंकि इसके ऊपरकी सभी सभाओं—नगर सोवियत, जिला सोवियत, प्रान्तीय सो-वियत तथा सुप्रीम सोवियतके साथ उसका सम्पर्क केवल उसके चुने प्रतिनिधियों द्वारा ही रहता है। इस तरह वह उनसे सदा दूर ही रहता है। अब हमें यह देखना चाहिए कि फैक्टरी सोवियतमें मजूरोंको शिक्षित बनाकर उनके चरित्र निर्माणकी कहाँतक गुञ्जायश है। जिस कारखानेमें सैकड़ों मजदूर काम

करनेवाले होंगे, उनमें दस-बीस ही ऐसे होंगे जिन्हें उस कारखानेके प्रबन्धमें किसी तरहकी रुचि होगी और उस सम्बन्धमें कुछ कह सकेंगे। इनमें भी थोड़े ही ऐसे होंगे जिन्हें प्रबन्ध विभागके कामोंमें लगन होगी, जो उस सम्बन्धमें सोचते-विचारते होंगे और दूसरोंको इसके लिए तैयार करनेकी आकांक्षा रखते होंगे। अधिकाँश मजूर सर्वथा उदासीन ही दिखायी देंगे और प्रबन्धके सम्बन्धमें उसी समय किसी तरहकी दिलचस्पी दिखावेंगे जब कोई विकट समस्या उठ खड़ी होगी। ऐसे अफसरोंपर भी अपना कोई निजी राय या विचार नहीं प्रकट करेंगे बल्कि उन मजूरोंका अनुसरण करेंगे जो पहलेसे इस काममें उत्साह और लगन दिखाते आये हैं। अधिकांश मजूरोंकी यही हालत रहती है। वे अपनी विचारशक्तिको काममें नहीं लाते और दूसरोंके भरोसे चलते रहते हैं। वे बैठकों और अधिवेशनोंमें उपस्थित रहते हैं, वाद-विवाद सुनते हैं, लेकिन वे अपना मत उसी तरफ देते हैं जिस तरफ उनके नेताका झुकाव रहता है। बहुत हुआ तो अपने नेताके मतके समर्थनमें भाषण दे डाला। यह तो मानना ही पड़ेगा कि वे साथ बैठकर सलाह करते हैं और उनका निर्णय सबका निर्णय माना जाता है। लेकिन हमारे विचारणीय विषयके लिए यह महत्वपूर्ण नहीं है कि वे एक साथ बैठकर सलाह-मशविरा करते हैं और एकमत या बहुमतसे किसी निर्णयपर पहुँचते हैं और वह निर्णय सबका निर्णय माना जाता है। हमारा कहना यह है कि यद्यपि अधिवेशनोंमें सभी शामिल होते हैं लेकिन बुद्धिका प्रयोग इने-गिने मजूर ही करते हैं और जो कुछ निर्णय होता है वह उन्हींकी बुद्धिकी उपज है

बाकी सब मूक समर्थक-मात्र रहते हैं। अच्छी-से-अच्छी कौंसिलों-में यही होता है। यह बात सच है कि वहाँ प्रत्येक व्यक्तिको सोचने-विचारनेका कम अवसर मिलता है लेकिन अधिकांश मजूर ऐसे ही होते हैं जो सोच-विचारका काम दूसरोंपर सौंप देते हैं। जिनमें सोचने विचारनेकी माद्दा है या जो अपना प्रभाव दूसरों-पर डाल सकते हैं उनका अधिकाधिक विकास होता रहता है और इस तरह वे अपने साथियों पर शासन करते हैं। लेकिन बाकी मजूरोंका व्यक्तित्व कुण्ठित हो जाता है और उसका विकास नहीं हो पाता। इस तरह अधिकांश मजूर जहाँ-का-तहाँ पड़े रह जाते हैं और अपने व्यक्तित्वको विकसित करनेका उन्हें कोई उपयुक्त साधन नहीं मिलता। स्वतन्त्र साधन मिलनेपर ही वह अपनी विचारशक्तिका उपयोग कर सकते हैं। इस तरहका अवसर मिलनेपर ही मनुष्यको किसी निर्णयपर पहुँचनेके लिए प्रयास करना पड़ता है और इस तरहके प्रयासके द्वारा ही उसका विकास सम्भव है। लोगोंके साथ बैठकर वह जो निर्णय करता है उसमें उसके विकासकी कम ही सम्भावना रहती है। यह बहुत महत्वपूर्ण बात है और इसे हृदयङ्गम कर लेना आव-श्यक है अन्यथा हम इसी भ्रममें रहेंगे कि किसी व्यक्तिका अपना स्वतन्त्र निर्णय और जनसमूहके साथ उसका निर्णय दोनों एक ही चीज है और दोनोंका प्रभाव उसके चरित्र निर्माण पर समानरूपसे पड़ता है।

इसका यहाँ अन्त नहीं है। इस सम्बन्धमें यह भी दावेके साथ कहा जा सकता है कि जहाँ समुदायके साथ किसी निर्णय-पर पहुँचना पड़ता है वहाँ वैयक्तिक विकासको बाधा भी पहुँ-

-चती है। उसे प्रकट करना तो दूरकी बात रही। समूहके निर्णय-के सामने व्यक्तिगत विचारोंको कुण्ठित हो जाना पड़ता है। यह देखा गया है कि जहाँ एक व्यक्तिको स्वयं किसी निर्णय-पर पहुँचना पड़ता है, वह निर्णय उससे सदा भिन्न होता है जब वही व्यक्ति समूहके साथ बैठकर उसी विषयपर कोई निर्णय करता है। उसका एकमात्र कारण यह है कि समूहके साथ होनेपर उसके ऊपर ज़िम्मेदारीका बोझ उतना ज्यादा नहीं रहता क्योंकि उसके विचारोंपर समूहके विचारोंका प्रभाव पड़ना अनिवार्य है। समूहके साथ बैठनेपर अनेक तरहकी बातें पैदा हो जाती हैं जो मनुष्यके स्वतन्त्र विचारके मार्गमें रुकावट पैदा कर देती हैं—जैसे, दोस्त मित्रों या सङ्गी साथियों-का लेहाज़, अपने दलके विचारोंका पालन, भावोत्पादक भाषणों-का प्रभाव, किसी महापुरुष या बड़े नेताका लेहाज, अथवा उन लोगोंका सङ्कोच जो उसके भविष्यको सुखमय बना सकते हैं या उसपर कृपाओंकी वर्षा कर सकते हैं। इस तरहकी अनेक बातें हैं जिनका प्रभाव जन-समूहमें बैठनेपर किसी भी व्यक्ति-पर पड़ता है लेकिन यदि वही व्यक्ति स्वयं निर्णय करने बैठता है तो वह उससे भिन्न निर्णय भी कर सकता है।

इससे हम इस निर्णयपर पहुँचते हैं कि किसी भी व्यक्ति-की योग्यताके पूर्ण विकासके लिए जो अवसर उसे एकाकी होकर विचार करनेमें प्राप्त है वह समूहके साथ बैठकर विचार करनेमें प्राप्त नहीं हो सकता। इसलिये यह कल्पना करना कि कलकारखानोंमें काम करनेवाले मजूरोंका मानसिक विकास

उसी तरह होगा जैसा उस मजूरका जिसे खुद अपना काम करने-का अवसर मिलता है, गलत होगा। कल कारखानोंमें काम करनेवाले मजूरोंमें चारित्रिक जिम्मेदारीका उदय हो ही नहीं सकता।

(४) मनुष्यताका लोप :—आखिर मनुष्य और पशुमें अन्तर क्या है ? मनुष्यमें ज्ञान है, बुद्धि है, विवेक है, कलात्मक ज्ञान है, चरित्र है। ये सब बातें पशुमें नहीं पायी जातीं। यदि मनुष्यमें भी इनका अभाव रहे तो वह भी पशुके समान ही माना जायगा। जिस समाजमें ये बातें नहीं पायी जायँगी वह सुसंकृत और सभ्य होनेका दावा किस तरह कर सकता है। मनुष्यके विकासके लिए ये तत्व आवश्यक हैं और प्रत्येक व्यक्तिमें इन तत्वोंका होना अनिवार्य है। लेकिन हम ऊपर देख आये हैं कि कारखानोंमें काम करनेवाले मजूरोंमें इनका होना आवश्यक नहीं समझा जाता है। जो बातें कारखानोंमें काम करनेवाले मजूरोंपर लागू हैं वही बड़े पैमानेपर उत्पा-दनके सभी क्षेत्रोंमें लागू हैं। दोनोंके डिग्रीमें अन्तर भले ही हो सकता है। इसका परिणाम यह होता है कि बड़े पैमानेपर उत्पादनमें मनुष्य अपनी मनुष्यताकी श्रेणीसे गिर जाता है। यह परिणाम अनिवार्य और अवश्यंभावी है। प्रकृतिका यह अटल विधान है कि मनुष्य अपना विकास तभी कर सकता है जब वह अपनी बुद्धि, चरित्र और कलात्मक ज्ञान-को किसी उपयोगी काममें लगाता रहे जिनसे इन गुणोंका विकास हो सकता है और जो इनके उपयोग बिना पूरा नहीं हो सकता। इन गुणोंकी वर्षा आकाशसे नहीं होती बल्कि जीवनके सङ्घर्षमें पड़कर मनुष्य स्वयं इन्हें प्राप्त और विकसित

करता है। जिन अवयवोंका प्रयोग नहीं होता वे धीरे धीरे मुर्दा हो जाते हैं। इसलिए यदि मनुष्यको भी अपनी बुद्धि तथा कलात्मक ज्ञानके उपयोगका अवसर नहीं मिलता तो ये भी कुण्ठित होकर मर जायँगे। यदि मनुष्य निरन्तर ऐसे ही कामोंमें लगा रहा जहाँ इनके उपयोगकी सम्भावना अधिक कालतक नहीं है तो निश्चल यन्त्र और मनुष्यमें जो भेद है उसका लोप हो जायगा। कल-कारखानोंमें यही होता है। इसीलिए कल-कारखानोंमें काम करनेवाले मजूरोंको कारखानेका हाथ (फैक्टरी हैण्ड) कहा जाता है; क्योंकि कारखानोंके मस्तिष्कसे उनका कोई सम्बन्ध नहीं रहता। इनकी बुद्धि, चरित्र तथा कलात्मक ज्ञानका वहाँ कोई उपयोग नहीं है क्योंकि जिसका एकमात्र काम यन्त्रोंको चालू रखना है उन्हें इनसे क्या मतलब! इस तरह वह मशीनका चक्का या धुरा बन जाता है; मनुष्यता इसमें रह नहीं जाती और यन्त्र के समान काम करता रहता है। यदि किसी संस्था या व्यवसायकी अन्तिम कसौटी यह है कि मानव समाजपर उसका अच्छा या बुरा कैसा प्रभाव पड़ता है तब तो बड़े पैमानेपर उत्पादन अवश्य ही हानिकर है और उसकी जितनी भी निन्दा की जाय थोड़ी है। बड़े पैमानेपर उत्पादनसे मनुष्यके पास सामग्रीकी ढेर भले ही हो जाय लेकिन इसे प्राप्त करनेके लिए उसे अपनी सबसे मूल्यवान् वस्तु गँवानी पड़ती है अर्थात् अपना व्यक्तित्व। जीसस क्राइस्टके शब्दोंमें यदि मनुष्य अपनी आत्माका बलिदान कर सारे विश्वकी विभूति ही प्राप्त कर ले तो उससे क्या लाभ!

(५) बड़े पैमानेपर काम करनेवालोंकी जमात इतनी बड़ी होती है कि सच्चे भ्रातृभावकी स्थापना असम्भव है:—बड़े पैमानेपर उत्पादनका एक फल यह होता है कि छोटे-छोटे आत्म-निर्भर व्यवसायिक संगठनोंके अस्तित्वका लोप हो जाता है और वे बड़े-बड़े संगठनोंमें विलीन हो जाते हैं। पहले जमानेमें एक गरोह या क्षेत्र अपनी आवश्यकताकी सारी चीजें पैदा करता था। लेकिन बड़े पैमानेपर उत्पादनमें उसकी आवश्यकताकी चीजें कहीं अन्यत्र तैयार होती हैं और उसे कोई ऐसी चीजोंके तैयार करनेमें श्रम करना पड़ता है जिसकी उसे एकदम जरूरत नहीं रहती। मीलों जमीन संयुक्त खेतीके काममें लायी जा रही हैं। उनमें गेहूँ पैदा किया जा रहा है। इसी तरह बड़े-बड़े व्यवसायिक केन्द्र खड़े किये जाते हैं जिनमें समस्त देशकी आवश्यकताकी चीजें तैयार की जाती हैं अर्थात् एक-एक कारखानेमें समस्त देशकी आवश्यकताकी एक चीज तैयार की जाती है और उसे चारों ओर भेजा जाता है। इस तरह जो क्षेत्र आत्मनिर्भर था उसे दूसरी इकाइयोंके साथ जोड़कर एक बड़ी इकाई खड़ी की जाती है जिसका विस्तार देशव्यापक होता है।

प्रश्न यह उठता है कि यदि हम लोगोंके बीच सहयोग और भ्रातृभावकी भावना जाग्रत करना चाहते हैं तो क्या यह समुचित तरीका है? समाजवादियोंका कहना है कि हमलोगोंको ऐसी आर्थिक व्यवस्था कायम करना चाहिये जिसका पथप्रदर्शक सिद्धान्त हो, जो 'जितना काम कर सके उससे उतना काम लिया

जाय और जिसे जितनेकी आवश्यकता हो, उसे उतना दिया जाय।' इसे वास्तविक रूपसे चरितार्थ करनेके लिए हमें ऐसा गरोह भी कायम करना चाहिए जिसके प्रत्येक प्राणी एक दूसरेसे प्रेम रखें और अन्य भावनाका त्याग कर केवल गरोहकी कल्याण-कामना ध्यानमें रखें। यह तभी सम्भव है जब एक गरोह एक बड़े संयुक्त परिवारके समान हो। गरोह जितना ही बड़ा होगा, उपरोक्त आदर्शका पालन उतना ही कठिन होता जायगा। बड़े पैमानेपर उत्पादनकी प्रवृत्ति—जैसा ऊपर दिखाया जा चुका है—छोटे-छोटे गरोहोंको एक बड़े गरोहमें लुप्त कर देनेकी है। ऐसी व्यवस्थामें उपरोक्त आदर्शको सफल नहीं बनाया जा सकता।

उत्तरमें यह कहा जा सकता है कि बड़े पैमानेपर उत्पादन-में—बड़े-बड़े कल-कारखानोंमें—काम करनेवाले अपना छोटा-छोटा गरोह बना लेते हैं। इसलिए उनके बीच सच्चे भ्रातृभाव और सहयोगका विकास सम्भव होगा। प्रत्येक गरोहके लोग एक साथ रह सकते हैं, पढ़-लिख सकते हैं, खेल-कूद सकते हैं और खा-पी सकते हैं। रूसमें इसी तरहका प्रयोग हो भी रहा है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि बड़े पैमानेपर उत्पादन समाजमें भ्रातृभाव तथा सहयोगके भावके विकासमें किसी तरहकी बाधा नहीं उपस्थित कर सकता। बल्कि आशा तो यही की जाती है कि बाधक न बनकर वह साधक ही बनेगा। लेकिन यदि इस तरहके भ्रातृभावकी स्थापनाकी कल्पना समाजवाद करता है तब तो वर्तमान पूँजीवादी प्रथामें भी इस तरहके भ्रातृभावकी स्थापना सम्भव है। यह तो प्रत्यक्ष

देखा जाता है कि वर्तमान ग्रेट ब्रिटेन, जापान तथा स्वयं हिन्दुस्तानमें कल-कारखानोंमें काम करनेवाले मजूरोंमें समान जीवन व्यतीत करनेके लिए सङ्गठनकी प्रवृत्ति दिखायी देती है। लेकिन जहाँतक मेरा विचार है समाजवाद केवल इतना ही नहीं चाहता। समाजवाद समस्त आर्थिक ढाँचेको ही पारिवारिक सिद्धान्तके आधारपर कायम करना चाहता है अर्थात् समाजवाद चाहता है कि उत्पादन और व्यय (बँटवारा) का सारा काम एक परिवारकी नाईं चलता रहे अर्थात् राष्ट्रका प्रत्येक प्राणी परिवारके एक सदस्यकी भाँति अपनी योग्यता और शक्तिका पूरा उपयोग कर प्रत्येक व्यक्तिके कल्याणको सामने रखकर उत्पादनके लिए श्रम करे। अपना निजी स्वार्थ उसके सामने न रहे और उत्पादनमेंसे अपने परिश्रमके अनुसार लाभका अंश न लेकर अपनी आवश्यकताके अनुसार ले। समाजवाद आर्थिक जीवनको वर्तमात भौतिकवादके गड्ढेसे—जिसमें वह गिर गया है—निकालकर उसे आध्यात्मिक और मानवीय बनाना चाहता है। केवल वैयक्तिक लाभके सिद्धान्तको लेकर वह आगे बढ़ना नहीं चाहता जिसका आधार उत्पादन और आवश्यकता है और जहाँ दूसरोंके सुख-दुःखका ज़रा भी विचार नहीं किया जाता। उसके सिद्धान्तका आधार है पड़ोसीके सुख-दुःखका ख्याल, परस्पर प्रेम और सद्भाव। इसीके आधारपर मनुष्य अपनी हानि तथा लाभपर आँख न रखकर दूसरोंकी सहायता कर सकता है, उसके आवश्यकतापर ध्यान रख सकता है। यदि आर्थिक व्यवस्थाको उपरोक्त आधारपर काम करना है तो इसकी

पूर्तिके लिए केवलमात्र इतना ही आवश्यक नहीं है कि एक कार-खानेमें काम करनेवाले मजूरोंमें भ्रातृभाव और परस्पर सहयोग-की भावनाका उदय हो। पारिवारिक भावना या सच्चा प्रेम केवल एक कारखानेमें काम करनेवालोंके बीच ही होना पर्याप्त या आवश्यक नहीं है। बल्कि इस भावनाका उदय समस्त उत्पादकों और समस्त उपभोक्ताओंके बीच होना चाहिए। कहनेका मतलब यह कि यह भ्रातृभाव केवल पञ्जाबके गेहूँ पैदा करनेवालोंके बीच ही आपसमें नहीं होना चाहिए बल्कि उनके तथा कोयम्बतूरके कपड़ेके कारखानोंमें काम करनेवालोंके बीच भी होना चाहिए, बङ्गालके पाट पैदा करनेवालों तथा कानपुरके चमड़ेके कारखानोंमें काम करनेवालोंके बीच होना चाहिए। उसी हालतमें पञ्जाबके खेतिहर अन्य प्रान्तोंके अपने भाइयोंके ख्यालसे ज्यादा-से-ज्यादा पैदा कर सकते हैं और उनके मालसे अपने लिए केवल इतना ही ले सकते हैं जितनेकी उन्हें नितान्त आवश्यकता है। लेकिन सैकड़ों मीलोंकी दूरीपर स्थित उत्पादकों और उपभोक्ताओंके बीच इस तरहका पारिवारिक भाव पैदा होना असम्भवसा प्रतीत होता है। इस तरहकी भावनाका उदय वहीं सम्भव है जहाँ जमात या गरोहका दायरा सीमित है, जहाँ उत्पादन स्थानीय आवश्यकताके लिहाजसे ही होगा और जो लोग अपना उपार्जित सामान ही काममें लावेंगे। ऐसी हालत उत्पन्न करनेके लिए बड़े पैमानेपर उत्पादनसे सदा बचना होगा। किसी भी परिवारका व्यक्ति कमानेके लिए जी तोड़ परिश्रम इसलिए करता है और अपने निजी स्वार्थकी चिन्ता इसलिए नहीं करता; क्योंकि वह परिवार-

के प्रत्येक प्राणीको अपना अङ्ग समझता है, और उन्हें सुखी तथा निश्चिन्त रखना अपना कर्तव्य समझता है। इस तरहका प्रेम तथा कर्तव्यकी भावना उन लोगोंके लिए कैसे उदय हो सकती है जो एक दूसरेसे सैकड़ों मीलकी दूरीपर रहते हैं। यह तभी सम्भव है जब गरोहका दायरा इतना ज्यादा सीमित हो कि वे आपसमें बराबर मिलते जुलते रहें और एक दूसरेके सम्पर्कमें रहें। और यदि इस तरहके गरोहको अपनी आवश्यकताकी पूर्तिके लिए आत्मनिर्भर बनकर रहना है—यदि इस तरहके प्रत्येक प्राणीके बीच पारिवारिक सद्भाव और प्रेम स्थापित करना है जो नितान्त आवश्यक है—तो बड़े पैमानेपर उत्पादनकी नीतिसे काम नहीं चल सकता। इसलिए जबतक समाजवादी बड़े पैमानेपर उत्पादनका स्वप्न देखते रहेंगे तबतक वे अपने उस उद्देश्यकी पूर्ति नहीं कर सकेंगे।

हमने ऊपर जो कुछ कहा है उसे गलत साबित करनेके लिए रूसका उदाहरण नहीं पेश किया जा सकता, जहाँके लिए यह कहा जाता है कि वहाँके लोग एक परिवारकी भाँति प्रेम, और उत्साहसे काम करते हैं। कोई भी राष्ट्र—चाहे वह साम्राज्यवादी हो, फासिस्ट या नाजी हो—अधिनायकत्वमें राष्ट्रीय सङ्कटके समय सभी अन्य भावनाओंको त्यागकर एक हो जाता है और एक परिवारकी तरह काम करता है। लेकिन केवलमात्र इतनेसे ही यह साबित नहीं किया जा सकता कि उन्हें अपने पड़ोसियोंके लिए वही प्रेम है जो एक परिवारके सदस्यको अपने परिवारवालोंके लिए होता है। समाजवादके आदर्शकी पूर्तिके लिए इसी तरहके भ्रातृभावकी आवश्यकता है।

एक बात और विचारणीय है। समाजवाद उत्पादन और उपभोगके लिए बड़े-बड़े कारखाने खोलनेकी व्यवस्था करना चाहता है। क्या यह सम्भव है कि इतने बड़े-बड़े कारखानोंमें सच्चे भ्रातृभावकी भावनाका उदय हो सकता है। यदि किसी संस्थाको पूर्णताके साथ चलाना है तो उसमें किसी तरहका पक्षपात या भेदभाव नहीं होना चाहिए। वहाँ नियमोंका पूरी तरह पालन होना चाहिए, खासकर जब लाखों व्यक्तियोंको एक साथ लेकर चलना है। किसी व्यक्ति विशेषके विचारसे उसे अपने नियमोंको ढीला नहीं करना चाहिए बल्कि सबके साथ बिना किसी भेदभावके, समान व्यवहार करना चाहिए। अन्यथा इस संस्थापर अनेक तरहकी विपत्तियाँ आ सकती हैं। इस तरहकी संस्थाका काम मशीनकी तरह ही चल सकता है, व्यक्ति विशेषका ख्याल वहाँ नहीं हो सकता। यही कारण है कि किसी भी संस्थाका संचालक—चाहे वह संस्था अस्पताल हो, स्कूल हो, अदालत हो, या जेलखाना—अपने व्यक्तिगत व्यवहारमें कितना भी उदार या दयालु हो लेकिन संस्थाके अधिकारीकी हैसियतसे तो उसे कड़ा होना ही पड़ता है और निष्पक्ष होकर नियमका कड़ाईसे पालन करना पड़ता है। नियम या कानूनका उद्देश्य है सबके साथ बराबरीका न्याय। संस्थाका अफसर नियमकी आड़में पनाह ले सकता है और कह सकता है कि "तुम्हारे साथ हमारी सहानुभूति अवश्य है लेकिन हम हर तरहसे लाचार हैं क्योंकि हम नियमसे बँधे हैं और नियमके अनुसार हम अन्यथा कुछ नहीं कर सकते। जहाँ सैकड़ों आदमियोंका प्रश्न है—चाहे वे रोगी, छात्र,

या कैदी हों—वहाँ सदिच्छा रहते भी संचालक प्रत्येक व्यक्तिके लिए अलग-अलग व्यवहारका तरीका नहीं अख्तियार कर सकता, उसके सामने समस्याएँ और कठिनाइयाँ हैं। इसका परिणाम यह होता है कि बड़े-बड़े सङ्गठन मशीनकी तरह निर्जीव हो जाते हैं। जहाँ समस्त राष्ट्रके लिए उत्पादन और उपभोग एक सूत्रमें सङ्गठित किया जायगा और देशभरमें वह जालकी भाँति फैला रहेगा वहाँ इसी तरहकी अवस्था उत्पन्न होगी। ऐसी हालतमें इस बातकी कल्पना नहीं की जा सकती कि उन लोगोंमें परस्पर प्रेम या भ्रातृभावका उदय होगा। प्रेम वैयक्तिक भाव है और संस्थाको चलानेके लिए नियम और विधान कठोर और भावनाशून्य होता है। जिस वातावरणमें वैयक्तिक भावनाके लिए कोई स्थान नहीं है वहाँ इस बातकी आशा कैसे की जा सकती है कि किसी भी प्रकार परस्पर प्रेम और सद्भावनाका उदय होगा। इस तरहकी भावनाका उदय और विकास वहीं हो सकता है जहाँ व्यक्तियोंका एक दूसरेसे हेलमेल हो। इसके लिए छोटा गरोह ही उपयुक्त है। समाजवाद जिस बड़े पैमानेपर उत्पादन और उपभोगकी कल्पना करता है वहाँ तो इसकी सम्भावना ही नहीं है।

(६) बड़े पैमानेपर उत्पादनमें शक्तिका केन्द्रीकरण—उसका दोष :—

(क) टेकनाक्रेसी तथा एकछत्र राज :—

बड़े पैमानेपर उत्पादनमें बड़ी-बड़ी मशीनोंका प्रयोग होता है, जिनके तरीके जटिल और पेचीदा होते हैं इसलिए स्वभावतः

उत्पादनका काम ऐसे दक्षोंके हाथमें चला जाता है जो उन मशीनोंको चला सकते हैं। इस तरह राष्ट्रका समस्त आर्थिक जीवन चन्द दक्षों और संचालकोंके हाथमें चला जाता है। दक्षों द्वारा इस तरहके संचालनको टेकनाक्रेसी या संचालक शासन कहते हैं। इस तरह समाजवाद पूँजीवादसे पिण्ड छुड़ाकर उनके स्थानपर ऐसे लोगोंको कायम कर देता है जिनका एकाधिपत्य स्थापित हो जाता है। २-११-३४ के 'हरिजन'में महात्मा गांधीने एक लेखमें लिखा था—"मैं एकाधिपत्य और विशेषाधिकारसे घृणा करता हूँ। सर्वसाधारण जिसमें हिस्सा न बँटा सकें वह मेरे लिए तुच्छ है।" उनकी इस धारणासे कौन समाजवादी सहमत नहीं होगा ? तोभी समाजवाद अपने इस आदर्शसे बलात् हट जाता है और उत्पादनका नियन्त्रण कतिपय दक्षोंके हाथमें दे देता है क्योंकि वह बड़े पैमानेपर उत्पादनका पक्षपाती है।

हम ऊपर कह आये हैं कि बड़े पैमानेपर उत्पादन तथा विभाजनके लिए बहुत बड़े सङ्गठनकी आवश्यकता पड़ती है। किसी भी सङ्गठनमें काम करनेकी वैयक्तिक स्वतन्त्रताका अपहरण हो जाता है और वह स्वतन्त्रता या अधिकार कुछ चुने हुए व्यक्तियोंके हाथमें चला जाता है जो उसकी ओरसे उसका प्रयोग करते हैं। इस तरह अधिकारोंका केन्द्रीकरण हो जाता है। सङ्गठन जितना बड़ा होगा उतना ही ज्यादा अधिकारोंका केन्द्रीकरण होगा और चोटीके चुने हुए व्यक्तियोंके हाथमें सारा अधिकार चला जायगा। बड़े पैमानेपर उत्पादन स्थानीय

आवश्यकताकी पूर्ति करनेसे ही सन्तुष्ट न होकर समस्त राष्ट्र-

की आवश्यकताकी पूर्तिका प्रयास करता है, इसलिए उसे चलानेके लिए जो संस्था कायम की जाती है वह समूचे राष्ट्रकी होती है। समाजवादमें राष्ट्र ही उस संस्थाका रूप ग्रहण करता है। इस तरह राष्ट्रका एकछत्र शासन कायम हो जाता है। पूँजीवादी प्रथासे भी वह शक्तिशाली हो जाता है क्योंकि पूँजीवादी प्रथामें उत्पादन और विभाजन व्यक्तिविशेषके हाथमें रहता है। इसका परिणाम यह होता है कि आर्थिक क्षेत्रमें भी अधिकार अधिनायक तथा उसके कतिपय पार्श्वचरोंके हाथमें आ जाता है।

इस तरहका एक. धपत्य या एकछत्र शासन स्वयं बुरी चीज है क्योंकि इस प्रथामें कतिपय व्यक्तियोंके हाथमें पूरा अधिकार आ जाता है जो अच्छे-से-अच्छे व्यक्तिके लिए भी उपयुक्त या समीचीन नहीं है। समाजवादी वैयक्तिक उद्योगको इसलिए मिटाना चाहते हैं कि उस व्यवस्थामें उत्पादनका समस्त साधन कतिपय व्यक्तियोंके हाथमें हो जाता है और इस तरह चन्द लोगोंका प्रभुत्व बहुतोंपर स्थापित हो जाता है जिन्हें उनके इशारेपर चलना पड़ता हैं। लेकिन बड़े पैमानेपर समाजवादी उत्पादन व्यवस्थामें भी उस हालतमें किसी तरहका सुधार नहीं होता क्योंकि अन्ततोगत्वा वहाँ भी राष्ट्रके समस्त व्यक्तियोंको उन कतिपय व्यक्तियोंके इशारेपर ही चलना पड़ता है जिनके हाथमें राष्ट्रके समस्त आर्थिक साधनोंकी बागडोर आ जाती है। उत्पादनपर व्यक्तिविशेषके अधिकारको बुरा बतलाकर समाजवादी उसका मूलोच्छेद करना चाहते हैं। उसकी बुराई केवलमात्र यही है कि उस प्रथामें सारा अधिकार मालिकके हाथमें

रहता है। उस प्रथाका अन्तकर तथा राष्ट्रके हाथमें समस्त आर्थिक अधिकार सौंपकर हम उस बुराईसे त्राण कहाँ पाते हैं वह तो ज्यों-का-त्यों कायम रहती है। यहाँ भी बहुतोंका भाग्य कतिपय व्यक्तियोंके हाथमें ही केन्द्रित रहता है। अधिकार बुराइयोंकी जड़ है। समाजवादके अन्दर राष्ट्रके हाथमें जो एकाधिपत्य आ जाता है, वह भी बुराईसे मुक्त नहीं हो सकता।

यह तो कल्पनाके बाहरकी बात है कि सर्वहाराका अधिनायकत्व, जिसमें एक व्यक्तिके हाथमें एकाधिपत्य आ जाता है, अपने अस्तित्वको समूल नष्ट कर देगा। जिन्हें एक बार अधिकारका रस मिल गया—चाहे वह एक व्यक्ति हो या समूह हो—वह अधिकारको जल्दी त्यागना नहीं चाहेगा। इतना ही नहीं, बल्कि जबतक राष्ट्र बड़े पैमानेपर उत्पादनकी प्रथाका कायल रहेगा तबतक राष्ट्रका यह केन्द्रित नियन्त्रण अनिवार्य है। उससे पिण्ड नहीं छुड़ाया जा सकता। क्योंकि जबतक उत्पादन और विभाजन सामूहिक रूपसे चलता रहेगा तबतक उसका नियन्त्रण इसी प्रकार चन्द व्यक्तियों द्वारा होते रहना अनिवार्य है। यदि प्रत्येक व्यक्ति अपना काम करनेके लिए स्वतन्त्र हो जाय तब तो कोई भी सङ्गठन या संस्था—खासकर ऐसी जटिल संस्था जिसकी बड़े पैमानेमें उत्पादन और विभाजनके सञ्चालनके लिए नितान्त आवश्यकता है—घड़ी भरके लिए भी नहीं टिक सकती। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जबतक समाजवादी बड़े पैमानेपर, उत्पादनके सिद्धान्तसे चिपका रहेगा तबतक राष्ट्रहीन समाजका उसका ध्येय पूरा नहीं हो सकता। राष्ट्र या केन्द्रित नियन्त्रणका धीरे-धीरे सभी लोप हो सकता

है—जैसा समाजवादी चाहते हैं—जब उत्पादन और विभाजन विकेन्द्रित कर दिये जायँ और छोटे-छोटे गरोह कायम हो जायँ जो अपना काम खुद-बखुद चलाने लग जा यँ।

(ख) गृह-कलह—अधिकारके साथ ही डाह, ईर्ष्या, द्वेष, द्वन्द्व और कलह उत्पन्न होता है और चूँकि समाजवादी प्रथामें अधिकार-सम्पन्न व्यक्तियोंके हाथमें उत्पादन तथा विभाजनका भी पूरा नियन्त्रण रहेगा इसलिए इसकी पूरी सम्भावना है कि ईर्ष्यालु प्रतिद्वन्द्वी जीवनकी प्रत्येक विषमताओंके लिए उन्हें बदनाम करना चाहेंगे क्योंकि उनके हाथसे अधिकार छीन लेनेके लिए वे सदा प्रतिद्वन्द्वी दल तैयार करनेके यत्नमें रहेंगे। इस तरह राष्ट्रोंमें स्थिरता नहीं आने पावेगी और वह सतत गृह-युद्धका अखाड़ा बन जायगा। दूसरोंपर शासन करनेके अधिकारका लोभ दिन-पर-दिन बढ़ता जायगा। समाजवाद सिद्धान्ततः दूसरोंपर शासन करनेका यह अधिकार पूर्णरूपसे समाजवादी सङ्गठनको देता है इसलिए समाजवादी-राष्ट्र अधिकार प्राप्त करनेके लिए राजनीतिक द्वन्द्वका अखाड़ा बन जायगा।

(ग) युद्ध :—अधिकारकी इस लिप्साका कहाँ अन्त होगा, कोई नहीं कह सकता; क्योंकि साम्राज्यवादी शक्तियोंकी भाँति यह अपने देशकी सीमाको पारकर अन्य देशोंके जीतनेके लिए भी प्रेरणा प्रदान कर सकती है। पूँजीवादियोंकी तरह यह भी राष्ट्रीयताकी दोहाई देकर सारे विश्वको युद्धके खतरेमें डाल सकती है। हम पीछे दिखला आये हैं कि मार्क्सके सिद्धान्तमें सबसे बड़ा दोष यह है कि उसने राष्ट्रीयताकी सर्वथा उपेक्षा की है। वर्तमान युगमें राष्ट्रीयता एक राष्ट्रको दूसरे राष्ट्रके साथ

भिड़ानेमें प्रबल काम कर रहा है। कम-से-कम वर्तमान युगके पूँजीपतियों, साम्राज्यवादियों और फासिस्टोंके हाथमें यह बहुत बड़ा हथियार है। यह माननेका क ो कारण नहीं है कि अधिकार-लोलुप समाजवादी इस अमोघ अस्त्रका उपयोग नहीं करेंगे। सभी अधिकार लोलुप व्यक्ति एक ही ढाँचेमें ढले होते हैं। वर्तमान पूँजीवादी प्रथाकी अपेक्षा समाजवादी प्रथामें संगठनकी शक्ति ही बलवती होगी और संस्थाओंका ही शासन होगा। इसलिए इस बातकी बहुत ज्यादा सम्भावना है कि राष्ट्रीयताकी दोहाई देकर जनसाधारणको उत्तेजित किया जायगा और इस तरह देशके अन्दर और बाहर भी कलहकी अग्नि प्रज्वलित की जायगी। इसके अलावा पड़ोसके अन्य राज्य भी हमला कर सकते हैं; क्योंकि समाजवादी राष्ट्रकी प्रभूत सम्पत्ति देखकर उन्हें डाह उत्पन्न हो सकती है और उसे हड़पनेके लिए वे प्रस्तुत हो सकते हैं।

(घ) पुलिस और सैकिक शक्तिकी बहुलता :—इसका परिणाम यह होगा कि पूँजीवादी प्रथाकी अपेक्षा समाजवादी प्रथामें कहीं अधिक पुलिस और सैनिक शक्ति संग्रह करनेकी जरूरत इन कामोंके लिए पड़ेगी—(१) देशमें शान्ति और अनुशासन कायम रखनेके लिए। (२) उसकी समृद्धिको देखकर जो राष्ट्र उसपर आक्रमण करनेकी इच्छा रखते हों उन्हें भयभीत करने अथवा आवश्यकता पड़नेपर उनका मुकाबला करनेके लिए। (३) दुर्बल राष्ट्रोंपर चढ़ाई कर उन्हें अपनेमें मिला लेनेके लिए। एकछत्र अधिकार प्राप्त राष्ट्रके

लिए अपनी शक्तिको कायम रखने और उसका प्रयोग करनेके लिए दूसरा कोई उपाय ही नहीं है। समाजवादी राष्ट्रका निर्माण प्रेम, भ्रातृभाव और सहयोगके आधारपर करना चाहते हैं लेकिन वास्तविकतामें यह सब कुछ नहीं रहेगा और उनके राष्ट्रका राजनीतिक तथा आर्थिक ढाँचा सैन्य शक्तिके सहारे ही टिकेगा। इसलिए बड़े पैमानेपर उत्पादन प्रथाके अनुसार समाजवादी प्रथामें भी पुलिस और सेना शासनका आवश्यक और अनिवार्य अङ्ग हो जायगा और प्रेम, भ्रातृभाव तथा सहयोग गौण हो जायगा। इसका परिणाम यह होगा कि राष्ट्रकी सम्पत्तिका अधिक भाग शस्त्र तैयार करने तथा सैनिक काममें लगाया जायगा और देशकी जनता इसी तरह गरीब बनी रहेगी।

(च) मानवीय स्वतन्त्रताका अपहरण :—उत्पादनके साधनोंके केन्द्रीकरणके फलस्वरूप एक बड़ी संस्थाका संगठन अनिवार्य है। इस बड़ी संस्थामें काम करनेवालोंको अपने निजी विचारका कोई मूल्य नहीं रह जायगा। न वे अपने लिए कुछ सोच-विचार सकते हैं और न कामका कोई रास्ता निकाल सकते हैं। चाहे आपका मत मिले या न मिले आपको बहुमतके साथ मिलकर काम करना होगा, सबके पैरसे पैर मिलाकर चलना होगा। इसलिए संगठन या संस्थाका जोर जितना कम होगा नागरिकको वैयक्तिक स्वतन्त्रता उतनी ही ज्यादा प्राप्त होगी। सम्पत्तिके जुल्मसे तंग आकर जब अराजकतावादी उसका लोप या संहार चाहता है तो उसे बुरा नहीं कहा

जा सकता। हम ऊपर दिखला आये हैं कि जबतक बड़े पैमानेपर उत्पादन और विभाजनकी व्यवस्था जारी रहेगी, तबतक इस तरहकी बात कल्पनामात्र ही रहेगी। केन्द्रीकरणका अर्थ ही होता है व्यक्तिगत स्वतन्त्रताका अपहरण और केन्द्रमें या राष्ट्रके हाथमें सारी शक्तिका सञ्चय। इसमें किसी तरहका विकल्प नहीं हो सकता। उत्पादनमें केन्द्रीकरणके बावजूद भी पूँजीवादी प्रथामें किसी हदतक वैयक्तिक स्वतन्त्रता तथा वैयक्तिक संपत्तिके लिए स्थान है। पूँजीवादी प्रथाकी तरह यहाँ भी मालिक चन्द ही होते हैं इसलिए बाकी सब गुलाम हो जाते हैं। समाजवाद वैयक्तिक सम्पत्तिके भी सर्वथा खिलाफ है। इसलिए समाजवादी प्रथामें वैयक्तिक स्वतन्त्रताका सर्वथा लोप हो जाता है। समाजवादी केन्द्रीकरणका यह सबसे पहला अभिशाप है। इस दृष्टिसे संमाजवादी प्रथाको पूँजीवादी प्रथाका प्रौढ़ या समीचीन रूप ही कह सकते हैं अर्थात् पूँजीवादी प्रथाकी कमजोरियोंको दूरकर यह केन्द्रीकरणकी दृढ़ भित्तिपर अपना अधिकार कायम करता है और वैयक्तिक सम्पत्तिको सदाके लिए हवा कर देता है। हम पीछे दिखला आये हैं कि पूँजीवादी केन्द्रीकरण प्रथामें ज्यों-ज्यों व्यवसाय आगे बढ़ता है वह छोटे छोटे उद्योगोंको उदरस्थ करता जाता है। इसका विस्तार इतना व्यापक होता है कि एक भी वैयक्तिक उद्योग कायम नहीं रह जाते, एक-एक करके सभी उसमें समा जाते हैं। इस तरह सभी कारोबार या उद्योग राष्ट्रीय या राष्ट्रकी सम्पत्ति बन जाते हैं। इस दृष्टिकोणसे विवेचन करनेपर तो

यही प्रतीत होता है कि पूँजीवादी प्रथा आप-ही-आप समाजवादकी ओर खिंचती चली जा रही है, वह इसे रोक नहीं सकती। जिन देशोंमें पूँजीवादी प्रथा चरमोत्कर्षपर पहुँच चुकी है, कमसे-कम उन देशोंकी यही हालत है। इस तथ्यको समाजवादके ही अनेक विद्वान् इतना ज्यादा समझने लगे हैं कि वे इस मतका प्रतिपादन करने लग गये हैं कि समाजवादकी स्थापनाके लिए किसी तरहकी क्रान्तिकी आवश्यकता नहीं है। क्योंकि पूँजीवाद धीरे-धीरे उत्पादनके समाजीकरणकी तरफ अग्रसर हो रहा है। लेकिन व्यक्तिके दृष्टिकोणसे विचार करनेपर इसका क्या परिणाम निकलेगा ? अभी हालकी बात है, संयुक्त राष्ट्र अमेरिकाकी सरकारने इस बातकी धमकी दी थी कि वह रेलवे कम्पनियोंका वैयक्तिक अधिकार लेकर राष्ट्रके हाथमें सौंप देगी। क्यों ? केवल इसलिए कि रेलके कर्मचारी हड़ताल न करने पावें और इस तरह युद्धोद्योगोंमें बाधा न पहुँच सके। इससे तो यही तात्पर्य निकलता है कि सरकार मजदूरोंके हाथसे उनका यह अस्त्र भी छीन लेना चाहती है अर्थात् अपनी शिकायतोंको दूर करानेके लिए हड़तालरूपी जो एकमात्र अस्त्र उनके पास है। उसका प्रयोग भी वह उन्हें नहीं करने देना चाहती। पूँजीवादी प्रथामें कमसे कम इतनी स्वतन्त्रता तो उसके हाथमें रह जाती है। और जहाँ पूँजीपति मालिक मजूरोंका मुकाबला करनेकी पूरी ताकत नहीं रखता है वहाँ मजूरोंकी माँगें पूरी कर दी जाती हैं। लेकिन जब उद्योग और

व्यवसाय राष्ट्रके हाथमें आ जायगा तो हड़तालकी स्वतन्त्रता

भी मजूरोंको नहीं रह जायगी क्योंकि यह राष्ट्रके प्रति विद्रोह समझा जायगा और विद्रोह तथा विद्रोहियोंके दमनके लिए राष्ट्रकी सारी शक्ति और उपकरणोंका प्रयोग किया जायगा। इस तरह केन्द्रीकरणकी पूर्णताके साथ-ही-साथ मजदूरोंकी स्वतन्त्रताका अन्त हो जाता है। समाजवादी प्रथामें भी इस तरहकी बातोंका होना असम्भव नहीं है। क्योंकि मार्क्सवाद खुद इस बातका एलान करता है कि जनताका जीवन तथा विचारधारा निर्धारित करनेमें उत्पादनके तरीके सबसे ज्यादा महत्व रखते हैं। उत्पादनकी केन्द्रित प्रथाको कायम रखकर अपने सिद्धान्तके अनुसार समाजवादमें ही वह जनतापर उसी तरहके प्रभावकी आशा करेगा, जैसा पूँजीवादी प्रथामें रहता है अर्थात् गुलामी और अधीनता। चूँकि समाजवादी प्रथामें केन्द्रीकरण चरम सीमापर पहुँच जाता है इसलिए वहाँ इसकी और भी अधिक सम्भावना है।

जिस तरह पूँजीवादी प्रथाने लोगोंकी सम्पत्तिका अपहरण कर लिया और जो जनसाधारणका था उसे पूँजीपतियोंके हाथमें सौंप दिया उसी तरह समाजवादी प्रथा जनसाधारणकी स्वतन्त्रताका अपहरण कर उसे राष्ट्रके हाथमें सौंप देता है। अधिकारका केन्द्रीकरण सम्पत्तिके केन्द्रीकरणसे कम खतरनाक नहीं है। अधिकारका मद बहुत ज्यादा खतरनाक होता है और अधिकारमत्त व्यक्ति अपने विरोधियोंके प्रति उसका प्रयोग बड़ी निर्दयतासे करता है। अधिकारी वर्गके साथ जिन लोगोंका मत नहीं मिलता उनके पीछे खुफिया और गुप्तचर

लगे रहते हैं, उनका जीवन संकटापन्न हो जाता है, अपने

विचारोंके प्रचारकी उन्हें स्वतन्त्रा नहीं रहती, और अन्तमें हत्या, फाँसी, कारावास या निर्वासनद्वारा वे रास्तेसे दूर कर दिये जाते हैं। यदि कोई व्यक्ति अपनी आजादी कायम रखना चाहता है और अधिकारीवर्गकी आलोचना करना चाहता है तो उसे सबसे पहले अपने सङ्गठनको—जिसके द्वारा उसके कार्यका संचालन होता है—छोटा-से-छोटा रखना होगा और दूसरे उसे अपने पैरोंपर खड़ा होनेकी शक्ति प्राप्त करनी होगी। लेकिन समाजवादी प्रथामें बड़े पैमानेपर उत्पादन होनेसे समूचे राष्ट्रका ही एक सङ्गठन होता है और राष्ट्रके सारे अधिकार उसे प्राप्त होते हैं। इसका फल यह होता है कि व्यक्तिकी आर्थिक स्वतन्त्रताका अपहरण हो जाता है क्योंकि वह उस बड़ी जमातका अङ्ग हो जाता है जो कारखानों या खेतोंमें बड़े पैमाने-पर उत्पादन करनेमें संलग्न हैं। इसलिए इतने बड़े संगठनका वह किसी भी तरह मुकाबला नहीं कर सकता। इसका एक कारण यह भी है कि इतने बड़े संगठनमें काम करनेका फल यह होता है कि उसमें क्षमता और आत्मनिर्भरता नहीं रह जाती। इसलिए या तो उसे दब जाना पड़ता है या वह मटियामेट कर दिया जाता है। अगर संस्थाका उद्देश्य व्यक्तिको इस तरह शून्य बना देना नहीं है तो इसका एकमात्र उपाय उत्पादनको विकेन्द्रीकरण कर उसे व्यक्तियोंके हाथमें छोड़ देना चाहिये ताकि वे अपनी शक्ति और योग्यताके अनुसार उत्पादन करें। यही एक रास्ता है जिससे समाजवादियोंके आदर्शकी पूर्ति हो सकती है अर्थात् अधिकाधिक व्यक्तियोंको अधिकाधिक स्वतन्त्रता प्राप्त हो सकती है।

केन्द्रीकरणमें जो दोष है उसे दूर करनेके लिए समाजवादी शासनमें व्यक्तियोंको अधिकार देनेकी व्यवस्था करते हैं। कहा जाता है कि भिन्न-भिन्न कार्यालयोंके लिए इस व्यवस्थाके अनुसार मजदूर अपने प्रतिनिधि अपने साथियोंमेंसे चुनेंगे और यह प्रतिनिधि यदि उनकी इच्छाके अनुसार काम नहीं करेंगे तो उन्हें हक होगा कि वे उसे वापस बुला लें और उसके स्थानपर दूसरा प्रतिनिधि चुनकर भेजें। ऐसे प्रतिनिधिका प्रबन्ध-विभागमें प्रभाव-पूर्ण हाथ रहेगा। इस बातको स्वीकार करना होगा कि सङ्गठित समाजमें इस तरहका नियन्त्रण अधिक-से-अधिक है जो किसी नागरिकको प्राप्त हो सकता है। समाजवादमें यह अधिकार नागरिकोंको अधिक-से-अधिक देनेका यत्न किया जायगा। लेकिन हम ऊपर लिख आये हैं कि इस तरहके संयुक्त विचारों और निर्णयोंमें वैयक्तिक विचारोंका पूरा प्रतिनिधित्व नहीं होता। कार्य-सञ्चालन-सम्बन्धी समस्याओंमें अधिकांश लोग रुचि नहीं रखते और यह उचित भी है। साधारणतः प्रबन्ध और कार्य-सञ्चालन प्रत्येकके हाथकी वस्तु नहीं होनी चाहिए। प्रबन्ध, कार्य-सञ्चालन या शासनका काम जहाँ सुचारु रूपसे नहीं चलता रहता वहींके प्रत्येक नागरिक राजनीतिमें दखल देने लगते हैं, लेकिन वहाँ भी उनकी नकेल उन कतिपय व्यक्तियोंके हाथमें रहती है जो उनका उपयोग कर अपने लिए अधिकार चाहते हैं। इसलिए संयुक्त परामर्श आदि द्वारा चुने हुए व्यक्तियोंके शासन या कार्य संचालनकी बुराईको दूर करनेका प्रयत्न भले ही किया जाय, लेकिन इससे कोई लाभ नहीं हो सकता; क्योंकि विचार तथा परामर्शमें अधिकांश

लोग ऐसे ही रहते हैं जिन्हें किसी तरहकी ऐसी योग्यता नहीं होती कि वे बड़ी-बड़ी संस्थाओंका कार्य-संचालन कर सकें। इसलिए उन्हें हर कामको उन्हींके ऊपर छोड़ देना पड़ेगा जिन्हें उन्होंने अधिकारपदपर रखा है। ऐसी हालतमें इस बातकी बहुत अधिक सम्भावना है कि राष्ट्र व्यक्ति-विशेषका सहायक न होकर उसके लिए भय-स्वरूप हो जायगा; क्योंकि जो लोग अधिकार-सम्पन्न व्यक्तियोंके विरोधका साहस करेंगे उन्हें वह पीस डालनेका यत्न करेगा। लोक-तन्त्रका बाहरी आवरण जालिम-को वह कवच प्रदान कर देगा जिसकी आड़में वह अपना निरङ्कुश शासन चलाता रहेगा। पूँजीवादी देशोंमें लोकतन्त्रके नामपर जो कुछ हो रहा है उसका खोखलापन दिखलानेके लिए समाज-वादी सदा सन्नद्ध और प्रस्तुत रहता है, लेकिन यह बात उसके ध्यानमें नहीं आती कि जब स्वयं वह उसी तरहकी शासन-प्रणालीसे कार्य-संचालन करेगा तो वही बुराइयाँ उसके शासनमें भी आ सकती हैं। चाहे पूँजीवादी व्यवस्था हो या समाजवादी, जो व्यक्ति अधिकारके लिए व्यग्र रहता है, वह सार्वजनिक संगठनका दुरुपयोग अपने लाभके लिए कर सकता है। ऐसी हालतमें वह बात कहाँ रह जाती है कि समाजके कार्य-संचालनमें प्रत्येक व्यक्तिका हाथ रहता है या रहेगा, जिसपर समाजवादी बहुत जोर देते हैं।

यह भी कहा जाता है कि समाजवादी प्रथामें व्यक्ति अपनी स्वतन्त्र सत्ता खो नहीं देता, बल्कि वैयक्तिक सत्ताको तिलाञ्जलि देकर यदि वह अपनी स्वतन्त्रता खोते दिखायी भी देता है तो वास्तवमें वह एक इकाई खोकर सौगुना बल प्राप्त

करता है। उदाहरणके लिए यदि कोई व्यक्ति एकाएकी दुश्मनका मुकाबला करने चले तो वह परास्त हो सकता है, लेकिन यदि वह अपने साथ अन्य अनेक व्यक्तियोंको ले लेता है तो वह सफल हो सकता है। यदि वह अपनी वैयक्तिक सत्ता खो भी देता है तो प्रकारान्तरसे उसे उससे कहीं ज्यादा स्वत्व प्राप्त हो जाता है। लेकिन वास्तविकता तो इससे कोसों दूर है। ऊपर जो उदाहरण दिया गया है उसमें कोई बल नहीं है। वह बहुत ही लचर है ; क्योंकि इस तरहकी संयुक्त क्रियामें— जहाँ लोग आपसमें मिलजुलकर काम करते हैं, यह मान लिया जाता है कि उस गरोह या दलके प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्र हैं। केवल कार्य-विशेषके लिए उन्होंने अपना दल कायम कर लिया है या एक हो गये हैं। लेकिन जिस एक समाजकी बात समाजवाद कहता है उसे सहयोग नहीं कह सकते। दोनोंमें उत्तर-दक्षिणका अन्तर है। उस समाजमें वैयक्तिक सत्ताका सर्वथा लोप हो जाता है ; लेकिन सहयोगमें वह सत्ता स्वतन्त्र रूपसे वर्तमान रहती है और प्रत्येक व्यक्तिके लिए इस बातकी आजादी रहती है कि चाहे वह शामिल हो या न हो। सहयोग ऐसे ही व्यक्तियोंमें सम्भव है जो स्वतन्त्र हैं और जमात या दलसे अलग रहकर भी वे अपना काम हर तरह चला सकते हैं; लेकिन समाजीकरण वह संगठन है जिसमें व्यक्ति अपनी सारी सत्ता खो देता है और वह इस प्रकार मातहत या दूसरोंपर निर्भर हो जाता है कि जमातसे अलग होकर वह कुछ कर ही नहीं सकता। सहयोग ऐसे दो व्यक्तियोंका मिलन है जिनके सम्पूर्ण अवयव अपना पूरा काम करते हैं और दोनों एक दूसरेके

कामको समुन्नत बनानेके लिए मिल जाते हैं और समाजीकरण दो ऐसे व्यक्तियोंका मिलन है जो अपङ्ग हैं, जैसे एक अन्धा तो दूसरा लँगड़ा। यदि इन दोनोंको एक स्थानसे दूसरे स्थानपर जाना है तो ये अलग-अलग नहीं पहुँच सकते, एक दूसरेकी सहायतासे ही निर्दिष्ट स्थानतक पहुँच सकते हैं। इसलिए इनकी निजी कोई सत्ता नहीं है।

यदि हमलोग वैयक्तिक स्वतन्त्रताको पवित्र धरोहर मानते हैं और उसे इसी तरह कायम रहने देना चाहते हैं तो उसके लिए सबसे उपयुक्त तरीका यही होगा कि उत्पादनका विकेन्द्रीकरण कर दिया जाय और जहाँतक सम्भव हो, प्रत्येक व्यक्तिको अपने पैरोंपर खड़ा होनेका अवसर दिया जाय। लोकतन्त्र अथवा प्रजासत्तात्मक शासनकी पहली कसौटी यही है कि आर्थिक व्यवस्था सुसम्पन्न हो। इस तरहकी केन्द्रित आर्थिक व्यवस्था, जिसमें अधिकार जनताके हाथमें न रहकर केन्द्रमें व्यवस्थित हो, सच्चे लोकतन्त्रके उपयुक्त नहीं है। केन्द्रित आर्थिक व्यवस्थाकी बुराईको दूर करनेके लिए लोकतन्त्रके बाहरी आवरणसे उसे ढँक देनेसे काम नहीं चलेगा। सच्चा गणतन्त्र शासन तभी सम्भव हो सकता है जब आर्थिक व्यवस्था ऐसी हो कि प्रत्येक व्यक्ति यथासम्भव अपने उद्योगका मालिक हो ; जबतक आर्थिक व्यवस्था ऐसी नहीं होती कि प्रत्येक व्यक्तिको अपना मालिक बननेकी सम्भावना हो, तबतक स्वायत्त शासन खोखला रहेगा। यदि अपने निजी दैनिक कामके लिए व्यक्तिको स्वतन्त्रता और आजादी नहीं मिल सकती तो व्यापक रूपसे राष्ट्रीय स्वतन्त्रताकी चर्चा उसके लिए कोई महत्त्व

नहीं रखती। वह तो ऐसा आलोक होगा जो उसकी पहुँचके बाहर होगा।

समाजवाद जिन बड़ी-बड़ी देनोंकी चर्चा करता है उसका किसी भी व्यक्तिके लिए तबतक क्या उपयोग हो सकता है जब-तक उसे वे प्राथमिक आवश्यक वस्तुएँ प्राप्त नहीं हो सकतीं जो उसके विकासके लिए नितान्त आवश्यक हैं और जिनपर उसका सारा भविष्य निर्भर करता है। मनुष्यके विकासके सबसे बड़े साधन स्वतन्त्र सत्ताको कायम रखनेके लिए यदि जीवनके थोड़े ही साधन उपलब्ध हो सकें तो भी मनुष्य उससे सन्तोष कर सकता है। यदि आत्मविकास और बहुतायतके बीच चुनाव करनेकी स्वतन्त्रता हो तो मनुष्य निश्चय ही उस मार्गको पसन्द करेगा जिसके द्वारा उसका आत्मविकास सम्भव हो। इससे विपरीत दशामें हम स्वतन्त्र मानव तो नहीं ही पैदा कर सकते, स्वस्थ और सँवारा हुआ गुलाम भले ही तैयार कर लें। मेरा खयाल है कि कोई भी समाजवादी इस अवस्थाको पसन्द नहीं करेगा यदि उसका वास्तविक ध्येय पददलितों और मजूरोंको वर्तमान निरीह अवस्थासे उठाकर उन्हें स्वतन्त्रता प्रदानकर पूर्ण मानव बनाना है। आत्माकी स्वतन्त्रता ही सच्ची सम्पत्ति है और प्रत्येक मनुष्यको उसीकी प्राप्तिके लिए यत्न करना चाहिए, चाहे इस उद्योगमें सांसारिक वस्तुओंकी प्राप्ति कम ही हो सके। धन अथवा अगणित वस्तुओंका मालिक बननेकी अपेक्षा प्रत्येक मनुष्य आत्मिक स्वतन्त्रता तथा अपने अधिकारोंका पूरा प्रयोग अधिक पसन्द करता है।

समाजवादियोंका भी यही अन्तिम ध्येय है; क्योंकि वे

मनुष्यके सुखके साधनोंकी उन्नति करना चाहते हैं। उसके मार्गमें केवलमात्र बाधा बड़े पैमानेपर उत्पादन है जिसे उसने पूँजीपतियोंसे प्राप्त किया है। बड़े पैमानेपर उत्पादनमें केन्द्रीकरण अनिवार्य है और केन्द्रीकरणमें वैयक्तिक स्वतन्त्रताका सर्वथा लोप हो जाता है। यदि वैयक्तिक स्वतन्त्रताको कायम रखना है तो केन्द्रीकरणका अन्त कर उसके स्थानपर विकेन्द्रीकरणको कायम करना होगा और प्रत्येक व्यक्तिको अपने निजी साधनोंपर निर्भर रहने देना होगा ताकि अपनी व्यवस्था आप करके उसे ऊपर उठने और विकसित होनेका अवसर मिले। यदि एकाकी नहीं तो दूसरोंके सहयोगसे उसे वैसा करनेका अवसर प्राप्त हो। इस अवस्थामें वह अपना विकास ही नहीं कर सकेगा बल्कि वह देखेगा कि दूसरेके कल्याणमें उसका भी कल्याण निहित है। ग्रामोद्योग इसीके लिए प्रयत्नशील है।

———

अध्याय ४

ग्रामोद्योग

१—प्रवेश : मानव कल्याण ही आदर्श

(क) भौतिक सम्पत्ति बनाम सुख

यहाँतक तो हम दिखला आये हैं कि जनसाधारणको न तो पूँजीवादसे और न समाजवादसे ही वास्तविक सुखका साधन प्राप्त हो सकता है। दोनोंकी प्रणालीमें सबसे बड़ा दोष यही है कि दोनों भौतिक साधनोंकी बहुलताके लिए व्यग्र हैं—पूँजीवादी अपने लिए और समाजवादी जनसाधारणके लिए। इसके लिए दोनों ही उत्पादनके केन्द्रीकरणपर जोर देते हैं और उसी मार्गका अवलम्बन करते हैं। ऊपर हम दिखला आये हैं कि इसमें दोनों-को कैसी सफलता मिलती है। इतना तो स्पष्ट है कि दोनों एक साथ नहीं चल सकते। एक साथ ही ईश्वर और शैतान दोनोंकी पूजा सम्भव नहीं है। यदि इस कथनमें लेशमात्र भी सचाई है और यदि समाजवादी वास्तवमें जनसाधारणका सच्चा कल्याण चाहते हैं तो उन्हें उसीके लिए प्रयास करना चाहिए, न कि विलासिताकी अनेक तरहकी सामग्री जुटानेके लिए। सामाजिक आर्थिक व्यवस्थाका वही आधार भी होना चाहिए। हम लोगों-का ध्येय होना चाहिये। आत्म-विकास और इस आत्म-विकासके लिए हमें भौतिक साधनोंके पीछे पागल होकर नहीं

दौड़ना होगा। यदि हम भौतिक साधनोंके पीछे पागल होकर दौड़ते रहेंगे तो हमें आत्मविकासका अवसर नहीं मिल सकता, उसे हमें सर्वदाके लिए त्याग देना पड़ेगा, जैसा कि समाजवादी करते दिखायी देते हैं।

यह बात इतनी महत्वपूर्ण है, लेकिन इसपर इतना कम ध्यान दिया जाता है कि इसपर और अधिक प्रकाश डालना आवश्यक है—खासकर जब हमलोग इसे उस नयी आर्थिक व्यवस्थाका आधार मानते हैं जिसे इस पुस्तकमें ग्रामोद्योगका नाम दिया गया है। किसी भी आर्थिक व्यवस्थाका उद्देश्य अधिक-से-अधिक भौतिक सम्पत्ति उत्पन्न करना होता है। पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्थामें इसकी कसौटी सस्तापन है। पूँजीवादी जितनी सस्ती चीजें पैदा कर सकेगा, उतना ही उन्नत और सन्तोषजनक वह अपनी आर्थिक व्यवस्थाको मानेगा उसे इस बातकी चिन्ता या परवा नहीं रहती कि उसकी व्यवस्थासे मनुष्यके विकासमें सहायता पहुँचती है या बाधा। वह तो सिर्फ यही चाहता है कि उत्पादन अधिक-से-अधिक हो ताकि वह अपने प्रतिद्वन्द्वीके मुकाबले सस्ती चीजें बेच सके। सस्तेपनको पूर्णताकी कसौटी माननेके हमलोग इस कदर आदी हो गये हैं कि हमलोग इसके औचित्य तथा अनौचित्यपर ध्यानतक नहीं देते।

तब क्या सस्ती और अधिक चीजें मिल जानेसे ही मनुष्यको सन्तोष हो जाता है ? क्या सन्तोषकी कसौटी भौतिक साधनोंकी बहुलता ही है ? क्या लोग चोरी या हत्या करके धनी होना पसन्द करेंगे ? एक हत्यारा किसी बालकका अपहरण करता

है। उसे उठाकर जङ्गलमें ले जाता है। वहाँ उसकी हत्या कर डालता है और उसका आभूषण उतारकर बेचनेके लिए ले जाता है। उससे वह आभूषण खरीदनेकी लालसा किसे होगी ? क्या वह सम्पत्ति नहीं है ? लेकिन उसे प्राप्त करनेका तरीका जघन्य है। यहाँ सदाचार रास्ता रोककर खड़ा हो जाता है और लाभके लोभको आगे बढ़ने नहीं देता। यह मालूम हो जानेपर कि किसी निरीह बालककी हत्या करके ये आभूषण चुराये गये हैं, उन्हें खरीदनेके लिए कोई तैयार नहीं होगा, चाहे कितने ही सस्ते दरपर वे क्यों न बेचे जायँ।

अथवा जब हमलोग कपड़ा ही खरीदने लगते हैं तो क्या भावना काम करती है ? एक कपड़ा सादा और मोटा है उसका मूल्य ६ आने गज है, दूसरा महीन और चमकदार है, उसका मूल्य १२ आने गज है। क्या हमलोग हमेशा सस्ता कपड़ा ही खरीदते हैं ? क्या कभी-कभी अन्य आवश्यकताओंको दबाकर हमलोग महँगा कपड़ा नहीं खरीदते ? क्यों ? इसका कारण यह है कि सदा सस्तापन ही हमारे दृष्टि-पथपर नहीं रहता ! हमलोग सौन्दर्य और साथ ही साथ अपने पड़ोसीका आदर भी चाहते हैं।

अथवा किसी वैज्ञानिक, दार्शनिक या सन्तका जीवन ले लीजिये। सत्यकी खोजमें वह इतना तल्लीन रहता है कि सुख और आरामको तिलाञ्जलि देकर वह रातदिन परिश्रममें डूबा रहता है। कितना बड़ा भी आर्थिक प्रलोभन क्यों न हो, वह उन्हें अपने पथसे विचलित नहीं कर सकता। इतना ही नहीं,

राजदण्ड और कहीं-कहीं मृत्युका सामना करके भी वे अपने सिद्धान्तपर अटल रहते हैं, उससे विचलित नहीं होते।

अथवा मजूरीको ही ले लीजिये। क्या ज्यादा-से-ज्यादा मजूरीके लोभमें आदमी कोई भी काम करनेके लिए राजी हो जायगा? चाहे वह काम चोरी या हत्या ही क्यों न हो? क्या स्वामिभक्त नौकर केवल इसलिए अपने मालिकको छोड़ देगा कि दुरवस्थाके कारण वह मालिक उस समय उसे उतना वेतन देनेमें असमर्थ है जितना दूसरा कोई उसे दे सकता है? क्या हमलोगोंके देशमें इस तरहके उदाहरण मौजूद नहीं हैं कि लोगोंने विदेशी सरकारकी सेवा कर मोटी तनखाह पानेकी अपेक्षा दरिद्र रहना और कठोर यातना सहना ही पसन्द किया है?

और भी, क्या कोई भी माता-पिता अपनी सन्तानको मृत्युके पञ्जेसे छुड़ानेके लिए अपना सब कुछ निछावर कर देनेके लिए तैयार नहीं रहते? क्या माता-पिता अपनी सन्तति-की शिक्षापर अपना सब कुछ होम नहीं कर देते? क्या कोई भी व्यक्ति आर्थिक लाभके लिए अपने मित्रके साथ विश्वासघात करेगा या धनके लिए अपनी बहिन और बेटीकी इज्जत बेच देना पसन्द करेगा?

कभी नहीं। इस समस्यापर जितना ही गम्भीर विचार किया जाय उतना ही यह स्पष्ट हो जाता है कि मनुष्यके लिए भौतिक सुख ही सब कुछ नहीं है। यदि किसीसे यह कह दिया जाय कि वह दिनरात रुपयेके पीछे ही पागल रहता है तो इसे वह अपना अपमान समझेगा। तो भी अर्थशास्त्रियोंने मनुष्यका

चित्रण इस तरह किया है मानो वह निर्जीव मशीन है और आमद तथा माँगके कड़े विधानका प्रयोग कर उसके जीवनका मापदण्ड आर्थिक आधार ही बताया है। अर्थशास्त्रियोंने जहाँ एक बार इस विधानको तैयार किया, बस वे स्थिर, अटल और सर्वव्यापी मान लिये जाते हैं। सबसे दयनीय बात तो यह है कि व्यक्ति भी उनमें अटल विश्वास कर लेता है और उन्हें अपनी आर्थिक नीतिका आधार मानने लगता है। यदि मानव प्रकृतिका यह चित्रण पुस्तकोंतक ही सीमित रहता तो विकृत होनेपर भी उससे किसी तरहकी क्षति नहीं हो सकती थी ; लेकिन दुर्भाग्यकी बात तो यह है कि मनुष्य इन्हें सच मानकर इनपर अमल करने लगता है और अर्थशास्त्रियोंकी कल्पनाके अनुसार मनुष्य भी शैतानका रूप धारण कर लेता है मानो मनुष्य धन कमानेका यन्त्र है और इसके सिवा दुनियामें उसे दूसरा कोई काम नहीं है अर्थात् वह उस पशुके समान है जिसे अपना पेट भरनेके सिवा और किसी बातकी चिन्ता नहीं है।

यह भूल केवल अर्थशास्त्रियोंने ही नहीं की है। प्रत्येक विशिष्ट विज्ञानने इस तरहकी भूलें की हैं। इस तरहके प्रत्येक विज्ञानने वास्तविकताके एक अंशको ले लिया है और अपना सारा अन्वेषण और विकास उसीपर स्थिर रखा है और अन्य बातोंका विचार छोड़ दिया है। इससे उपकार तो अवश्य हुआ है, क्योंकि उतने अंशमें उसने पूर्ण तथ्यको खोज निकाला है ; लेकिन उसकी सबसे बड़ी भूल यही है कि वह अपने प्रयोग और अनुसन्धानके लिए लेता है केवल अंशको, लेकिन खोजसे वह जो सिद्धान्त निकालता है उसका प्रयोग वह करता है पूर्णपर

और वह यह भूल जाता है कि उससे परे भी कोई चीज है। इस तरह अर्थशास्त्री उन नियमोंका अध्ययन करता है जिनका सम्बन्ध व्यवसायके सञ्चालन और नियन्त्रणसे हैं। वह उसे इतना स्थूल मान लेता है कि अन्य विचार जिनका संसर्ग प्रबन्धसे हो और जिनका असर प्रबन्धपर पड़ना चाहिए, उन्हें वह अपनी समीक्षामें स्थानतक नहीं देता और उसी आधारपर वह यह विधान तैयार करता है जिनसे यह तात्पर्य निकलता है कि रुपया कमानेके अतिरिक्त मनुष्यको और कुछ नहीं करना है। हम ऊपर दिखला आये हैं कि मानव जीवनका एकमात्र उद्देश्य धन-संग्रह ही नहीं है। इसके अलावा बौद्धिक, सदाचारिक, सामाजिक, धार्मिक तथा सौन्दर्य जनित आदि अन्य बातोंसे भी उसे प्रयोजन है—और जब इनका प्रभाव मानव जीवनपर पड़ता है तो ये आर्थिक दृष्टिकोणको एकदम उलट देती हैं। यह ऐसी वास्तविकता है कि इसे देखते हुए इनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती क्योंकि जबतक मनुष्यमें मनुष्यता कायम रहेगी तबतक आर्थिक प्रश्नोंके साथ-ही-साथ इनका प्रभाव भी उसके जीवनपर पड़ता रहेगा।

वर्तमान आर्थिक विचारधारामें यह जो मौलिक दोष है उसका परिहार करते हुए ग्रामोद्योग अपना काम आरम्भ करता है। वह मनुष्यको उसके असली रूपमें देखता है—एक जटिल व्यक्ति, आशाओं, आदर्शों, तथा आकांक्षाओंसे सञ्चालित, केवल आर्थिक लाभका शिकार नहीं। ग्रामोद्योग ऐसी आर्थिक व्यवस्थाकी योजना सामने रखता है जो मनुष्यकी सभी आकांक्षाओंको तृप्त कर सके। मनुष्य केवल धनसे ही सन्तुष्ट नहीं

रह सकता। जिन वस्तुओंको वह अपने जीवनमें अधिक मूल्यवान समझता है, उन्हें त्यागकर वह सस्तेपनकी ओर दौड़नेके लिए जानबूझकर तैयार नहीं है। वह केवल भौतिक सम्पत्ति अथवा वस्तुओंका बाहुल्य ही नहीं चाहता, बल्कि वह उस तरहकी सम्पत्ति चाहता है जो मनुष्यके अनुकूल हो। दूसरे शब्दोंमें यह कह सकते हैं कि वह मानव जगत्का कल्याण चाहता है। कोई भी आर्थिक व्यवस्था जो पूर्ण, स्थायी और आधारस्तम्भ बनकर रहना चाहती है, उसे इसकी उपलब्धिके लिए प्रयत्नशील होना पड़ेगा। जो आर्थिक व्यवस्था इन साधनों-को सम्पन्न करनेमें सफल नहीं हो सकती वह टिकाऊ नहीं हो सकती—चाहे उससे भौतिक लाभ कितना ही ज्यादा क्यों न होता हो। इसके प्रतिकूल जो आर्थिक व्यवस्था पूर्ण मानव बनानेका यत्न करेगी वह स्थायी और टिकाऊ होगी – चाहे उसे जीवनकी केवलमात्र आवश्यकता ही क्यों न सम्पन्न होती हो।

इस दृष्टिकोणसे विचार करनेपर यह भी कहा जा सकता है कि जो आर्थिक व्यवस्था प्रत्येक व्यक्तिके कल्याणकी कामना करती है वह व्यवस्था समाजके लिए अन्ततोगत्वा सबसे कम खर्चीली भी होगी क्योंकि उसके स्वार्थके विरुद्ध काम करनेवालों-के अभावमें उन्हें दबानेके लिए जो विशाल सैनिक संगठनकी आवश्यकता होती, उसकी जरूरत नहीं पड़ेगी। हम देख आये हैं कि पूँजीवादी प्रथामें सङ्घर्ष, द्वन्द्व और गृह-कलह अनिवार्य है। समाजवादी प्रथामें भी उसकी सम्भावना बनी रहती है। जबतक यह भय कायम रहेगा तबतक राष्ट्रको बहुतसा धन

पुलिसपर व्यय होता रहेगा, सेना रखने तथा हथियार खरीदने या तैयार करानेमें व्यय होता रहेगा। धन-क्षयके साथ-साथ अगणित जनकी भी हानि होती रहती है। इसलिए अर्थशास्त्र-की दृष्टिसे भी उस आर्थिक व्यवस्थाको अधिक समीचीन और अनुकूल मानना चाहिए जिसमें दंगा-फसाद और सङ्घर्षकी आशङ्का कम हो। वह आर्थिक व्यवस्था कभी भी समीचीन नहीं मानी जा सकती जो शान्तिकालमें अत्यधिक उत्पादन करके भी आन्तरिक युद्ध अथवा गृहकलहके समय राष्ट्रका बहुतसा धन व्यय करती है। इसलिए जो व्यवस्था मानव-जातिके कल्याणपर अधिक ध्यान देती है वह अन्ततोगत्वा समाजके भौतिक साधनको भी अधिक सम्पन्न कर सकेगी। राष्ट्र या समाजके जो दो उद्देश्य पूँजीवादी तथा समाजवादी प्रथामें एक नहीं हो सकते थे और एक दूसरेसे अलग रह जाते थे, वे दोनों इस प्रथामें एकाकार होकर पूर्ण हो जाते हैं।

ग्रामोद्योगका यही आधार है। उसका उद्देश्य मानव-जाति-का कल्याण है। उसे इस बातका विश्वास है कि केवल भौतिक साधनोंके बाहुल्यसे ही स्थायी आर्थिक व्यवस्था कायम नहीं हो सकती। गान्धीजीके शब्दोंमें, सच्ची और पूर्ण आर्थिक व्यवस्था-की सच्ची कसौटी अहिंसा है। यदि किसी व्यवस्थामें मनुष्यको दबाया जाता है, उसे लूटा जाता है, अथवा उसे पूर्ण विकासका अवसर नहीं मिलता है तो गान्धीजीकी भाषामें यह हिंसा है क्योंकि इससे व्यक्तिको चोट पहुँचायी जाती है, इसलिए वह व्यवस्था निन्दनीय है चाहे उससे कितना भी ज्यादा आर्थिक लाभ होता हो। आर्थिक व्यवस्थाका अन्तिम लक्ष्य आध्यात्मिक

होना चाहिए। उसकी सच्ची कसौटी यह नहीं है कि उससे भौतिक साधनोंमें कितनी वृद्धि होती है वल्कि व्यक्तिका विकास कितना होता है, सहयोग, आत्मत्याग तथा भ्रातृभावकी वृद्धि उसमें कितनी होती है।

(ख) भारतकी प्राचीन आर्थिक प्रणाली—

ऊपर जो बातें कही गयी हैं उनका समर्थन भारतकी प्राचीन आर्थिक तथा सामाजिकप्रणालीसे भी होता है जिसका आंशिक रूप आज भी हमारे देशमें जहाँ-तहाँ देखनेमें आता है, यद्यपि पश्चिमी सभ्यताके विकट प्रभाव और भीषण प्रहारके फलस्वरूप उनका बहुत-कुछ ह्रास हो गया है तो भी उसका समूल नाश नहीं होने पाया है। उसके अध्ययन और मननसे स्पष्ट प्रकट होता है कि भारतका प्राचीन आर्थिक तथा सामाजिक संगठनका आधार और ध्येय केवलमात्र भौतिक या आर्थिक नहीं था ; वल्कि सत्य तथा अहिंसाके आधारपर जनताका अधिकाधिक कल्याण था। प्रत्येक व्यक्तिको अपनी इच्छाके अनुसार काम करनेकी पूरी स्वतन्त्रता थी और अपने स्वतन्त्र व्यवसायद्वारा वह अपनी हर तरहकी आवश्यकताकी पूर्ति करता था। इस अर्थमें भारतकी प्राचीन आर्थिक प्रणालीको हम वैयक्तिक कह सकते हैं। स्वभावतः इस तरहकी आर्थिक प्रणालीमें व्यक्तिगत स्वार्थको लोककल्याण या अहिंसाकी भावना दबा देती थी और गरोहके सुख साधनकी ओर प्रवृत्त करती थी। इस उद्देश्यकी सिद्धि अनेक उपायोंसे की गयी थी—जैसे, सम्मिलित परिवार, वर्ण-व्यवस्था, गाँवोंकी आत्मनिर्भरता तथा बदलैनका तरीका। यह बात अस्वीकार नहीं की जा सकती कि जमानेकी गतिके साथ इनमें अनेक ऐसे

रिवाज या चलन घुस गये जो बुराइयोंसे भरे थे। लेकिन यहाँ हमारा उद्देश्य उन बुराइयोंको दिखलाना नहीं है। हम तो उनके उन गुणोंका ही उल्लेख करना चाहते हैं जो बीजरूपसे उनमें वर्तमान थीं और उन गुणोंमें हमें उन मूल सिद्धान्तोंके दर्शन होते हैं जिनके आधारपर हम अपने राष्ट्रीय जीवनका पुनः निर्माण कर सकते हैं।

संयुक्त परिवार—सबसे पहले संयुक्त परिवारको ही ले लीजिये। अपने सीमित दायरेमें यह एक प्रकारका लोकतन्त्र ही था। घरका सबसे बड़ा प्राणी मालिक होता था और प्रत्येक व्यक्तिकी कमाईका उपभोग घरके सभी प्राणी समान रूपसे करते थे। व्यक्तिगत स्वार्थको तिलाञ्जलि देकर प्रत्येक व्यक्तिको परिवारके सुख-साधनको ही अपने दृष्टिपथपर रखना पड़ता था। इससे गरोह-जीवनकी शिक्षा मिलती थी। परिवारके प्रत्येक प्राणीकी कमाई परिवारभरकी समझी जाती थी, कमानेवालेका उसपर किसी तरहका वैयक्तिक दावा नहीं रहता था। समस्त परिवारके कल्याण और सुख-साधनके लिए उसका प्रयोग होता था। इससे यह प्रकट होता था कि पारिवारिक जीवनका उद्देश्य गरोहको अधिकाधिक सुखी बनाना है, अर्थोपार्जन तो जरिया मात्र है। इसके विपरीत आजकल क्या हालत है। संयुक्त परिवारके कायम न रहनेके कारण प्रत्येक व्यक्ति अपने ही स्वार्थमें व्यस्त रहता है। उसे इस बातकी जरा भी चिन्ता नहीं रहती कि उसके बन्धुबान्धवों तथा दायादोंकी क्या हालत है। कहनेका मतलब यह कि प्राचीन सभ्यतामें आध्यात्मिकता बीज रूपसे वर्तमान थी। अर्थलोलुपता ही उसका मुख्य उद्देश्य नहीं

था। प्रत्येक व्यक्तिका अधिकाधिक ध्यान अपने दायादों तथा कुटिम्बियोंके प्रति अपने कर्तव्यका पालन रहता था। उस व्यवस्थामें प्रत्येक व्यक्तिकी पूर्तिका साधन था। परिवारका बूढ़ा, अपाहिज, विधवा, अनाथ, लँगड़ा-लूला सभी परिवारसे भरण-पोषण पाते थे और आजकी तरह उन्हें भीख, दान या सदाव्रतपर निर्भर नहीं रहना पड़ता था जहाँ प्रत्येक व्यक्ति इन जिम्मेदारियोंसे पूर्णतः बरी है और इसका आयोजन उदार दानी-समाज या राष्ट्रके द्वारा होता है। संयुक्त परिवारमें माताके दूधके साथ ही व्यक्तिको इस बातकी शिक्षा स्वयं मिल जाती थी कि उसे अपनी आकांक्षाओंकी आहुति देकर परिवारका हितसाधन करना होगा, लाचारों तथा निर्बलोंकी रक्षा करनी होगी। व्यक्तिका चरित्र-निर्माण अपने घरमें ही होता है इसलिए परिवारसे ऐसे व्यक्ति निकलते थे जिन्हें सत्य, अहिंसा तथा नम्रताकी शिक्षा पूर्णरूपसे प्राप्त रहती थी और दूसरोंका ख्याल करना उनका स्वभावसा हो जाता था। जहाँतक धन-उपार्जनका सम्बन्ध है, संयुक्त परिवारमें किसी एक व्यक्तिके पास अतुल धनराशि नहीं रह सकती थी, क्योंकि एक व्यक्ति चाहे कितना अधिक क्यों न कमाता हो, उसका उपभोग समान रूपसे परिवारके प्रत्येक व्यक्तिकी आवश्यकताकी पूर्तिमें लगाया जाता था। लेकिन संयुक्त परिवारके फलस्वरूप मनुष्यका विकास बहुत अधिक होता था और ऐसे सत्पुरुष पैदा होते थे जिनपर कोई भी समाज गर्व कर सकता था।

वर्ण-व्यवस्था—जातिका गरोह परिवारके गरोहसे कहीं

बड़ा होता है। वर्ण-व्यवस्थाके मध्यके इतिहासकी खोज की जाय तो पता चलेगा कि आर्थिक कारणोंसे ही इसका उदय हुआ। भगवद्गीतासे भी यही प्रकट होता है कि प्राचीन युगमें परिवारके प्रत्येक प्राणीको उसकी रुचिके अनुसार भिन्न-भिन्न कामोंमें नियुक्त किया गया। इस तरह एक ही पेशेमें लगे हुए लोगोंने अपना एक गरोह कायम कर लिया और उसे उन्होंने जातिकी संज्ञा दे दी। जातिका उद्देश्य समाजकी आवश्यकताकी पूर्ति करना था। आगे चलकर इनमें संकीर्णता और जड़ता आ गयी और पुश्तैनी पेशा-वाले बन गये। इस तरहकी संकीर्णताके फलस्वरूप वर्ण-व्यवस्थामें अनेक बुराइयाँ अवश्य घुस गयी हैं, लेकिन उसका भौतिक उद्देश्य वही था कि व्यक्तिको उसी काममें नियुक्त किया जाय जिस कामकी आवश्यकता समाजको प्रतीत हो। इससे सबसे बड़ा लाभ यह होता था कि उसे अपने परिवारसे उस कामकी आवश्यक शिक्षा मिल जाया करती थी और वह योग्य नागरिक बन जाता था। जन्मसे ही किसी निर्दिष्ट पेशेमें संलग्न होनेका फल यह होता था कि बचपनसे ही उस पेशेकी ओर उसकी प्रवृत्ति होती थी और उसे अपने परिवारवालोंसे शिक्षा मिलती थी जो स्वभावतः उसकी शिक्षामें सबसे अधिक ध्यान देते थे और साथ ही उसे बचपनमें ही अपने पेशेकी बारीकियोंका ज्ञान हो जाता था। वर्ण-व्यवस्थाका उद्देश्य वैयक्तिक सुख नहीं था, इसका एकमात्र उद्देश्य समाजको अधिकाधिक लाभ पहुँचाना और सुखी बनाना था। धनके लाभके कारण कोई भी व्यक्ति अपने उस पेशेसे अलग नहीं

हो सकता था जिसमें समाज उसे लगा देता था। समाजके लिए हर हालतमें उसे अपना काम पूरा करना पड़ता था। इसका फल यह होता था कि प्रत्येक जातिके लोग अपने-अपने काममें लगे रहते थे और अधिक नफावाले पेशेकी तरफ दौड़ नहीं पड़ते थे, जैसा कि आजकल पश्चिमी सभ्यताके प्रभावसे हो रहा है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सभी एक ही पेशेकी तरफ दौड़ रहे हैं और आपसमें होड़ ले रहे हैं। इसका परिणाम यह हो रहा है कि प्राणीवर्ण-व्यवस्थाका सर्वथा ह्रास होकर समाजमें विशृङ्खलता फैल रही है। प्राचीन युगमें समाजका प्रत्येक प्राणी अपनी आवश्यकताकी पूर्तिके लिए एक दूसरेपर निर्भर रहता था और इस तरह दूसरेकी आवश्यकताकी पूर्तिके लिए अपने हिस्सेका काम ईमानदारीके साथ पूरा करता था। वर्ण-व्यवस्थाका उद्देश्य समाजका कल्याण था, वैयक्तिक स्वार्थसाधन नहीं।

और भी, प्रत्येक जातिके भीतर सम्पत्तिका कोई मूल्य नहीं था। धनी और गरीब सभी बिरादरीके समान व्यक्ति माने जाते थे। वर्ण-व्यवस्थामें एकताकी भावना थी, सम्पत्ति या धन किसी तरहका भेदभाव उत्पन्न नहीं कर सकता था। वर्ण-व्यवस्था इस बातका द्योतक था कि प्रत्येक जातिके अन्दर कोई भी व्यक्ति केवल अपने लिए नहीं कायम रह सकता, बल्कि उसे अपने बन्धु-बान्धवोंका भी ध्यान रखना होगा। वर्त्तमान वैयक्तिक आर्थिक व्यवस्थके समान एक-दूसरेका गला काटनेवाली प्रति-स्पर्धा, लोभ, स्वार्थपरता उस युगमें नहीं थी और न धनके लिए कोई व्यक्ति अपने पड़ोसीके प्रति विद्रोह ही खड़ा कर सकता

था। बल्कि उस जमानेके आर्थिक सङ्गठनमें सहयोग, एकता, सहकारिता, परस्पर निर्भरता थी और एक दूसरेको सुखी बनानेके लिए आदान-प्रदानकी भावना वर्त्तमान थी। उस युगकी आर्थिक व्यवस्थाका उद्देश्य येनकेन प्रकारेण धन उपार्जन करना मात्र नहीं था, बल्कि अहिंसा तथा शान्तिके आधारपर गरोहके प्रत्येक व्यक्तिके लिए सुखका साधन सम्पन्न करना था और इसे पूरा करनेके लिए प्रत्येक व्यक्तिको निजी स्वार्थको दबाना पड़ता था।

यह सङ्गठन इतना महान् समझा जाता था कि भगवद्गीताके अनुसार अपने कर्त्तव्यका पालन ही प्रत्येक व्यक्तिका सबसे बड़ा धार्मिक तथा सदाचारिक कर्त्तव्य समझा जाता था। इस तरह कोई भी पेशा हीन नहीं माना जाता था। छोटे-से-छोटा पेशा भी कर्त्तव्य-पालनकी दृष्टिसे महान् समझा जाता था। कर्त्तव्य-पालनकी दृष्टिसे समाजके लिए जूता बनानेवाले मोची तथा देव-मन्दिरमें पूजा करनेवाले ब्राह्मणोंमें कोई अन्तर नहीं था क्योंकि दोनोंका उद्देश्य समाजका हित-साधन था। क्योंकि कैसा भी साधारण काम क्यों न हो, उसे अपने व्यक्तिगत लाभके लिए नहीं किया जाता था, बल्कि उसे पूरा और सम्पन्न करनेका उद्देश्य समाजका कल्याण था। इसलिए उसकी भी पूजाकी भाँति ही समाजमें प्रतिष्ठा थी। इसलिए आजकलकी भाँति 'व्यवसाय व्यवसाय ही है' के नामपर उस युगमें आर्थिक व्यवस्था धार्मिक कृत्यसे अलग नहीं मानी जाती थी। व्यवस्थाको शोषण और लूटका जरिया नहीं बनाया जाता था और धर्मको आडम्बर और अन्धविश्वासका आवरण नहीं

दिया जाता था। बल्कि धर्म और व्यवसाय एक ही आधारके दो अमोल स्वरूप थे क्योंकि दोनोंका अन्तिम ध्येय एक ही था अर्थात् समाजका कल्याण। इस तरह धनोपार्जन भी धार्मिक कामही माना जाता था क्योंकि उसका उद्देश्य समाजका कल्याण रहता था।

आत्म-निर्भर-ग्राम-इकाई :—वर्णव्यवस्थाके अनुसार कामका विभाजन कर देनेका सबसे बड़ा फल यह होता था कि प्रत्येक गाँव अपनी आवश्यकताकी पूर्ति आपसे आप कर लेता था; अपनी प्रारम्भिक आवश्यकताकी पूर्तिके लिए अपने आपपर निर्भर रहता था। आत्मनिर्भरताकी इस भावनासे सङ्गठन, मेलजोल, एकता आदिका उदय होता था और समूचा गाँव एक वृहत् परिवारकी भाँति प्रतीत होता था और प्रत्येक जातिके लोग एक दूसरेके सुख साधनके लिए तत्पर रहा करते थे। इस तरहकी आर्थिक व्यवस्थामें मनुष्यका परस्पर सम्बन्ध व्यक्तिगत होता था, न कि आजकलकी तरह व्यावसायिक अर्थात् स्वार्थमूलक, क्योंकि उत्पादनका उद्देश्य धन बटोरना नहीं रहता था बल्कि प्रत्येक व्यक्तिके कल्याण तथा आवश्यकताकी पूर्तिको ध्यानमें रखकर ही उत्पादन किया जाता था। इस व्यवस्थासे कोई भी व्यक्ति अतुल धनराशि पैदा करनेकी आशा भी नहीं रखता था; क्योंकि उसकी उत्पादित वस्तुका बाजार उसके गाँवतक ही सीमित था। लेकिन इससे प्रत्येक व्यक्तिको समान लाभ और समृद्धिका अवसर प्राप्त था; क्योंकि अपने हिस्सेका काम पूरा करके वह अपनी सारी आवश्यकताओंकी पूर्ति कर लेता था और आजकलकी भाँति

उसे दलालोंका शिकार बनकर लूटे खसोटे या ठगे जानेकी आशंका नहीं थी। इसलिए उस युगमें यदि बहुत बड़े सम्पत्ति-शाली देखनेमें नहीं आते थे तो दरिद्र भी दिखायी नहीं देते थे। इसके प्रतिकूल उस युगमें वर्तमान युगकी अपेक्षा स्थायित्व और निश्चिन्तता अधिक थी क्योंकि प्रत्येक व्यक्तिको आवश्यकताके साधन उपलब्ध थे; क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति गाँवके प्रत्येक प्राणीके कल्याणके लिए काम करता था।

लेनदेनका तरीका—इसके साथ ही लेनदेनका आधार द्रव्य न होकर वस्तु ही थी। प्रत्येक व्यक्तिको अन्नवस्त्र उसकी आव-श्यकताके अनुसार दिया जाता था, न कि उसके कामके अनुसार; क्योंकि उन प्राथमिक आवश्यकताओंकी पूर्ति कर्तव्य माना जाता था। इस तरह उसे सुखकी आवश्यकीय वस्तुएँ मिल जाया करती थीं। इस दृष्टिसे बड़े और छोटे, योग्य और अयोग्यमें एक प्रकारकी आर्थिक समानता थी। उदाहरणके लिए शिक्षक और वैद्यके पास कोई स्थूल सम्पत्ति नहीं थी, लेकिन उसकी हर तरहकी आवश्य-कताकी पूर्ति उनके शिष्य तथा रोगी कर दिया करते थे। इसलिए उन्हें अन्न और वस्त्र तथा अन्य आवश्यकताओंकी पूर्तिकी चिन्ता नहीं रहती थी। समाजमें उनका आदर धनके लिए नहीं होता था बल्कि अपनी सेवाओंके कारण वे आदरणीय थे। इस तरह धनका स्थान समाजमें गौण था।

इस तरह प्राचीन युगकी आर्थिक व्यवस्थाका विवेचन हम जहाँ कहीं करें—चाहे वह परिवार हो, वर्ण हो या गाँव हो—सभी जगह एक ही बात देखनेमें आती है। हम देखते हैं कि व्यक्तिके सामने परिवार, जाति या समाजका कल्याण प्रमुख है

और निजी स्वार्थ समझनेके लिए वहाँ कोई स्थान नहीं है अर्थात् हर जगह वास्तविक अहिंसाकी भावना प्रत्यक्ष दिखायी देती है।

(ग) भावी कार्यक्रम—

इससे हमारा यह मतलब नहीं है कि भावी कार्यक्रम तैयार करनेमें हम आँख मूँदकर अतीतका अनुकरण करें। यह सम्भव भी नहीं है। उस पुरानी प्रणालीको—जिसमें उस तरहका सङ्गठन पूर्ण सफलताके साथ कायम था और अपने उद्देश्यको पूरा कर सका—पुनः स्थापित करना सम्भ नहीं है। हमलोगोंको तो यह देखना है कि देशकी वर्तमान दशामें किस तरहका आर्थिक सङ्गठन हमारे लिए सबसे अधिक उपयुक्त होगा। इस उपक्रममें हमें अपनी प्राचीन धार्मिक प्रणालीपरभी ध्यान देना चाहिये और उन प्रतिपादी सिद्धान्तोंको भूल नहीं जाना चाहिए जिनके आधारपर हमारी प्राचीन आर्थिक पद्धत्ति कायम थी। हमलोगोंको यह स्मरण रखना होगा कि जीवनका उद्देश्य केवलमात्र भोग-विलास नहीं है, मानव-जातिका कल्याण वस्तुओंकी बहुलतासे कहीं ज्यादा महत्वपूर्ण है। इस उपायसे हम केवल अपनी सांस्कृतिक परम्पराकी मर्यादाकी ही रक्षा नहीं कर सकेंगे बल्कि मानव समाजके कल्याणमें हम अपना भी उपयुक्त हिस्सा ले सकेंगे।

हमारे लिए यह भी उपयुक्त नहीं होगा कि हम आँख मूँदकर उन राष्ट्रोंकी नकल करें जो वर्तमान भौतिकवादके चमक दमकसे भड़कीले दिखायी दे रहे हैं। हमें उनसे अनेक तरहकी सीख मिल सकती है और हम उनके उन तरीकोंको अपना भी सकते हैं जो हमारे लिए उपयुक्त प्रतीत हों। लेकिन उनका अन्धानुकरण कर हम अपनी बुद्धिका दिवालियापन ही नहीं प्रमाणित करेंगे बल्कि

हमारा उस अन्धकूपमें पतन भी हो सकता है जिसकी ओर वे लोग तेजी से बढ़ रहे हैं। हमलोगोंको यह भी स्मरण रखना चाहिए कि वे राष्ट्र अभी कलके बच्चे हैं जो कतिपय नये आविष्कारों, अनुकूल परिस्थितियों, तथा नवजीवनकी प्रेरणा शक्ति और पराक्रमसे भौतिक क्षेत्रमें आशातीत सफलता प्राप्त कर सके हैं। लेकिन हमारी सांस्कृतिक परम्परा जितनी प्राचीन है उतनी ही विशुद्ध और श्रेष्ठतम है, इसलिए हमलोगोंको केवल बाहरी तड़क-भड़कके आकर्षणमें अपनेको भूल नहीं जाना चाहिए बल्कि हमलोगोंके कार्यकी कसौटी होनी चाहिए आध्यात्मिक मापदण्ड। वर्तमान युगके अनुकूल शब्दोंमें हम उसे इस प्रकार रख सकते हैं कि हमारे प्रत्येक अध्यवसायका मापदण्ड मानव-जातिका कल्याण होना चाहिए। हमारे देशकी यही आध्यात्मिक परम्परा रही है और इसकी प्राप्तिके लिए हमारे पूर्व पुरुषोंने भौतिक वैभवकी ओरसे मुँहतक मोड़ लिया था। हमारे देशमें सबसे अधिक प्रतिष्ठा व्यवसायियों और धनियोंकी न तो थी और न है। हमारे यहाँ सबसे अधिक आदर और पूजा धार्मिक विद्वानों और बुद्धिमानोंकी होती थी और आज भी है। इस देशके बड़े-बड़े राजे-महाराजे उन भिखारी तपस्वियोंके स्वागतमें अपना राजसिंहासन त्यागकर उठ खड़े होते थे जिन तपस्वियोंके पास एक कौड़ी भी नहीं रहती थी और जो दर दर भीख माँगकर अपनी पेट-पूजा करते थे। हमारे देशका प्राचीन सामाजिक और आर्थिक संगठन यही बतलाता है कि वे लोग रात-दिन समाजके कल्याणमें ही लगे रहते थे, सांसारिकतासे उन्हें कोई मतलब नहीं था, धनका

मोह उन्हें अपनी ओर नहीं आकृष्ट करता था, मानव-जातिका कल्याण ही उनके जीवनका परम लक्ष्य था। हमारे लिए भी यही उचित है कि हम वैभवको वही स्थान दें जो उसके लिए उपयुक्त है और उसका उपयोग हम मानव जातिके-कल्याणके लिए करें, न कि मानव जातिको धनका गुलाम बना दें और उसके उत्पादनके लिए मानव-जातिको आधार बनावें।

एक बात और भी स्मरण रखनेकी है। जिस किसी तरहका भी आर्थिक सङ्गठन हम अपने लिए तैयार करें, उसका प्रभाव हमारे राष्ट्रीय चरित्रपर निश्चय ही पड़ेगा। दार्शनिकोंका मत है कि मनुष्यके जीवनपर उसके इर्द-गिर्दके वातावरणका प्रभाव निश्चय ही पड़ता है। वातावरणके बदलते ही उसके चरित्रमें परिवर्तन होने लगता है। स्वार्थ और लोभके संकीर्ण वातावरणमें मनुष्य निश्चय ही लोभी बन जायगा और केवल अपना स्वार्थ तथा सुख देखेगा। यदि हम इस सिद्धान्तको पूर्णतया स्वीकार न भी करें और इस बातपर जोर दें कि वातावरण ही सब कुछ नहीं है और मनुष्य वातावरणके ऊपर उठनेकी क्षमता रखता है और अपने प्रभावसे उसमें परिवर्तन ला सकता है, तो भी यह तथ्य अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि मनुष्यके चरित्रपर वातावरणका बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है और प्रत्येक मनुष्यके चरित्रपर उसकी स्पष्ट छाप रहती है। इसलिए राष्ट्रके लिए कार्यक्रम तैयार करनेमें हमें उन नये और अनोखे भावोंसे ही काम लेना उपयुक्त नहीं होगा जो हमारे सामने आ जाते हैं। कोई भी कार्यक्रम जिससे स्वार्थ, लोभ, तृष्णा तथा हिंसाका जन्म होता हो, राष्ट्रके लिए

उपयुक्त नहीं है, अन्य बातोंमें चाहे वह कितना भी पूर्ण क्यों न हो। इसलिए आर्थिक सङ्गठनकी योजना तैयार करनेमें हमारा सबसे प्रधान लक्ष्य मानव-जातिका कल्याण होना चाहिए और भौतिक सम्पत्तिको गौण स्थान देना चाहिए क्योंकि चरित्र ही भाग्य है। इसी एक बातमें ग्रामोद्योग अन्य आर्थिक सङ्गठनोंसे भिन्न है। ग्रामोद्योग आध्यात्मिक विकासको प्रधान मानता है। वह वहींसे समाजकी स्थापना करना चाहता है जहाँ हिंसाके लिए स्थान न हो। ऐसे समाजमें निकृष्ट व्यक्तिको भी आत्म-विकासका अवसर मिल सकेगा।

२—ग्रामोद्योगके मूल सिद्धान्त

व्यक्ति अथवा मानव-जातिके कल्याणको अपना अन्तिम ध्येय मानकर हमलोगोंको वह सिद्धान्त बनाना है जिसके आधारपर हम अपनी आर्थिक प्रणाली कायम करना चाहते हैं। इस प्रणालीके द्वारा हमें क्या मिलता है, क्या नहीं मिलता लेकिन इसके बारेमें यह शिकायत नहीं होनी चाहिए कि इससे मानव-जातिका विकास नहीं हो सकता। इतना ही नहीं, अपने विकासके साथ-ही-साथ यहाँ मनुष्य अपने पड़ोसीका भी आत्मविकास कर सकता है क्योंकि जिस समाजमें इस प्रणालीका प्रयोग होगा उस समाजका प्रत्येक व्यक्ति एक दूसरे-के हितकी कामनासे ही काम करेगा, गरोह या समाजका कल्याण व्यक्तिकी दृष्टिमें प्रधान होगा, अपना स्वार्थ गौण। इसीमें वह अपनी सार्थकता समझेगा। समाजका प्रत्येक प्राणी समाजके छोटे-से-छोटे व्यक्तिके कल्याणको अपना मुख्य कार्य समझेगा, इसीमें उसकी सार्थकता है।

यदि समाजवादका भी यही आदर्श है तब तो समाजवाद और ग्रामोद्योग दोनों एक ही चीज हैं। ग्रामोद्योग हिंसा-रहित विकेन्द्रित समाजवादका समर्थक है क्योंकि यही एक उपाय है जिससे समाजवादके इस ध्येयकी पूर्ति हो सकती है कि प्रत्येक व्यक्ति समाजके लिए और समाज प्रत्येक व्यक्तिके लिए है। हम पीछे लिख आये हैं कि व्यक्तिका समाजके साथ तथा समाजका व्यक्तिके साथ इस तरहका अन्योन्याश्रय सम्बन्ध तभी सम्भव है जब आर्थिक सङ्गठन छोटे-छोटे दलोंमें विकेन्द्रित हो, न कि जब उसका दायरा इतना बड़ा हो कि समस्त राष्ट्र उसके गर्भमें केन्द्रित हो और उत्पादन केन्द्रित आधारपर स्थित हो। इसलिए ग्रामोद्योग समाजवादका वह रूप है जो उसके आदर्शोंको विकेन्द्रीकरण और अहिंसाद्वारा पूरा करना चाहता है।

पूँजीवादमें सबसे बड़ा दोष यह है कि वह व्यक्तिको पूरी स्वतन्त्रता प्रदान करता है कि वह जहाँतक चाहे अपना हाथ-पैर फैलाता जाय, चाहे दूसरोंपर इसका जो भी असर पड़े। इसका परिणाम यह हो रहा है; संकीर्ण स्वार्थपरता, लोभ और सामाजिक असमानता या अन्यायका उदय हुआ है। इसके विपरीत समाजवाद प्रत्येक प्राणीका कल्याण चाहता है, लेकिन बड़े पैमानेपर उत्पादनकी व्यवस्थाको अपनाकर वह भी व्यक्तिकी स्वतन्त्रताको समाजके कल्याणके लिए होम कर देता है। ये दोनों प्रणालियाँ भूलसे भरी हैं, समाजसे भिन्न व्यक्तिका कल्याण नहीं है और व्यक्तिसे भिन्न समाजका कल्याण नहीं है। दोनोंका एक दूसरेसे घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसीलिए ग्रामोद्योग दोनोंके

बीचका मार्ग लेकर चलना चाहता है। यदि हीगलका यह सिद्धान्त सही है कि वास्तविक सत्य न तो thesis में है, न Antithesis में बल्कि synthsis में है क्योंकि इसमें thesis तथा Antithesis दोनोंके सत्य अंशतः वर्तमान हैं, तब हम भी जोर देकर यह कह सकते हैं कि हम जिस परिणामपर पहुँचे हैं वही सत्य है। समाजवादियोंकी परिभाषामें हंमलोग यहाँ पूँजीवाद thesis (अनियंत्रित वैयक्तिक स्वतन्त्रता, सामाजिक कल्याणके प्रति उदासीनता) के thesis तथा समाजवाद (पूर्ण राष्ट्रीय नियन्त्रण वैयक्तिक स्वतन्त्राके प्रति उदासीनता) के Antithesis से हटकर हम ग्रामोद्योग या वैयक्तिक स्वतन्त्रताके Synthesis पर पहुँचते हैं, जिसमें व्यक्ति समाजके कल्याणमें ही अपना कल्याण देखता है। लेकिन ग्रामोद्योगके विकासके लिए समाजवादियोंकी तरह न तो हम यह दावा ही पेश करते हैं कि इसके विकासका आधार ऐतिहासिक घटनाएँ हैं और न हीगलके अनुयायियोंके अनुसार हम यही कहना चाहते हैं कि मानव-जीवनके आर्थिक सङ्गठनके विकासमें यह भी एक अवस्था है जिसमें मानव-समाज अन्य अवस्थाओंसे होकर आया है।

इसके साथ ही हम यह भी देखेंगे कि इसी प्रकारका हल हमारी राष्ट्रीय परम्पराके अनुकूल भी है। हमारा इतिहास इस बातका साक्षी है कि सदियोंसे जिन भिन्न जातीयता तथा धार्मिक विश्वास रखनेवाले लोगोंके सम्पर्कमें हम आये, हम लोगोंने न तो उनका विरोध किया और न उन्हें निकाल ही बाहर किया बल्कि हमने उन्हें अपनाकर अपनेमें मिला लिया। कदाचित् मिलाया नहीं दृष्टिकोण जो भिन्न-भिन्न जातियों,

धार्मिक विश्वासों तथा संस्कृतियोंके सम्मिश्रण तथा उनके दीर्घ विवेचनसे हमें प्राप्त हुआ है, हमलोगोंको वह प्रेरणा प्रदान करता है जिसकी सहायतासे हम पश्चिमकी उस अपरिपक्व मूर्खतापूर्ण प्रयाससे अपनी रक्षा कर सकें, जो विना विचारके एक सिरेसे दूसरे सिरेका चक्कर लगानेमें व्यस्त है अर्थात् पूँजीवादसे समाजवादकी तरफ दौड़ता है और पूँजीवादके अनियंत्रित वैयक्तिक स्वतन्त्रताका नाश कर उसके स्थानपर समाजवाद अर्थात् सम्पूर्ण राष्ट्रका अधिकार कायम करना चाहता है। ग्रामोद्योग बीचका रास्ता ग्रहण करना चाहता है अर्थात् पूँजीवाद तथा समाजवाद दोनोंमेंसे केवल अच्छाईको अलग कर लेना चाहता है और उसीको अपनाना चाहता है। इस दृष्टिसे ग्रामोद्योग हमारी राष्ट्रीय परम्पराका पूरी तरह पालन करता है और उसके उपयुक्त है। यही निरपेक्ष वृत्ति, जो किसी भी प्रणालीका सर्वनाश न चाहकर, दोनोंके गुणोंका स्वागत करती है और उन्हें अपने ढाँचेमें ढालकर उपयोगी बनाना चाहती है, पूर्ण रूपसे अहिंसात्मक हो सकती है। भारतकी सीमाके भीतर जिन भिन्न जातियों तथा उपजातियोंने समय-समयपर प्रवेश पाया, उनसे उसे यही अनुभव प्राप्त हुआ कि अनवरत रक्तपात तथा युद्धको रोककर उन्हें एकमें मिलाकर रखनेका केवलमात्र उपाय यही है कि वे भी बसें और दूसरोंको भी बसने दें अर्थात् यहाँ बसनेवाली सभी जातियाँ सहिष्णुतासे काम लें। अहिंसाके सिद्धान्तका यह अन्तिम रूप है क्योंकि विरोधी तत्वोंके परस्पर सङ्घर्षको उत्तेजना न देकर वह उन्हें मिलाकर रखना चाहता है। इस विचारधाराके अनुसार

ग्रामोद्योगको आर्थिक क्षेत्रमें भारतकी अहिंसात्मक आत्माका मूर्तरूप कहा जा सकता है। आज सारा संसार हिंसा और संघर्षके विषम जंजालमें पड़ा हुआ है ; इस विषम परिस्थितिसे निकलकर वह निर्मल प्रकाशमें आनेके लिए अन्धेरेमें मार्ग टटोल रहा है। आज भारत अपने समृद्ध उत्तराधिकारीसे संसारको यह समाधान प्रदान कर सकता है।

अब प्रश्न यह उठता है कि ग्रामोद्योग हमारे सामने जो आदर्श उपस्थित करता है उसकी पूर्तिके लिए हमें कौनसा मार्ग ग्रहण करना चाहिए। इसके लिए पर्याप्त सामग्री हमारे प्राचीन आर्थिक सङ्गठनमें वर्तमान है। हम पीछे दिखला आये हैं कि प्राचीन युगमें प्रत्येक व्यक्तिको अपनी इच्छाके अनुसार अपने व्यवसायको उस हद्तक फैलानेकी पूरी स्वतन्त्रता थी जहाँतक समाज उन्हें स्वतन्त्रता दे सकता था। न तो हम व्यक्तिगत व्यवसायको ही बुरा समझते हैं और न सामाजिक नियन्त्रणको ही। व्यक्तिगत व्यवसाय तभी बुरा हो जाता है जब वह अपनी सीमाको पारकर दूसरोंको हानि पहुँचाने लगता है। इसी तरह समाजका नियन्त्रण भी बुरा नहीं है ; लेकिन जब सामाजिक नियन्त्रण अपनी सीमाको पारकर व्यक्तिकी स्वतन्त्रताका अपहरण करने लगता है, तब वह दोषपूर्ण हो जाता है। इसलिए हमारा अध्यवसाय ऐसा होना चाहिए जिसमें दोनोंकी गुञ्जायश हो अर्थात् व्यक्तिको काम करनेकी पूरी स्वतन्त्रता भी हो और उसपर समाजका नियन्त्रण भी रहे। यदि हम व्यक्तिकी स्वतन्त्रताको कायम रहने देते हैं, जिसका समाजवाद अपहरण कर लेता है, और साथ ही हम इस बातपर भी पूरा ध्यान रखते

हैं कि वर्गके स्वार्थका अपहरण नहीं होता, जैसा कि पूँजीवादमें देखनेमें आता है, तो इसके लिए एकमात्र यही उपाय है कि व्यक्तिको इस बातकी स्वतन्त्रता रहनी चाहिए कि वह अपना व्यवसाय अपनी इच्छाके अनुसार चलाता रहे पर साथ ही उसके ऊपर यह नियन्त्रण रहना चाहिए कि वह वर्गके स्वार्थका किसी भी तरह दुरुपयोग नहीं करता और उसके व्यवसायसे समाजका कल्याण होता है। इन दो बातोंपर हमें सदा ध्यान रखना होगा और निम्न लिखित दो उपायोंका अवलम्बन कर हम इसे पूरा कर सकते हैं। (क) उत्पादनमें विकेन्द्रीकरण (ख) स्वदेशीका व्रत।

(क) उत्पादनमें विकेन्द्रीकरण

इसका अभिप्राय यह है कि प्रत्येक व्यवसायको व्यक्तियोंके हाथमें छोड़ देना चाहिए जो उसे बड़े-बड़े कल-कारखानोंके रूपमें न चलाकर अपने घरोंमें चलावें और अपनी योग्यताके अनुसार उसका विकास करें; एक तरहका व्यवसाय चलानेवाले सभी आपसमें मिलकर सहयोगसे काम करें; लेकिन जिस इकाईके लिए वे माल तैयार करेंगे उसकी सीमा बँधी हुई रहेगी। उनके मालकी खपतका क्षेत्र उनका गाँव मात्र होगा अथवा आसपासके दो-चार गाँव मिलकर एक सङ्गठन कर लेंगे और आपसमें मिलकर अपनी आवश्यकता पूरी करेंगे। लेकिन कुछ चीजें ऐसी भी हैं जिनके लिए गाँव या गाँवोंके सङ्घकी आत्मनिर्भरता समान नहीं रहेगी। उन वस्तुओंके लिए उत्पादन और उपभोगके क्षेत्रका दायरा लम्बा होगा—एक तालुका, एक जिला या

एक प्रान्त। इसलिए आत्म-निर्भरताके सिद्धान्तको लागू करनेमें उतनी कड़ाईकी जरूरत नहीं होगी। केवल इतना स्मरण रखना होगा कि दैनिक आवश्यकताकी जो भी वस्तुएँ गाँवोंमें तैयार हो सकेंगी, उनका उत्पादन वहीं किया जायगा—खासकर भोजन और वस्त्रकी सामग्री। अन्य आवश्यकताओंके लिए गाँवके लोग अपने पड़ोसी गाँवोंके उत्पादनपर निर्भर कर सकते हैं जिसे सभी गाँवके लोग मिलकर तैयार करेंगे। जहाँ यह सम्भव नहीं होगा वहाँ गाँववालोंके लिए राष्ट्र इन वस्तुओंको तैयार करावेगा।

विकेन्द्रीकरण भारतीय अवस्थाके अनुकूल—हम पीछे कह आये हैं कि दूसरे राष्ट्रोंके अन्धानुकरणसे हमारा काम नहीं चलेगा। हमारा आर्थिक सङ्गठन हमारी परम्पराके अनुकूल होना चाहिए। हमारे देशके जीवनकी विशेषताके सर्वथा अनुरूप होना चाहिए। प्रत्येक पेड़ एक ही मिट्टी और जलवायुमें नहीं पनप सकते। एक तरहकी मिट्टी तथा जलवायु उनके अनुकूल हो सकती है, लेकिन दूसरे तरहकी मिट्टी और जलवायु उनके अनुकूल नहीं हो सकती। यदि उस मिट्टी और जलवायुमें उन्हें लगानेका यत्न किया जाय तो कभी भी सफलता नहीं मिल सकती। इसलिए प्रत्येक कामके लिए हमें अपने देशवासियोंकी योग्यता तथा अपने देशकी प्रचलित अवस्थापर सदा ध्यान देना होगा। एक तरहका औद्योगिक सङ्गठन एक देशमें सफल हो चुका है, महज इतने ही ख्यालसे हमें उसे अपने देशमें भी चला देना उपयुक्त नहीं होगा।

१—जब हम अपने प्राचीन इतिहासका अध्ययन करते हैं

और अपने देशकी परम्परा तथा रहन सहनका अध्ययन करते हैं तब हमें यही प्रतीत होता है कि विकेन्द्रीकरण ही हमारे देशके लिए सर्वथा उपयुक्त है। हमारे देशके प्राचीन आर्थिक सङ्गठनका यही आधार था। उस युगमें ग्राम ही उत्पादनका इकाई था। राजनीतिक जीवनमें भी प्रत्येक गाँव आत्मनिर्भर था। प्रत्येकका शासन ग्राम-पञ्चायत या ग्रामकी सभाद्वारा होता था। साथ ही हमारे देशका हिन्दू धर्म धार्मिक क्षेत्रमें भी केन्द्रीकरणपर विश्वास नहीं करता था। हिन्दू धर्ममें प्रत्येक व्यक्तिको अपने विश्वासके अनुसार धार्मिक आचरणकी पूर्ण स्वतन्त्रता थी, केवल वह समाजके विपरीत कोई आचरण नहीं कर सकता था। यही कारण है कि ईसाई या इस्लाम धर्मकी तरह हिन्दू धर्ममें कोई एक केन्द्रीय धार्मिक व्यवस्था कायम कर उसीके अधीन प्रत्येक व्यक्तिको रखनेका कभी प्रयास नहीं किया गया। उपासनाके लिए भी हिन्दू धर्म वैयक्तिकताको अधिक प्रश्रय देता है। ईसाई या इस्लाम धर्मकी तरह जमातमें इकट्ठा होकर पूजाकी विधि हिन्दू धर्मका आधार नहीं है। हिन्दू संगीतकी भी यही हालत है क्योंकि हिन्दू-सङ्गीत-कला राग-रागिणियोंपर निर्भर है, पश्चिमी संगीत-कलाकी भाँति कई स्वरोंको मिलाकर एक मिश्रित मधुर स्वर उसका आधार कभी नहीं रहा है। यदि इस विचारधाराका विस्तार किया जाय और अन्य क्षेत्रोंका भी अध्ययन किया जाय तो वहाँ भी यही वैयक्तिकताकी प्रधानता पायी जायगी और हम इसी निष्कर्षपर पहुँचेंगे कि हमारे देशके सभी क्षेत्रोंमें विकेन्द्रीकरणकी ही प्रधानता थी। इससे यह नहीं समझना चाहिए कि केन्द्रीकरणके लिए जिस सङ्गठनकी आवश्यकता है उसका हममें

अभाव था, बल्कि हमारे देशमें जो भी सङ्गठन थे, संयुक्त परिवार, जाति, आत्म-निर्भर ग्राम-संगठन—सभीका एकमात्र उद्देश्य स्वार्थी तथा दुष्ट लोगोंके प्रयाससे ग्रामके प्रत्येक प्राणीकी रक्षा करना था। लेकिन बड़े पैमानेपर उत्पादन करनेके लिए हम जो सङ्गठन कायम करेंगे वह इस उद्देश्यकी पूर्ति नहीं कर सकेगा क्योंकि उस सङ्गठनका उद्देश्य असंख्य व्यक्तियोंका एक जमातके अन्दर आकांक्षाके लिए नहीं वल्कि उत्पीड़नके लिए लाना है। सवलोंसे दुर्वलोंकी रक्षा नहीं वल्कि सवलोंको और भी अधिक बलशाली और योग्य वनाना उसका उद्देश्य है। इससे यह नहीं समझना चाहिए कि न तो हममें केन्द्रीकरणकी योग्यता उत्पन्न हो सकती है और न पश्चिमके लोगोंमें विकेन्द्रीकरणकी योग्यता पैदा हो सकती है। मानव प्रकृति सर्वत्र ही समान है। हमारे देशकी प्राचीन परम्पराके अनुसार विकेन्द्रीकरण हमारी प्रकृतिके अधिक अनुकूल हो सकता है और हम अपनी सर्वांगीन उन्नति और विकास अपनी परम्पराके अनुकूल वातावरणमें ही भली प्रकार कर सकते हैं। हम अपने अतीतसे अलग नहीं हो सकते क्योंकि अन्य उपकरणोंकी सहायतासे अतीतने ही हमारे वर्तमानका निर्माण किया है और इस वर्तमानकी ही सहायतासे हम अपने भविष्यका निर्माण कर सकते हैं।

२—हमारा देश कृषि-प्रधान है। हमारे देशके अधिकांश निवासियोंका प्रधान व्यवसाय कृषि होनेके कारण जन संख्याका अधिक भाग गाँवोंमें रहता है। इसलिए हमें प्रत्येक उद्योगकी स्थापना गाँवोंमें करनी होगी और उसे कृषिका सहायक पेशा बनाना होगा ताकि गाँवके लोग अपने बेकारीके समय उपयोगी

कामोंमें लगा सकें। सालमें कुछ दिन ऐसे होते हैं जब खेतोंमें कोई विशेष काम नहीं रहता। बड़े बड़े कल कारखानोंमें इन खेतिहरोंकी गुञ्जायश नहीं हो सकती है क्योंकि अपनी खेतीका काम छोड़कर वे कहीं अन्यत्र नहीं जा सकते। प्रत्येक दिनका कुछ न कुछ भाग उन्हें खेतोंमें लगाना पड़ता है इसलिए हमारे देशके उद्योग ऐसे होने चाहिए जिन्हें प्रत्येक गाँवका निवासी अपनी सुविधाके अनुसार हाथमें ले और छोड़ सके। बड़े बड़े कल-कारखानोंमें जहाँ मशीनें चलती हैं, वहाँ यह सम्भव नहीं है क्योंकि उन कारखानोंको नफाके साथ चलानेके लिए मशीनोंको नियत समयतक लगातार चलाते रहना नितान्त आवश्यक है।

३—गाँवोंमें पूँजीकी बहुत बड़ी कमी है। इसलिए यदि गाँवोंमें उद्योग कायम कर गाँववालोंके भरोसे ही उसे चलाना है तो बड़े पैमानेपर उद्योग नहीं कायम किया जा सकता क्योंकि उसके लिए जितनी पूँजीकी जरूरत पड़ेगी वह गाँवोंमें प्राप्त नहीं हो सकती। गाँवोंके लोग आवश्यक औजारों और अन्य उपकरणों-पर चन्द रुपयोंसे ज्यादा नहीं खर्च कर सकते। कोई भी योजना जो इन बातोंकी उपेक्षा करेगी, वह कदापि सफल नहीं हो सकती। अनेक सुन्दर और उपयोगी योजनाएँ इसीलिए अ-सफल हो गयीं कि उनको चलानेके लिए उपयुक्त साधन और उपकरण गाँवोंमें नहीं प्राप्त हो सके।

४—इस देशमें मजूरोंका बाहुल्य है। बड़े पैमानेपर उत्पा-दनमें मजूरोंकी सदा कटौती होती रहती है। इससे बेकारी बढ़ती है। इससे बचनेके लिए हमारे देशमें बड़े पैमानेपर व्यव-

सायकी स्थापना कदापि नहीं होनी चाहिए। नीचेकी तालिकामें कपड़ेके उत्पादनके चार तरीकोंका परिणाम दिखाया गया है। इससे प्रकट होगा कि जहाँ पूँजीका अभाव है और मजूरोंका बाहुल्य है वहाँके लिए ग्रामोद्योग ही सबसे ज्यादा उपयुक्त है।

उत्पादनकी प्रणाली	पूँजी प्रति-मजूर लागत	प्रति मजूर उत्पादन	अनुपात	पूँजीकी प्रति इकाईपर लगे मंजूर
१—आधुनिक मिल	रु० १,२००	रु० ६५०	१·९	१
२—पावर लूम	„ ३००	„ २००	१·५	३
३—आटोमेटिकलूम	„ ९०	„ ८०	१·१	१५
४—हाथके करघे	„ ३५	„ ४५	९·८	२५

यदि हम गावोंमें सुख और समृद्धि लाना चाहते हैं तो यह आवश्यक है कि गाँवके प्रत्येक प्राणीको हमें लाभके काममें लगाना चाहिए। हमारे देशमें प्रायः ४० करोड़ व्यक्ति बसते हैं। यदि हम बड़े पैमानेपर केन्द्रित उद्योग कायम करना चाहें तो हम सबको किस तरह काम दे सकते हैं? १९३९ की तालिकाके अनुसार इस देशमें बड़े-बड़े कल-कारखानोंमें काम करनेवालोंकी कुल संख्या २० लाखसे कुछ ज्यादा थी। १९३१ और १९४१ के बीच जन-संख्यामें ५ करोड़की वृद्धि हुई है अर्थात् प्रतिवर्ष ५० लाखके हिसाबसे। देशके उद्योगीकरणमें हम कितनी भी शीघ्रता क्यों न करें हमारे लिए यह सम्भव नहीं हो सकेगा कि हम प्रतिवर्ष बढ़ती हुई इस ५० लाखकी जन-संख्याको काम दे सकें यदि हम पुरानी जन-संख्याका

ध्यान छोड़ भी दें जो खेतीपर अपना निर्वाह करती आ रही है। इसलिए हमारे देशके समान घनी आबादीको सुखी बनानेका एक ही उपाय दिखायी देता है और वह है उद्योगोंका विकेन्द्रीकरण। जिस देशकी आबादी इतनी ज्यादा हो और जहाँ मजूरोंका इतना बाहुल्य हो, वहाँ बड़े पैमानेपर उद्योग कायम कर बड़ी-बड़ी मशीनोंद्वारा उन्हें चलानेकी कोई भी सार्थकता नहीं दिखायी देती और न न्यायतः उसका समर्थन ही किया जा सकता है। उत्पादनके काममें इस जन-संख्याका प्रयोग किया जाय या न किया जाय, लेकिन इनका भरण-पोषण तो करना ही होगा। इस तरह बड़े पैमानेपर उद्योग स्थापित कर देशपर दोहरा बोझ डाला जायगा क्योंकि जन-संख्याका भरण-पोषण तो करना ही होगा, साथ ही बड़ी बड़ी मशीनोंके बनाने और उन्हें कायम रखनेके लिए भी व्यय करना पड़ेगा। ऐसे देशकी सबसे बड़ी आवश्यकता यह देखना है कि उसके एक भी निवासी बेकार नहीं रहते और मशीनोंका प्रयोग तभी किया जाय जब उस कामको सम्पन्न करनेके लिए पर्याप्त मजूर न प्राप्त हों या मजूरोंद्वारा वह काम होने लायक न हो। मशीनोंका काम मजूरोंकी सहायता करनामात्र होना चाहिए। अन्यथा हम इस दोषके भागी होंगे कि हमने अपने देशमें प्राकृतिक साधनोंको बर्बाद होने दिया और उनका उचित उपयोग नहीं किया।

५—हमारे देशमें जो माल तैयार होगा उसका बाजार भी सीमित है। एक ओर तो हमारी जनसंख्या अपार है पर साथ ही दूसरी ओर तैयार मालके लिए हमारे पास कोई भी बाहरी

बाजार नहीं है। क्योंकि सभी बाजारोंपर किसी न किसी बल-शाली विदेशी राष्ट्रका अधिकार है। यदि कोई दूसरा राष्ट्र उस-पर अधिकार जमानेका प्रयास करे तो वह उससे लोहा लेनेके लिए तैयार है। यदि हम अपने देशके ४० करोड़ निवासियोंको कलकारखानोंमें लगाकर माल पैदा करने लगते हैं तो हम इस तैयार मालको बेचेंगे कहाँ? व्यावहारिक विज्ञानकी वेगवती प्रगति-के कारण उत्पादनके कामके लिए बहुत कम संख्यामें मजूरोंकी जरूरत होगी। निकट भविष्यमें ऐसा समय आ सकता है जब एक छोटा देश भी समस्त संसारकी आवश्यकताको पूरी कर सकेगा। ऐसी हालतमें हमलोगोंको बाजार कहाँ मिलेगा। बड़े पैमानेपर उत्पादन करके ब्रिटेन समृद्धशाली हो गया क्योंकि वह उसके सर्वथा अनुकूल था। उसकी जनसंख्या कम थी और संसारका बाजार उसके हाथमें था। केवल उसे सस्ता और अच्छा माल तैयार करना था। उसने उसे सम्पन्न किया। सीमित जनसंख्या तथा संसारभरके बाजारपर अधिकार होनेके कारण बड़े पैमानेपर उत्पादनसे ब्रिटेन लाभ उठा सका। लेकिन हमारे देशकी हालत उससे सर्वथा विपरीत है। हमारे देशमें करोड़ों व्यक्ति बेकार हैं, जिन्हें काम नहीं मिलता, साथ ही हमारे हाथमें एक भी बाजार नहीं है, यहाँतक कि हमारा अपना बाजार भी विदेशियोंके कब्जेमें है जो अपने देशके मालसे बाजारको पाट देते हैं और इतना सस्ता माल बेचते हैं कि देशी उद्योग-धन्धोंको धक्का लग रहा है। इसलिए हमारे देशमें मजूरी बचानेकी समस्या नहीं है बल्कि करोड़ों भूखोंको काम देनेकी समस्या है। अपने देशके मजूरोंको हम तभी काम दे सकते हैं

जब हम बड़े पैमानेपर उत्पादनसे मुँह मोड़ लें और ग्राम-उद्योगों-पर निर्भर करें। इसके उत्तरमें यह कहा जा सकता है कि बड़े पैमानेपर हम उतना ही उत्पादन करेंगे जितना हमारे देशकी जनताके लिए आवश्यक है। तब प्रश्न यह उठता है कि उन करोड़ों व्यक्तियोंका क्या होगा जिनकी जरूरत बड़े बड़े कार-खानोंमें नहीं पड़ेगी।

६—हमारे देशके लोग गरीब हैं। इस व्यापक गरीबीकी समस्याका समाधान बड़े पैमानेपर उत्पादनसे नहीं हो सकता। क्योंकि इस प्रणालीमें सबसे बड़ा दोष यही है कि देशकी सारी सम्पत्ति चन्द लोगोंके पास इकट्ठी हो जाती है। हमारे देशकी गरीबीका समाधान तभी हो सकता है जब हम उत्पादनको व्या-पक बनावें और अधिकसे अधिक लोगोंके हाथमें इसे सौंप दें ताकि वे लोग अपने अपने लिए उपार्जन करें। इससे सम्पत्तिका बँटवारा आपसे आप समान रूपसे होगा। बड़े पैमानेपर उत्पादन करके यदि हम देशव्यापी छोटे छोटे कारखाने कायम कर दें तो देशमें कतिपय करोड़पतिपर करोड़ों बेकार और भूखे नहीं दिखायी देंगे बल्कि इसके विपरीत शायद एक भी करोड़पति देखनेको न मिले और जो सम्पत्ति उन्हें करोड़पति बनानेके लिए उनकी जेबमें जाती है वह हजारों गाँवोंमें बँटकर गाँवोंको समृद्ध बनानेमें सहायक होगी। सदाव्रत या भीखसे गरीबोंकी सहायता करना उत्तम दान नहीं समझा जाता क्योंकि इससे देनेवाले और लेनेवाले दोनोंका अधःपतन होता है। उत्तम दान तो उन गरीबोंको काम देना है जिससे उनका पेट भरे और जो उनके जीवनमें आशा, विश्वास तथा शान्ति और सुखका संचार करे।

ऊपर जो कारण दिखलाये गये हैं उनसे हम इसी परिणाम-पर पहुँचते हैं कि देशको पुनः समृद्ध बनानेके लिए आवश्यक है कि एक बार फिर ग्रामोद्योगोंकी पुनःस्थापना हो जिसका संचा-लन और प्रबन्ध व्यक्ति अपनी योग्यताके अनुसार करे। इसीको हम उत्पादनमें विकेन्द्रीकरण कहते हैं।

विकेन्द्रित उत्पादनमें केन्द्रित उद्योगोंका स्थान

हम ऊपर लिख आये हैं कि सभी उद्योगोंका विकेन्द्रित करनेकी आवश्यकता नहीं है। यह सम्भव भी नहीं है। कुछ ऐसे उद्योग हैं जिन्हें केन्द्रित करना ही होगा। उदाहरणके लिए, (१) ऐसे उद्योग जिन्हें अन्य उद्योगोंकी कुंजी कहा जा सकता है, जैसे मशीन तैयार करनेवाले तथा छोटे-छोटे उद्योगोंके लिए ईंधन तथा कच्चा माल तैयार करनेवाले कल-कारखाने। यदि हमें सीनेवाली कलोंकी जरूरत है तो हमें ऐसे कारखानोंकी जरूरत होगी जहाँ हम इन मशीनोंको तैयार कर सकें। इसी तरह छोटे-छोटे कारखानोंके लिए बिजली या कोयला हर जगह नहीं तैयार किया जा सकता। रासायनिक द्रव्योंको तैयार करने-के लिए भी बड़े-बड़े कारखानोंकी जरूरत होगी। इसी तरह कागज बनानेका पल्प (लुगदा) भी बड़े-बड़े कारखानोंमें तैयार कर कागज बनानेवाले केन्द्रोंको दिया जायगा। (२) सार्वजनिक हितके काम जैसे, रेल, तार तथा टेलीफोन वगैरहकी चीजोंका उत्पा-दन बड़े पैमानेपर ही होगा क्योंकि इन चीजोंके उत्पादनका काम व्यक्तियोंके हाथमें नहीं रह सकता। राष्ट्रकी ओरसे इनके उत्पादनके लिए बड़े-बड़े कारखाने खोले जायँगे अथवा सह-कारिताके आधारपर जनता ही यह काम करेगी। इन कामोंमें

नफा कमानेका ध्येय नहीं रहेगा बल्कि सार्वजनिक हितकी दृष्टिसे इनका उत्पादन होगा।

अन्य उद्योग विकेन्द्रित कर दिये जायँगे और ग्रामोंमें फैला दिये जायँगे। कहनेका मतलब यह है कि ग्रामोद्योगके साथ बड़े-बड़े उद्योगोंकी स्पर्धा नहीं होगी। दोनोंके क्षेत्र अलग-अलग होंगे और जो काम ग्रामोद्योगोंसे नहीं सम्पन्न हो सकेंगे उन्हींके लिए बड़े-बड़े कारखाने खोले जायँगे। ये ग्रामोद्योगके लिए सहायकका काम करेंगे। ऊपर कहा गया है कि बड़े कल-कारखाने केवल उन चीजोंके उत्पादनके लिए खोले जायँगे जिनसे ग्रामोद्योगको सहायता मिले, लेकिन ऐसा समय भी आ सकता है जब उन चीजोंके लिए भी बड़े-बड़े कारखाने खोलने पड़ें जो ग्रामोंमें पैदा होती हैं। उदाहरणके लिए बहुत अधिक खादीकी जरूरत पड़ गयी और ग्रामोद्योग उतना देनेके लिए समर्थ नहीं है, अथवा अखबारोंके लिए कागज जो ग्रामोद्योगके द्वारा तैयार ही नहीं हो सकता। ऐसी अवस्था उत्पन्न होनेपर बड़े-बड़े कारखाने अस्थायी रूपसे खोले जा सकेंगे। इस तरहके कल-कारखाने केवल मजबूरी हालतमें आवश्यकताकी पूर्तिमात्र-के लिए खोले जायँगे, अन्यथा आदर्श वही रहेगा कि जहाँतक सम्भव हो सभी चीजें ग्रामोद्योगद्वारा ही तैयार करायी जायँ। लेकिन वर्तमान युगमें हमारे देशकी हालत एकदम उलटी है। लोगोंकी प्रवृत्ति बड़े-बड़े कल-कारखानोंको स्थापित करनेकी ओर है। ग्रामोद्योगको लाचारी हालतमें ही प्रश्रय दिया जाता है। इस सम्बन्धमें हमारे देशके अर्थशास्त्रियों और राजनीतिज्ञों-की विचारधारामें भी साम्य नहीं है। ये लोग दोनों तरहकी

बातें करते हैं। देशको उद्योग-प्रधान भी बनाना चाहते हैं और ग्रामोद्योगको प्रोत्साहन भी देना चाहते हैं। लेकिन एक साथ ही दोनों सम्भव नहीं है क्योंकि प्रतिस्पर्धाको मुक्त स्थान देने-पर दोनोंका टिक सकना सम्भव नहीं है क्योंकि यदि दोनोंमें एक ही तरहकी चीजें पैदा होने लगेंगी तो ग्रामोद्योगोंको जिन्दा रहना भी कठिन हो जायगा। यह तभीतक सम्भव है जबतक एक इतना माल नहीं तैयार कर सकता जो देशकी समस्त आ-वश्यकताकी पूर्ति कर सके। हमलोगोंको यह सदाके लिए तै कर लेना होगा कि हम किस तरहका उद्योग देशमें कायम करना चाहते हैं। तभी हमलोग यह स्थिर कर सकते हैं कि किस तरहके उद्योगको प्रोत्साहन दिया जाय और किसे अनुत्साहित किया जाय। अभीसे ही शहरके कल-कारखाने देहातोंमें आतंक मचाये हुए हैं क्योंकि इनके उदयसे उन ग्रामोद्योगोंको धक्का लगा है जिनसे वे सुखी थे। लेकिन इसे इसी तरह अनन्त कालतक नहीं चलने दिया जा सकता। जिस घरके प्राणियोंमें परस्पर मत-भेद हो, वह ज्यादा दिनतक नहीं टिक सकता। देशके कल्याणके लिए यह आवश्यक है कि शहर और देहात दोनों मिलकर काम करें, न कि एक दूसरेके विरुद्ध। किन्तु यह तबतक सम्भव नहीं है जबतक यह निश्चय न हो जाय कि विकेन्द्रित उद्योगोंके साथ केन्द्रित उद्योगोंका किस तरहका सम्बन्ध रहेगा। यह हो जाने-पर ही दोनों मेल-जोलसे एक दूसरेकी सहायता करते हुए चल सकते हैं। दोनोंके कर्तव्य-क्षेत्रको निश्चित कर देना होगा। यदि दोनोंके कार्य-क्षेत्रको अलग अलग रखना है तो इसका एकमात्र यही उपाय है कि उन्हीं वस्तुओंके लिए केन्द्रित उद्योग स्थापित

किया जाय जो विकेन्द्रित क्षेत्रमें उत्पन्न नहीं किया जा सकता। उन व्यवसायोंको छोड़कर बाकी सभी उद्योगोंको विकेन्द्रित कर दिया जाय और वह भी केवल इसलिए नहीं कि हमारे देशकी अवस्थाके अनुसार विकेन्द्रित व्यवसाय ही अधिक अनुकूल होगा बल्कि इसलिए कि व्यक्तिका विकास और उसकी वृद्धि विकेन्द्रित व्यवसायमें ही सम्भव दिखायी देती है।

विकेन्द्रित उत्पादनमें विज्ञान और मशीनोंका स्थान

अभीतक विज्ञानका ध्यान एकमात्र केन्द्रित उद्योगकी समस्याकी ओर था लेकिन इस नये अर्थशास्त्रमें विज्ञानको ग्रामोद्योगकी तरफ ध्यान देना होगा, उसके औजारोंको सुधारनेका साधन निकालना होगा, तथा काम करनेका नया तरीका बतलाना होगा। ग्रामोद्योगकी सहायतामें विज्ञानका यह काम नहीं होगा कि वह उन्हें ऐसा साधन दे जिससे सैकड़ों और हजारों अन्य व्यक्तियोंको लूटकर वे सारा धन बटोरकर अपने अधीन कर लें बल्कि ऐसे साधन उत्पन्न करने होंगे जिनसे उनका काम हलका हो जाय। वैज्ञानिक खोज और अनुसन्धानका उद्देश्य स्वार्थ और लाभ न होकर उत्पादकोंकी आवश्यकता होगी। इस नये प्रयोगमें आजकी अपेक्षा विज्ञानकी खोजका दायरा बहुत अधिक व्यापक और विस्तृत होगा क्योंकि बहुव्यापी और जटिल मशीनोंको तैयार करना जितना आसान है उतना आसान अल्पव्यापी और सीधी-सादी मशीनोंको तैयार करना नहीं है और देहातोंकी सीमित सम्पत्तिमें इसी तरहकी मशीनोंका उपयोग हो सकता है।

बहुधा यह कहा जाता है कि ग्रामोद्योग देशको पुनः उसी प्रारम्भिक अवस्थामें ले जाना चाहता है और विज्ञानने जो कुछ

सम्भव कर दिया उससे देशको पीछे हटाना चाहता है। यदि ग्रामोद्योगका यही उद्देश्य है तो यह सचमुच बड़ी भारी भूल होगी और उसे इसका कुफल भोगना पड़ेगा। लेकिन ग्रामोद्योग विज्ञानसे मुँह क्यों मोड़ लेगा ? प्राचीनसे सटे रहना कोई बुद्धि-मानी और योग्यता नहीं है। पर इसके साथ ही कोई कारण नहीं है कि हम अपनी बुद्धि और ज्ञानका प्रयोग कर कामको हलका न बनावें और जीवनका उपभोग न करें। ईश्वरने मनुष्यको बुद्धि इसलिए दी है कि वह जीवनके संघर्षमें उसका प्रयोग करे। यदि हम उसका उपयोग नहीं करते तो वह क्षीण होकर मुर्दा हो जायगी। इसलिए किसी भी प्रकार विज्ञानकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। विज्ञान सदा हमारा प्रकाशमय पथप्रदर्शक बना रहेगा और पुरानी समस्याओंको हल करनेके लिए हमें नये नये साधन देता रहेगा और कर्तव्य-क्षेत्रमें हमें अधिकाधिक योग्य बनाता रहेगा, केवल उसका कार्य-क्षेत्र बदल जायगा। अब विज्ञानका प्रयोग व्यवसायको केन्द्रित करनेमें नहीं होगा क्योंकि जैसा हम पीछे दिखला आये हैं उससे मजूर गुलाम बन जाते हैं और उनकी शक्ति क्षीण हो जाती है। ग्रामोद्योग विज्ञानका विरोधी नहीं है, बल्कि इसका विरोध उन तरीकोंसे है जिनमें आजकल विज्ञानका प्रयोग हो रहा है —चाहे वे तरीके पूँजीवादके अन्तर्गत हों या समाजवादके। विज्ञानकी अधिकाधिक आव-श्यकता देशको होगी, केवल उसका झुकाव मजूरोंकी सहायता तथा विकेन्द्रित उत्पादनकी ओर होगा।

इससे हम इस निष्कर्षपर पहुँचते हैं कि इस नयी आर्थिक-व्यवस्थामें भी विज्ञानकी अधिकाधिक आवश्यकता होगी और

ज्यादा-से-ज्यादा मशीनोंकी जरूरत पड़ेगी। केवल फर्क इतना ही होगा कि उनका ढाँचा ऐसा नहीं होगा जिससे व्यवसायका केन्द्रीकरण हो सके। लोग बड़े तपाकके साथ यह कहते सुनायी देते हैं कि यदि बड़ी-बड़ी मशीनोंद्वारा हमारी किसी तरहकी क्षति हुई है तो इसमें मशीनोंका कोई दोष नहीं है, बल्कि दोष तो उन व्यक्तियोंका है जिन्होंने मशीनोंका प्रयोग इस तरह किया है कि उनसे इस तरहका खतरनाक परिणाम निकला है। इस तरहकी बातें उन लोगोंकी जबानपर अकसर रहती है जिनका झुकाव समाजवादकी ओर है। लेकिन इन लोगोंका उत्तर तो स्वयं मार्क्सने दे दिया है। उसने लिखा है कि उत्पादनके तरीके या मशीनोंका बहुत अधिक प्रभाव जनतापर पड़ता है। बड़ी बड़ी मशीनोंका प्रयोग निजी लाभके लिए चाहे पूँजीपति करें, या जनताके कल्याणके लिए समाजवादी करें, इनका दूषित प्रभाव मजदूरोंपर समान रूपसे पड़ेगा अर्थात् उनकी बुद्धिका दमन, सूझ और दिमागका ह्रास, कलात्मक ज्ञानका नाश, जैसा कि हम समाजवादकी आलोचनामें दिखला चुके हैं। इसलिए यह कहना उचित नहीं है कि दोष केवल मशीनोंके प्रयोग करनेवालोंमें है। सच बात तो यह है कि बड़ी मशीनें स्वतः मानवताके लिए बहुत बड़ा अभिशाप हैं। बड़ी मशीनोंकी स्थापनासे ही उद्योग केन्द्रित हो जाता है। इसका फल यह होता है कि उत्पादनके काममें व्यक्तिको अपनी बुद्धि लगानेका अवसर नहीं मिलता। वह उससे वञ्चित हो जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि व्यक्तिकी बाढ़ रुक जाती है। इसीलिए ग्रामोद्योगकी पहली शर्त यही है कि मशीनें ऐसी

नहीं होनी चाहिए जिससे व्यवसायके केन्द्रित होनेकी सम्भावना हो। जिन मशीनोंसे ग्रामोद्योगमें हर तरहकी सहायता मिलनेकी सम्भावना होगी, मजूरोंको काममें आसानी होगी, उस तरहकी सभी मशीनोंका स्वागत किया जायगा।

तर्कके लिए यह कहा जा सकता है कि एक समय ऐसा भी आ सकता है जब इन छोटे कारखानदारोंमें कोई ऐसा होशियार पैदा हो सकता है और अपना काम इतना बढ़ा सकता है कि उस तरहके काम करनेवालोंको पछाड़कर उस रोजगारपर अपना एकाधिपत्य कायम कर सकता है। तब तो हमारे सामने एक बार पुनः वही बड़े पैमानेपर उत्पादनकी समस्या उठ खड़ी होगी। केन्द्रित व्यवसाय-प्रधान पश्चिममें वास्तवमें ऐसा ही हुआ है। इसे हमलोग किस तरह रोक सकेंगे? इसे रोकनेका एकमात्र साधन उसके निजी स्वार्थको समाज और देशके व्यापक स्वार्थके सामने सीमित कर देना होगा। स्वदेशीके सिद्धान्तका प्रचार कर हम इस काममें सफलता प्राप्त कर सकेंगे।

(ख) उपभोगमें स्वदेशी

बिना किसी परिमाणके माल तैयार करनेको रोकने, दूसरोंपर उसे लादने, आर्थिक समताको डावाँडोल करने तथा जनतामें बेकारी उत्पन्न करनेको रोकनेका एकमात्र उपाय यही है कि लोगोंमें स्वदेशीकी भावना जागृत की जाय अर्थात् उन्हें यह बतलाया जाय कि किसी दूर स्थान या देशसे आये मालको खरीदनेकी अपेक्षा उनका यह परम कर्तव्य है कि वे अपने आसपासमें ही तैयार माल खरीदें। इससे यह तात्पर्य निकला कि

आर्थिक पुनः सङ्गठनमें एक गाँव या दो चार गाँवोंको मिलाकर उनकी इकाईको सभी प्रारम्भिक आवश्यकताओंके लिए आत्म-निर्भर बनाना होगा ताकि उस गाँव या उन गाँवोंमें बसनेवालोंकी सभी प्रधान आवश्यकताएँ वहींसे पूरी हो जायँ। इस तरह प्रत्येक इकाई बाहरसे आये मालको काममें न लाकर अपने यहाँ तैयार मालको ही काममें लायेगी। ऐसी अवस्थामें यदि कोई व्यक्ति स्थानीय आवश्यकतासे अधिक माल तैयार कर उसे बाहर भेजनेका प्रयास करे तो उसे विदित होगा कि उसके इस मालको खरीदनेवाला कोई नहीं है। इस उपायसे वह बड़ा उत्पादक बननेसे आप-ही-आप रुक जायगा। यदि बाहर तैयार माल स्थानीय तैयार मालसे अधिक आकर्षक और भड़कदार है तो भी विदेशी मालको स्थानीय बाजारमें स्थान नहीं दिया जायगा बल्कि स्थानीय उत्पादकोंको प्रेरित किया जायगा कि वे भी उसी तरहका आकर्षक माल तैयार करें। इस तरह उपभोक्ता लोग अपनी आवश्यकताको स्थानीय मालपर ही सीमित रखेंगे और उसे प्रोत्साहन देंगे।

इस तरहके स्वदेशीका अर्थ सङ्कीर्ण साम्प्रदायिकता नहीं है जो अपने सम्प्रदायके सही और गलत सभी कामोंका समर्थन करता है और अन्य दलोंके साथ प्रतिद्वन्द्विता करने लगता है। यदि इस तरहकी किसी सङ्कीर्ण भावनाका उदय हुआ तो वह राष्ट्रमें विशृंखलता पैदा कर देगी। इस खतरेको हर तरहसे दूर करना होगा। हमलोगोंको अनेक तरहके वर्तमान विरोधी तत्वोंसे लड़ना है। इसलिए एक और विरोधी तत्वको जन्म देना बुद्धि-

मानी नहीं होगी। इस युगमें जब कि रेडियो, हवाई जहाज, टेली-

फोन आदि साधनोंने लोगोंको एक दूसरेके अति निकट ला दिया है, और संसारसे दूरीका प्रश्न ही उठ गया है, तब हमलोगोंके लिए यह मूर्खताके सिवा और क्या होगा कि हम अपनेको तथा सारे संसारको टुकड़ोंमें बाँटना चाहें और उसे इस तरह जकड़ देना चाहें कि उसपर किसी तरहका बाहरी प्रभाव न पड़ सके। सच्चे स्वदेशीका यह अभिप्राय कदापि नहीं है। :सच्चा स्वदेशी जिस नीतिका प्रवर्तक है उसका निर्देश इस कहावतमें निहित है कि, 'सदाव्रत घरसे ही शुरू होता है' अथवा 'घरमें चिराग जलाकर तब मस्जिदमें चिराग जलाया जाता है।' अपने निकट पड़ोसीके प्रति हमारा पहला कर्तव्य है। और तब उसके बाद इसका दायरा बढ़ता है और सारे संसारमें फैलता है। उदाहरणके लिए परिवारको ही ले लीजिये। किसी भी व्यक्तिके लिए परिवारका आकर्षण अन्यकी अपेक्षा सबसे अधिक होगा। अन्य लोगोंकी अपेक्षा उसीका यह प्राथमिक कर्तव्य है कि वह अपने परिवारके लोगोंका भरण-पोषण करे। अपने इस कर्तव्यका पालन कर वह समाज तथा मानव जातिके प्रति अपने कर्तव्यका पालन कर रहा है। परिवारका यह दायरा वहींतक सीमित नहीं है बल्कि दूसरोंसे यह सम्बन्धित है। पारिवारिक दायरा तथा मानव समाजके दायरेमें परस्पर विरोध नहीं है। पारिवारिक दायरेके भीतर ही अपनेको रखकर हम मानव समाजकी भी सेवा करते हैं। इसलिए स्वदेशीका तात्पर्य यही है कि हम अपने कर्तव्यका पालन उन लोगोंके प्रति सबसे पहले करते हैं जो हमारे निकट-तम हैं। अन्य लोगोंकी अपेक्षा हमारी जिम्मेदारी उनके प्रति

बहुत ज्यादा है, इसलिए हमारा कर्तव्य भी उनके प्रति बहुत अधिक है। लेकिन इसका अभिप्राय यह नहीं है कि हम अपने-को उन्हींमें सीमित रखें और अन्य किसीके प्रति अपना कोई कर्तव्य न समझें। यहीं पर 'घरमें चिराग जलाकर तब मस्जिदमें चिराग जलाया जाता है', वाली कहावत हमारा पथ-प्रदर्शन करती है। घरमें चिराग जला देनेसे ही हमारे कर्तव्यकी इतिश्री नहीं हो जाती। उसके बाद हमें मस्जिदमें भी चिराग जलाना है और उसके लिए भी हमें यत्न करना चाहिए। पारिवारिक सम्बन्धके साथ-ही-साथ समाजके प्रति भी व्यक्तिका कर्तव्य है। इसलिए समाजको क्षति पहुँचाकर व्यक्तिको अपने परि-वारके प्रति अपने कर्तव्यका पालन करना कदापि उचित नहीं कहा जा सकता। जिस तरह परिवारके प्रति उसका कर्तव्य पवित्र है उसी तरह यहाँ स्वदेशीका भी तात्पर्य है। जिस तरह हम पारिवारिक बन्धनकी निन्दा यह कहकर नहीं कर सकते कि इससे व्यक्ति गरोह या समाजके स्वार्थको गौण स्थान देगा, उसी तरह उपरोक्त अर्थमें हम स्वदेशीकी भी निन्दा नहीं कर सकते। लेकिन सीमाके बाहर जानेपर कोई भी गुण अवगुण हो जाता है, परन्तु केवल इसके कारण स्वतः गुणकी निन्दा नहीं की जा सकती।

स्वदेशी भारतीय अवस्थाके अनुकूल—हमारे देशकी अवस्था उपभोगमें स्वदेशीके इस सिद्धान्तके प्रचारके अनुकूल है। क्योंकि आर्थिक-क्षेत्रमें स्वदेशीका प्रचार हिन्दू-धर्मके तत्त्वका प्रकटीकरण है। हिन्दू धर्म केवल उन्हीं लोगोंको अपने दायरेके

भीतर मानता है जो हिन्दू-परिवारमें उत्पन्न हैं। जो लोग अन्य धर्ममें उत्पन्न हैं उन्हें वह अपने धर्मके अनुसरणकी स्वतन्त्रता प्रदान करता है। आवश्यकतानुसार वे अपने धर्मका सुधार करें, न कि अन्य धर्मोंकी तरफ दौड़ते रहें। इसलिए हिन्दू-धर्मावलम्बियोंके रास्तेमें इस आदर्शके पालनमें किसी तरहकी कठिनाई या बाधा नहीं उपस्थित हो सकती। क्योंकि धार्मिक विश्वासके कारण यह उनकी स्वाभाविक प्रकृतिका एक अंग बन जाता है। इसके अलावा जैसा हम पीछे दिखला आये हैं, संयुक्त परिवार, जाति तथा ग्राम सङ्गठन आदि सामाजिक सङ्गठनोंके कारण गरोह प्रेम और गरोह नियन्त्रणका यह आदी भी है जो स्वदेशीकी भावनाके आधार हैं। पश्चिमकी अपेक्षा हमारे देशमें पारिवारिक बन्धनकी मात्रा कहीं ज्यादा है। क्योंकि व्यावसायिक विकासके फलस्वरूप पश्चिममें पारिवारिक बन्धन टूटता चला जा रहा है और निजत्वकी भावना व्यापक होती जा रही है। पारिवारिक जीवनका ममत्व स्वदेशीके सिद्धान्तका दूसरा रूप है इसलिए हमारे देशके लोग इसे बहुत आसानीसे समझ और अपना सकेंगे।

स्वदेशीका प्रचार कैसे किया जाय—उपभोक्ताका यह समझाने-की बहुत ज्यादा आवश्यकता नहीं पड़ेगी कि उसे अपने सबसे निकटतम पड़ोसीद्वारा उत्पादित मालका ही उपभोग करना चाहिए। स्वयं उत्पादक होनेके कारण वह इसकी उपयोगिताको सहजमें समझ जायगा। यदि वह यह चाहता है कि उसके तैयार किये हुए मालकी खपत उसके पड़ोसी करें तो साथ ही उसे यह भी समझना होगा कि जबतक वह अपने पड़ोसीके मालका उप-भोग नहीं करेगा, उनके पास उसके मालके खरीदनेके लिए साधन

नहीं तैयार हो सकता। इसलिए यह बात बहुत आसानीसे उसकी समझमें आ जायगी कि यदि वह यह चाहता है कि उसका माल उसके पड़ोसी खरीदें तो बदलेमें वह भी अपने पड़ोसीका माल खरीदे। इस पारस्परिक लाभके लिए किसी बड़े आदमीको खड़ा करनेकी आवश्यकता नहीं है। इसी आदर्शको व्यवहार-में लानेके लिए केवल शिक्षाकी जरूरत है जिसके द्वारा लोग स्वदेशीके वास्तविक तात्पर्यको समझ सकें और यह देख लें कि स्वदेशीके व्यवहारसे उन्हें तथा उनके पड़ोसी दोनोंको समान लाभ है और वे स्वदेशीका प्रयोग करने लगें। इसके प्रयोयके लिए निम्न लिखित उपाय भी काममें लाये जा सकते हैं:—(क) पञ्चायतोंद्वारा, इस तरहका कानून बनावें कि गाँवके लोग स्थानीय मालका ही प्रयोग करेंगे (ख) बाहरके मालपर कड़ी चुङ्गी बैठाकर (ग) अपनी सीमाके भीतर कल-कारखानोंकी स्थापना रोककर (घ) जो लोग समाजकी बातोंकी अवहेलना करके बाहर-के मालका उपयोग करते पाये जायँ उन्हें विद्रोही करार देकर उनका सामाजिक बहिष्कार करके।

३—ग्रामीण अर्थ-शास्त्रका प्रयोग

ग्रामीण अर्थ-शास्त्र या ग्रामोद्योगको भली-भाँति समझनेके लिए हमें निम्नलिखित बातोंपर अधिक ध्यान देना होगा—(क) आर्थिक रूप। (ख) राजनीतिक रूप। (ग) सांस्कृतिक रूप। विशेष रूपसे हमें यह देखना है कि इन तीनों सिद्धान्तोंके आधारपर वर्त्तमान अवस्थामें हम ग्रामोद्योगको किस तरह चालू कर सकते हैं।

(क) आर्थिक रूप—

१—ग्रामोद्योगका प्रयोग

उत्पादनको विकेन्द्रित कर देनेपर जब उत्पादनका काम व्यक्तिके हाथमें आ जायगा और जब वह केवल अपने पड़ोसी-की आवश्यकताको पूरा करनेके ही लिए उत्पादन करने लगेगा तो आर्थिक प्रणालीके समस्त आधारमें उलट-फेर हो जायगा।

(१) ग्राम-संगठन—अन्तिम आर्थिक इकाई एक गाँवका या कई गाँवोंका गरोह होगा। गाँवकी सारी भूमिपर सबका समान अधिकार होगा और खेतीके लिए केवल उन्हीं लोगोंको जमीन दी जायगी जो भली प्रकार उसे जोत-बो सकेंगे। आज-कलकी भाँति जबतक भूमिपर वैयक्तिक अधिकार कायम रहेगा, तबतक खेतके मालिकोंको यह समझाना पड़ेगा कि उन्हें अपने खेतोंको सार्वजनिक ट्रस्टके रूपमें समझना चाहिए और उन्हें उसका प्रबन्ध गाँवके कल्याणकी दृष्टिसे करना चाहिए। उन्हें केवल उतनी जमीन लेनी चाहिए जितनी उनके लिए आवश्यक हो अथवा वर्त्तमान समयमें कम-से-कम खेतका बारह गुना। सम्भव है इसे लागू करनेके लिए आरम्भमें राजको हस्तक्षेप करना पड़े। लेकिन धीरे-धीरे जब जनताके मनमें इस तरहका परिवर्त्तन हो जायगा तब बड़े-से-बड़े जमींदारको भी जनताके सङ्गठित विचारोंकी अवहेलनाका साहस नहीं होगा क्योंकि उस तरहके सहकारी अर्थशास्त्रमें, आजकलकी भाँति व्यक्ति अपने समाजके लाभका ख्याल छोड़कर केवल अपने स्वार्थ-साधनके काममें नहीं लगा रहेगा। इसके प्रतिकूल, गाँवमें उसका जीवन

समाजके अधीन होगा, इसलिए उसकी भूमिको सार्वजनिक ट्रस्टके अन्दर लानेमें बहुत बड़ी कठिनाईका सामना नहीं करना पड़ेगा। इस तरह गाँवके सहयोग-सङ्गठनमें उसे यह बतला दिया जायगा कि उसे कितना खेत जोतना होगा, पैदावारका कितना भाग उसे अपने काममें लाना होगा, खेतमें काम करनेवाले मजूरोंको कितनी मजूरी देनी होगी, और कितना उसे गाँवके अन्य व्यक्तियोंकी आवश्यकताके लिए देना होगा तथा कितना राजको देना होगा। ऐसा हो जानेपर, जमीनका प्रयोग इस तरह होगा मानो वह गाँवकी सम्पत्ति है, भूमिपति उसका प्रबन्ध इस प्रकार करेगा मानो वह गाँवकी इच्छाका पालन कर रहा है, अर्थात् वह ट्रस्टीके रूपमें काम करेगा। वर्त्तमान वैयक्तिक अर्थशास्त्रमें ट्रस्टीशिपका जो भाव है वही उस वक्त नहीं रह जायगा। वर्त्तमानकालमें जिस तरह ट्रस्टीलोग अपनी इच्छाके अनुसार कोई काम न करके ट्रस्टके विधानके अनुसार ही ट्रस्टको चलाते हैं उसी प्रकार ग्रामोद्योगमें जमीनके मालिकोंका अपनी जमीनपर तबतक अधिकार कायम रहने दिया जायगा जबतक वे जमीनका उपयोग समाजके कल्याणके लिए करते हैं। पूँजीवादके अध्यायमें पूँजीवादी व्यवस्थाकी समीक्षा करते हुए हमने यह दिखलाया है कि पूँजीवादी व्यवस्था पूर्णरूपसे वैयक्तिक होते हुए भी धीरे-धीरे सामाजिक नियन्त्रणकी ओर अग्रसर हो रही है। हम यह प्रत्यक्ष देख रहे हैं कि जबतक नियन्त्रण या मालकाना हक समाजके हाथमें है तबतक उसे छीननेका यत्न करना उपयोगी नहीं प्रतीत होता। चूँकि हम यह भी देख रहे हैं कि बिना रक्तपातके पूँजीवादमें भी वह अधिकार

समाजके हाथमें जा रहा है इसलिए सहयोग-सङ्गठित ग्रामोद्योग-में उसे समाजके हाथमें देनेमें किसी तरहकी कठिनाई नहीं उपस्थित होगी। ग्रामोद्योगका सारा ढाँचा सहकारिताके आधार-पर होगा, इसलिए भूपिपति स्वतः अपनी इच्छासे भूमिको समाजके नियन्त्रणमें दे देगा। इस तरह भूमिपर जो अवतक वैयक्तिक प्रभुत्व चला आ रहा है और जो समाजके लिए अ-हितकर सिद्ध हो रहा है उसे अहिंसात्मक ढंगसे हल कर लिया जायगा। वलपूर्वक भूमिपतिको जमीनसे निकालकर बाहर कर उसकी जमीनको जव्त कर लेनेकी अपेक्षा यह तरीका कहीं सुगम होगा क्योंकि उस तरह भूमि-पति समाजका दुश्मन हो जाता है। इसके साथ-ही-साथ भूमिके प्रवन्धमें ट्रस्टीके रूपमें उसका हाथ रहनेके कारण, उसकी मर्यादा अक्षुण्ण वनी रहती है और वह सदा मित्रकी भाँति अपनी वुद्धिका प्रयोग गाँवके कल्याणके लिए करता रहेगा।

ऊपर जो लिखा गया है वह केवल संक्रान्ति कालके लिए अस्थायी व्यवस्था है क्योंकि अनन्तोगत्वा भूमिपरसे वैयक्तिक अधिकारका लोप अनिवार्य है। भूमिके मालिकोंको उचित मावजा देकर यह काम सम्पन्न किया जा सकता है। इसके लिए यह भी आवश्यक होगा कि उनके अधिकारोंकी जाँच कर यह देख लिया जाय कि भूमिपर उनका मालिकाना हक जायज है, जालसाजी या धोखा देकर उन्होंने यह अधिकार नहीं प्राप्त किया है। जब युद्धोंके लिए प्रत्येक राष्ट्र करोड़ों रुपये पानीकी तरह वहानेके लिए तैयार है तब कोई कारण नहीं दिखायी देता कि किसानोंको कृषक गुलामीसे मुक्त करानेके लिए कुछ करोड़ रुपये

खर्चकर खेतोंको जमींदारोंसे छुड़ा न लिया जाय। कड़ा उत्तराधिकारत्व या मृत-कर लगाकर भी धीरे-धीरे खेतोंका राष्ट्रीयकरण हो सकता है।

गाँवमें एक ही पेशेके सभी लोग एक इकाई माने जायँगे। अपनी आवश्यकताकी पूर्तिके लिए गाँवके लोग इस गरोहसे लेन-देन करेंगे, किसी व्यक्ति-विशेषसे नहीं। इसका फल यह होगा कि आजकलकी तरह एक ही पेशा करनेवाले आपसमें चढ़ा ऊपरी नहीं करेंगे, बल्कि उत्पादनमें एक दूसरेकी सहायता करेंगे। बुद्धिमान और दक्ष उत्पादकोंका सहयोग पाकर अन्य उत्पादक भी चतुर कारीगर और दक्ष बन जायँगे तथा गला काटनेवाले चढ़ाऊपरीके कारण कमजोर उत्पादक क्षेत्रसे भागनेके लिए मजबूर नहीं होगा। प्रत्येक उत्पादकदलकी आमदनी उसके उत्पादनके आधारपर होगी इससे दलके सभी लोग अधिक-से-अधिक उत्पन्न करनेका प्रयत्न करेंगे और अपनी पूरी योग्यताका प्रयोग करेंगे। इससे उत्पादनको प्रोत्साहन मिलेगा। दलकी कुल आमदनी दलके सदस्योंमें बराबर-बराबर बाँट दी जायगी, बशर्ते कि दलका प्रत्येक सदस्य ईमानदारीसे काम करेगा। यही एक व्यवस्था है जिसके अनुसार दुर्बल और अयोग्यकी रक्षा हो सकेगी और जो जन्मसे ही अयोग्य हैं उन्हें आजकी भाँति कष्ट नहीं उठाना पड़ेगा। यह तो मानना ही होगा कि जो जन्मजात अयोग्य हैं वे अपनी अयोग्यताको किसी भी प्रकार दूर नहीं कर सकते और इसके लिए वे स्वयं जिम्मेदार भी नहीं हैं।

आरम्भमें गाँवमें व्यवसायका बँटवारा पुश्तैनी पेशेके अनुसार हो सकता है क्योंकि अपने पुश्तैनी पेशेके कामसे सभी

परिचित होंगे और उसे वे आसानीसे स्वाभाविक ढंगसे चला सकेंगे। इसके लिए सिर्फ एक काम करना आवश्यक होगा। पेशेमें ऊँच नीचका भेदभाव मिटा देना होगा। सर्वसाधारण उपासना, शिक्षा, जलाशय, भोज, आमोद-प्रमोद तथा ग्राम-शासन आदि द्वारा गाँवके प्रत्येक व्यक्तिमें समानताका भाव इस तरह भर देना होगा कि ऊँच नीचका भेदभाव उनके बीच न रह जाय। जबतक सभी पेशे समान रूपसे मर्यादित समझे जाते रहेंगे तबतक कोई भी व्यक्ति एक पेशा छोड़कर दूसरेमें नहीं जाना चाहेगा। उदाहरणके लिए मोचीका पेशा करनेवाला अतिशय बुद्धिमान व्यक्ति भी उसे छोड़कर अध्यापक बननेके लिए उत्सुक नहीं होगा क्योंकि वह समझता है कि उसके पेशेमें ही उसकी बुद्धिकी पर्याप्त आवश्यकता और कद्र है। वर्तमान युगमें ही व्यवसायमें इस तरहकी विशेषता आ गयी है और व्यवसायने ऐसा रूप धारण कर लिया है कि व्यक्तिके श्रम और बुद्धि दोनोंका उपयोग साथ-साथ नहीं होता। इसका परिणाम यह है कि एक मजूरका सारा जीवन कड़े परिश्रममें ही बीत जाता है और उसे अपनी बुद्धिके प्रयोगका लेशमात्र भी अवसर नहीं मिलता। यह किसी भी प्रकार उचित नहीं कहा जा सकता कि कुछ व्यक्ति शारीरिक श्रम करें और कुछ व्यक्ति केवल मस्तिष्कसे ही काम लें। यह अवस्था दोनोंमेंसे एकके लिए भी वाञ्छनीय नहीं है क्योंकि एक तो हाथ-पैर हिलानेका पुतला बन जाता है और दूसरा किताबी कीड़ा। दोमेंसे एकका भी पूर्ण विकास नहीं होने पाता। यदि ऐसा न होकर हर तरहका काम दोनों तरहके लोगोंमें बराबर-बराबर बाँट लिया जाय तो उनमें जो बुद्धिमान है वह अपने

सहयोगसे उस काममें लगे अन्य लोगोंकी बुद्धिका भी विकास कर देगा, जैसा पीछे लिखा जा चुका है। ग्रामोद्योगोंके इस तरह गिरी दशामें पड़ जानेका एक प्रधान कारण यह भी है कि वर्तमान चढ़ा ऊपरीके कारण वे लोग देहातोंका काम छोड़कर चले गये जो सफल और दक्ष थे तथा ग्रामोद्योगका काम उनलोगोंके ही हाथमें रह गया जिन्हें बुद्धि नहीं थी, केवल शारीरिक श्रम कर सकते थे।

पुश्तैनी पेशेके अनुसार व्यवसायको चलानेकी व्यवस्थाका परिणाम यह भी होगा कि बहुत लोग चढ़ा-ऊपरी करनेके लिए उस पेशेमें प्रवेश नहीं पा सकेंगे। इससे प्रतिस्पर्धाके कारण किसी भी व्यवसायमें विशृङ्खलता नहीं उत्पन्न होने पायेगी। इससे एक बातकी और भी सम्भावना प्रतीत होती है, लेकिन उस सम्बन्धमें अभी निश्चय रूपसे कुछ नहीं कहा जा सकता। वह यह है कि पुश्तैनी पेशेके हिसाबसे व्यवसायके बँटवारेका यह भी फल हो सकता है कि भावी सन्तानकी स्वाभाविक प्रवृत्ति उस पेशेकी तरफ हो। इससे उनकी योग्यता दिन-दिन बढ़ती जायगी। लेकिन पेशेके इस तरह बँटवारेके नियमका पालन बहुत कड़ाईके साथ नहीं होना चाहिए। यदि उससे लाभके बदले हानि ज्यादा होती दिखायी दे तो उसका तुरत परित्याग कर देना चाहिए। ऐसे लोग जिनका झुकाव विज्ञान, साहित्य, कला तथा इस तरहके अन्य ज्ञान अथवा गाँवके किसी व्यवसाय-विशेषकी ओर हो, तो उनके साथ विशिष्ट व्यवहार होना चाहिए और उन्हें अपनी योग्यता तथा रुचिके अनुसार उसीमें विशेषता प्राप्त करनेका अवसर दिया जाना चाहिए और उन्हें उन्हीं कामोंमें लगाना चाहिए जिनकी ओर उनका झुकाव हो।

लेकिन साधारण तौरसे सम्प्रति लोगोंको पुश्तैनी पेशेके अनुसार ही काममें लगाना चाहिए। किन्तु इसके माने यह नहीं है कि इसमें किसी तरहका विकल्प नहीं होना चाहिए और इसका प्रयोग स्थिर सिद्धान्त मानकर किया जाना चाहिए। भंगी आदि-के छोटे पेशोंको जहाँतक सम्भव हो, गाँवसे उठा देना चाहिए और शौचादिके लिए गड्ढे आदिसे काम लेना चाहिए जिसका प्रबन्ध प्रत्येक परिवारके लोग आप-ही-आप कर लिया करेंगे।

पूँजीवादकी भाँति इस आर्थिक व्यवस्थामें भी व्यक्ति तथा वह दल जिसके अन्तर्गत वह होंगे, दोनोंको अपने ही साधनोंपर निर्भर करना पड़ेगा और अपनी समस्याको यथा-साध्य आप-ही-आप हल करना पड़ेगा, तो भी उनके लोभका इस उपायसे नियन्त्रण होता रहेगा कि उत्पादनके औजार छोटे रहेंगे और उनका बाजार सीमित होगा। वे अपने पड़ोसमें ही अपना माल बेच सकेंगे। इसलिए उनके लिए बहुत अधिक माल तैयार करना असम्भव और व्यर्थ होगा, जिससे दूसरोंको बेकार हो जानेकी आशङ्का हो। समाजवादकी तरह उत्पादनका उद्देश्य नफा कमाना नहीं रहेगा जिसके कारण पूँजीवादी प्रथामें अनेक तरहके दोष घुस आये हैं, बल्कि उत्पादनका उद्देश्य प्रयोग होगा अर्थात् उत्पादन लोगोंकी प्रारम्भिक आव-श्यकताकी पूर्तिको सामने रखकर किया जायगा। वर्तमान युग-की भाँति अनावश्यक चीजें—जैसे, बेमतलबके पोषक पदार्थ (टानिक) सुन्दर और आकर्षक विलासिताके सामान तथा हानिकर नशीली चीजें, दवाएँ और शस्त्रास्त्रके उत्पादनमें समय और शक्तिका दुरुपयोग नहीं किया जायगा। वर्तमान युगमें

उत्पादकोंके सामने सबसे बड़ी समस्या मालकी खपतकी रहती है। ग्रामोद्योगमें यह समस्या अति सहजमें हल हो जायगी। ग्रामोद्योग-व्यवस्थामें प्रत्येक उत्पादकके लिए अपने पड़ोसका बाजार सुरक्षित रहेगा। वर्तमान युगकी भाँति दलालों और पोद्दारोंकी आवश्यकता नहीं रह जायगी जो आजकल सीधे-सादे देहातियोंको ठगकर बहुत अधिक नफा अपने लिए कमा लेते हैं और मालका दाम बहुत ज्यादा बढ़ा देते हैं। व्यावसायिक आदान-प्रदान आप-से-आप चलेगा और उसका प्रयोग प्रत्येकके लाभके लिए होगा। एक तरहका माल एक क्षेत्रमें पैदा होगा और दूसरे तरहका माल दूसरे क्षेत्रमें तैयार होगा। वह क्षेत्र इसका माल खरीदेगा और यह उसका। उसके उत्पादनपर असर डालनेवाले कारणोंकी गाँववालोंको जानकारी रहेगी। उसकी हालत वर्तमान युगकी भाँति नहीं रहेगी क्योंकि वर्तमान युगमें उत्पादनपर अन्तर्राष्ट्रीय कारणोंका प्रभाव पड़ता है। एक देहातीको न तो उसका कोई ज्ञान रहता है और न उन कारणोंका वह नियन्त्रण या निराकरण कर सकता है। लेकिन उनका असर उसके जीवनपर पड़ता है और उसके फलस्वरूप वह धनी भी हो सकता है और निर्धन होकर बर्बाद भी हो सकता है। इस तरह गाँवका आर्थिक सन्तुलन बराबर कायम रहेगा। प्रत्येक गाँवकी दृष्टिमें उपभोक्ताओंकी आवश्यकता रहेगी और उसीके अनुसार वह अपने उत्पादनकी व्यवस्था करेगा। उत्पादन हमेशा आवश्यकताके अनुसार होता रहेगा। वर्तमान युगकी भाँति माँगपर ध्यान न देकर बेशुमार उत्पादन नहीं किया जायगा। इसलिए आर्थिक सङ्कट और अस्थिरता उत्पन्न होनेकी

लेशमात्र भी आशङ्का नहीं रहेगी। किसी एक व्यक्तिके हाथमें सम्पत्तिका सञ्चय भी नहीं हो सकेगा क्योंकि अनेक व्यक्तियोंके उत्पादनमें लगे रहनेके कारण स्वभावतः नफेकी रकम उन लोगोंके बीच बँटती जायगी। इसके लिए यह परम आवश्यक है कि उत्पादन और उपभोगका अन्योन्याश्रय सम्बन्ध बना रहे। उसी अवस्थामें राजके हस्तक्षेप बिना ही वे स्वतन्त्र रूपसे चलते रह सकते हैं। चाहे जो भी आर्थिक व्यवस्था हो उसे इसी तरह स्वाभाविक रीतिसे स्वच्छन्द गतिसे चलना चाहिए। वर्तमान पूँजीवादी युगमें जैसा हो रहा है, सङ्घर्ष रोकनेके लिए राजको हस्तक्षेप करनेकी आवश्यकता नहीं पड़नी चाहिए। क्योंकि सङ्घर्षसे काममें बाधा उपस्थित होती है, लोगोंको क्षति उठानी पड़ती है और बहुत अधिक हानि भी होती है। ग्रामो-द्योग आर्थिक व्यवस्थामें सम्पत्तिका बँटवारा समानरूप-से होगा, लोगोंमें बहुत ज्यादा अविषम असमानता नहीं होगी, इसलिए लोगोंको कामसे हाथ धोकर निराश्रय होनेका भय नहीं रहेगा, जैसा कि वर्त्तमान युगमें है। प्रत्येक मजूरको कामसे हाथ धोकर निराश्रय होनेका भय बना रहता है और इसलिए उनका जीवन असह्य हो जाता है। ग्रामोद्योग व्यवस्थामें गाँवके प्रत्येक प्राणीके लिए निर्धारित काम रहेगा, जिसे वह समाजके लिए सम्पन्न करेगा। बेकारीसे मुक्ति तथा आवश्यकताकी पूर्ति-की ओरसे निश्चिन्तता, ये दो सबसे बड़े वरदान हैं जो ग्रामो-द्योग गाँवके उत्पादकोंको प्रदान करेगा। इसके साथ-ही-साथ आलसी आदमीको कामसे छुटकारा भी नहीं मिल सकेगा क्योंकि जिस दलमें वह शामिल रहेगा, वह दल बराबर इस

बातकी देख-रेख करता रहेगा कि दलका काम करने लायक प्रत्येक व्यक्ति अपने हिस्सेका काम मन लगाकर पूरा करता है, क्योंकि यदि वह कामसे जी चुराता है तो इसका असर केवल उसीपर नहीं पड़ता है बल्कि अन्य लोगोंपर भी उसका असर पड़ता है, क्योंकि एकके काम न करनेसे सबकी आमदनीमें टोटा पड़ेगा। गाँवके व्यवसायी दलका प्रत्येक व्यक्ति एक-दूसरेपर निर्भर करेगा ; क्योंकि प्रत्येकके कामका असर अन्य दूसरोंपर पड़ेगा। इसलिए उन लोगोने सहयोगकी भावनाका उदय होगा और एक दूसरेपर निर्भर रहना सीखेंगे। गाँवके दलका दायरा छोटा होनेके कारण दलका प्रत्येक व्यक्ति यह देख और समझ सकेगा कि उसके श्रमसे उसे तथा दलके अन्य लोगोंको कैसा लाभ हो रहा है क्योंकि इससे उसकी तथा गाँवके अन्य लोगों-की समृद्धि सदा बढ़ती रहेगी। सबके लाभको इस तरह देखते रहनेके कारण उसे प्रोत्साहन मिलेगा कि वह अपनी समस्त योग्यताको काममें लगा दे। दैनिक-जीवनमें निकट सम्पर्क होनेके कारण तथा आर्थिक जीवनमें एक-दूसरेपर निर्भर रहनेके कारण गाँवकी प्रत्येक इकाईके लोगोंके बीच भ्रातृ-भाव और परस्पर प्रेम उदय होगा। इसलिए समान लाभकी भावना केवल सदाशयताके लिए प्रेरणा नहीं देगी बल्कि वह आर्थिक सङ्ग-ठनका दृढ़ आधार बन जायगी, लोभ और स्वार्थकी भावनाको दबाकर वह समाजकी सच्ची सेवाकी ओर व्यक्तिको प्रेरित करेगी। इस दृष्टिकोणसे ग्रामोद्योगको हम समवायं सङ्गठित अर्थ-शास्त्र कह सकते हैं जो पूँजीवादके वैयक्तिक और प्रतिस्पर्धा-युक्त अर्थ-शास्त्रसे एकदम भिन्न है।

ग्रामोद्योग आर्थिक व्यवस्थाका जिस तरह प्रयोग होगा उससे हम यह भली-भाँति समझ सकते हैं कि जिस वर्त्तमान आर्थिक व्यवस्थासे हमलोग गुजर रहे हैं उससे यह कितना भिन्न होगा। यहाँतक तो हमने ग्रामोद्योग-आर्थिक-व्यवस्थाका साधारण चित्रण किया है। इसके बाद हम उसका सविस्तर वर्णन करना चाहते हैं—

कृषि और व्यवसाय—सहयोग आर्थिक व्यवस्थामें जहाँतक सम्भव होगा गाँवकी भोजन-सम्बन्धी तथा कच्चे मालकी सभी आवश्यकीय सामग्री गाँवमें ही पैदा की जायगी। उदाहरणके लिए हम यह मान लेवे हैं कि किसी गाँवका मुख्य भोजन पदार्थ चावल है और कपड़ेके लिए कच्चा माल कपास है। उस गाँवकी मिट्टी इन वस्तुओंके उत्पादनके पूर्णतया योग्य हो या न हो, उसमें चावल, दाल, तरकारी, फल, तेलहन तथा कपास उपजानेकी ऐसी व्यवस्था की जायगी कि कमसे कम सालभरका सामान आवश्यकताके लिए अलग रख दिया जा सके। जहाँकी मिट्टी इन वस्तुओंके उत्पादनके लिए अनुकूल नहीं होगी उसे वैज्ञानिक उपायोंसे अनुकूल बनाया जायगा। वर्तमान युगमें जब विज्ञानकी सहायतासे ऐसी भूमि भी खेतीके योग्य बनायी जा रही है जहाँ कुछ पैदा नहीं हो सकता, तब विज्ञानकी सहायतासे प्रत्येक गाँवकी भूमिको इस योग्य बनाया जा सकता है कि उसमें आवश्यकताकी प्रत्येक वस्तु पैदा की जा सकती है। जहाँ यह सम्भव नहीं होगा वह एक गाँव दूसरे गाँवको वह वस्तु देगा जिसे वह पैदा करता है तथा दूसरे गाँवसे वह वस्तु लेगा जो वह पैदा नहीं कर सकता है—यह पीछे दिखलाया जा चुका है। लेकिन इस

बातपर सदा ध्यान रखना होगा कि इस तरहका आदान-प्रदान आवश्यक वस्तुओंका नहीं होगा क्योंकि यदि किसी अनिवार्य कारणसे यातायातमें कठिनाई उपस्थित हो गयी तो गाँववालोंको कठोर विपत्तिका सामना करना पड़ेगा—जैसा कि अभी हालमें बर्मासे चावल न आ सकनेके कारण बङ्गाल और मलाबारको घोर अकालके गालमें पड़ना पड़ा था।

इस अवस्थाके मुकाबलेमें उस अवस्थाका अध्ययन कीजिये जो चढ़ा-ऊपरीकी आर्थिक व्यवस्थामें हो रहा है। गाँववालोंकी आवश्यकताकी ओर ध्यानतक नहीं दिया जाता। जमीनमें अच्छीसे अच्छी जो फसल उपजायी जा सकती है वह बहुत बड़े पैमानेपर व्यवसायकी दृष्टिसे उपजायी जाती है; जैसे, पाट, सुरती, कपास, मूँगफली, ऊख इत्यादि। ये बेच दिये जाते हैं या विदेश भेज दिये जाते हैं और इनकी बिक्रीसे जो रकम मिलती है उससे गाँवोंकी जरूरतकी चीजें बाहरसे खरीदकर भेजी जाती हैं। हमें देखना यह है कि इसका व्यावहारिक प्रयोग किस प्रकार होता है। व्यवसायकी वस्तुओंका मूल्य अन्तर्राष्ट्रीय बाजारमें निर्धारित किया जाता है। उत्पादित वस्तुओंका मूल्य निर्धारित करनेके लिए उत्पादनका व्यय तथा किसानके परिवारके व्ययको आधार बनाना चाहिए। लेकिन चढ़ा-ऊपरीकी आर्थिक व्यवस्थामें इन बातोंपर विचारतक नहीं किया जाता; बल्कि उनका वही मूल्य स्थिर किया जाता है जिस मूल्यपर अमेरिका, कनाडा, अर्जेण्टाइन तथा आस्ट्रेलियामें उत्पन्न ये चीजें मिलती हैं। लेकिन इन देशोंको उत्पादनकी अनेक तरहकी सुविधाएँ प्राप्त हैं। आधुनिक ढंगके वैज्ञानिक औजारोंका प्रयोग वहाँ

होता है, इफरात परती जमीन उन्हें प्राप्त है, सिंचाईकी हर तरहकी उन्हें सुविधा है; लेकिन भारतके किसानोंकी क्या हालत है ? वही पुराने जमानेके औजारोंसे इन्हें काम लेना पड़ता है। इनके पास पर्याप्त जमीन नहीं है। जो जमीन है भी वह छोटे-छोटे टुकड़ोंमें बँटी है, सदियोंसे जोतमें रहनेके कारण उसकी उर्वरा शक्ति क्षीण हो गयी है, सिंचाईका कोई पर्याप्त साधन नहीं है, इन्हें अनियमित तथा अनिश्चित वर्षापर ही निर्भर रहना पड़ता है। इसके साथ ही फसलको नष्ट करनेवाले जङ्गली जानवरों तथा कीड़ों और फतिङ्गोंका इन्हें शिकार होना पड़ता है। जिस देशके किसानको इतने विरोधी तत्वोंसे सङ्घर्ष करना पड़ता है वह अपना माल चढ़ा-ऊपरीके बाजारमें नफाके साथ कैसे बेच सकता है। उसकी इस दुरवस्थाको जानते हुए भी उसे अन्तर्राष्ट्रीय बाजारकी चढ़ा-ऊपरीमें झोंक देना, उसके प्रति अन्याय करना नहीं है क्या ? अर्थात् उसे मँझधारमें छोड़ दिया जाता है कि यदि उसमें सामर्थ्य है तो वह तैरकर पार हो जाय नहीं तो बीचमें ही डूब मरे। ऐसी हालतमें यदि यहाँके किसनों-को जो इस देशका प्रधान पेशा है खेतीसे किसी तरहका लाभ नहीं हो रहा है और वे दिन-पर-दिन कर्जके बोझसे दबे जा रहे हैं, तो इसमें अचरजकी कौनसी बात है। कुछ लोगोंका तर्क है कि यदि खेतीमें लाभ न होता तो किसान खेती करना छोड़ देता। इस तरहका तर्क भूलसे भरा है। वह खेतीमें इसलिए लगा है कि उसके लिए दूसरा कोई चारा नहीं है; यदि वह खेती करना छोड़ दे तो भूखों मरने लगे। किसानोंके ऊपर बढ़ता हुआ कर्जका बोझ इस बातका अकाट्य प्रमाण है कि खेतीकी आमदनीसे वह

अपना खर्च पूरा नहीं कर सकता। सरकारी आँकड़ोंके अनुसार १८९५ ई०में किसानोंपर कर्जका बोझ ४५ करोड़ था। वह कर्ज बढ़कर १९३७ ई० में १८०० करोड़ हो गया।

यह तो खेतीकी बात हुई। अब उद्योग-धन्धोंपर आइये। यहाँ भी गाँववालोंके प्रतिकूल ही सारी बातें हैं क्योंकि उन्हें पश्चिमकी बड़ी-बड़ी मशीनोंके साथ प्रतिस्पर्धा करनी पड़ती है। हम पीछे लिख आये हैं कि प्रतिस्पर्धाके लिए बड़े पैमानेपर उत्पादनका बहुतसा व्यय—जैसे, सेना रखनेका व्यय, जहाजी बेड़ा तथा हवाई बेड़ेका व्यय, सहायता तथा संरक्षणात्मक चुंगी—सार्वजनिक कोषसे दिया जाता है या उपभोक्ताओंसे वसूल किया जाता है, उद्योग-धन्धोंपर उनका लेशमात्र भी भार नहीं रहता। लेकिन गाँवके उत्पादकोंके लिए इस तरहकी कोई भी उदार सहायता नहीं है। वे मशीन-रूपी दैत्यसे युद्ध करनेके लिए निःसहाय अकेले छोड़ दिये जाते हैं, यद्यपि उनके हाथ बहुत कमजोर हैं। इसका परिणाम यह होता है कि कारखानोंमें तैयार किया हुआ सस्ता माल हर तरफसे गाँवोंमें पहुँच जाता है और गाँवोंके लोग वेरोजगारका हो जाते हैं। सरकार, आर्थिक कमीशन, योजनाएँ, कमेटियाँ, राजनीतिज्ञ, बड़े बड़े रोजगारी जिन लोगोंको भी ग्रामोद्योगके अध्ययनका अवसर मिला है सभी इसकी उपयोगितकी मुक्तकण्ठसे प्रशंसा करते हैं और किसानोंको बराबर यही सलाह दिया करते हैं कि सहायक पेशेके रूपमें इसे अपनावें; लेकिन इस तरह सलाह देनेवालोंमेंसे एकने भी क्या इस बातपर विचार किया है कि व्यवसायके इस चढ़ा-ऊपरीके युगमें किसान इसे काममें ला सकता है या नहीं जब कि

कारखानोंके माल बेशुमार गाँवोंमें पहुँच रहे हैं और मजदूरोंको बेकार करनेके लिए देहातोंमें भी मशीनोंके बैठानेका सतत प्रयत्न हो रहा है। कहा यह जाता है कि भारतका उद्योगीकरण आवश्यक है अर्थात् देशमें कारखानोंका जाल बिछ जाना चाहिए। साथ ही हमसे यह भी कहा जाता है कि यदि किसानोंको भूखों मरनेसे बचाना है तो ग्रामोद्योगकी स्थापना अनिवार्य है। लेकिन इस तरहकी बातें कहनेवालोंका ध्यान इस तरफ नहीं जाता कि बड़े-बड़े कारखानोंकी स्थापनासे ही गाँवोंके उद्योग-धन्धोंका नाश हुआ है और किसानोंकी यह दयनीय दशा हो गयी है जिसके निराकरणके लिए इतनी चिल्लाहट हो रही है। यह तो इसीके बराबर हुआ कि एक किसानकी समस्त गौओंको बाघ खा गया। उस किसानको सलाह दी जाने लगी कि वह नयी गौओंको खरीद-कर पाले लेकिन साथ ही पड़ोसमें नये-नये बाघोंके बसानेकी भी व्यवस्था की जाने लगी। गौ पालनेसे तो किसानको तभी लाभ हो सकता है जब बाघोंको मार भगाया जाय। यहाँ गौ हैं किसा-नोंके छोटे-छोटे कारखाने और बाघ हैं प्रतिस्पर्धायुक्त आर्थिक व्यवस्था। जहाँ दोनोंके पालन करनेकी व्यवस्था होगी वहाँ गौका संहार अनिवार्य है। ग्रामोद्योग सहयोग आर्थिक व्यवस्थाकी चीज है और वैयक्तिक स्वामित्वके आधारपर बड़े पैमानेपर उत्पादन चढ़ा-ऊपरीकी आर्थिक व्यवस्थाकी देन है। एक ही वस्तुके उत्पादनके लिए यदि दोनोंको साथ साथ चलाया जायगा तो इससे ग्रामो-द्योगोंका नाश अनिवार्य है। जो लोग यह ख्याल करते हैं कि विदेशी कपड़ोंकी जगह देशी मिलोंमें बने कपड़ेको काममें लाकर वे देशके प्रति अपने कर्तव्यका पालन कर रहे हैं, उनमेंसे अधि-

कांश ऐसे हैं जो ऊपरकी बातोंको या तो समझनेमें असमर्थ हैं या उसपर ध्यान नहीं देते। उन्हें यह बात भली भाँति समझ लेनी चाहिए कि जबतक वे मिलोंको प्रोत्साहन देते रहेंगे और मिलोंद्वारा तैयार माल इस्तेमाल करते रहेंगे—चाहे वे मिलें देशी हों या विदेशी—वे ग्रामोद्योगकी हत्या करते रहेंगे और देशकी गरीब जनताकी जीविकापर कुठाराघात करते रहेंगे।

इसके उत्तरमें यह कहा जा सकता है कि बड़े पैमानेपर उत्पादनके लिए यह आवश्यक नहीं है कि उसे व्यक्ति-विशेषके हाथमें छोड़ दिया जाय जो आपसमें चढ़ा-ऊपरी करते रहें। समाजवादके सङ्गठित आर्थिक व्यवस्थाद्वारा भी इसे चलाया जा सकता है। इसलिए यदि बड़े पैमानेपर उत्पादनके कामको समाजकी सम्पत्ति बना दिया जाय और राष्ट्रद्वारा उसका सञ्चालन हो, तब उसको ग्रामोद्योगके साथ क्यों नहीं जोड़ा जा सकता? पर यह भी सम्भव नहीं है क्योंकि समाजवादी व्यवस्थामें बड़े पैमानेपर उत्पादनका सारा प्रबन्ध राष्ट्रके हाथमें रहेगा और ग्रामोद्योगका सारा काम-काज गाँवके लोगोंकी निजी देख-रेखमें चलाया जायगा। यह वैयक्तिक होगा। दोनोंके बीच प्रतिस्पर्धाका भाव वहाँ मौजूद है। इससे गाँवका सहयोग आर्थिक व्यवस्था और आत्मनिर्भरता किसी भी तरह कायम नहीं रह सकती। इसके प्रतिकूल यदि बड़े पैमानेपर उत्पादन और ग्रामोद्योग दोनों राष्ट्रकी देख-रेखमें चलाये जायँ और दोनोंमें किसी तरहकी प्रतिस्पर्धा न रहे, तब तो हम घुमा-फिराकर समाजवादी व्यवस्थामें ही पहुँच जाते हैं और समाजवादी व्यवस्थामें ग्रामोद्योगकी कोई आवश्यकता नहीं प्रतीत होती।

क्योंकि सार्वजनिक आवश्यकताके आधारपर वस्तुओंका बड़े पैमानेपर उत्पादन होगा जो बहुत ही सस्ता पड़ेगा और आवश्यकतानुसार वह सबके पास पहुँच जाया करेगा। लेकिन यह अवस्था हमारे देशकी स्थितिके अनुकूल नहीं है। इसपर हम समाजवादवाले अध्यायमें काफी प्रकाश डाल चुके हैं।

बड़े पैमानेपर उत्पादन और ग्रामोद्योगको साथ-साथ चलानेके लिए एक और भी उपाय निकाला जा सकता है और यह कहा जा सकता है कि यदि हमारे देशकी अवस्थामें ग्रामोद्योग ही अनुकूल होगा तो हमलोगोंको जापानका अनुकरण क्यों नहीं करना चाहिए। बड़े पैमानेपर उत्पादनका काम करनेके लिए जिस तरह वहाँ एक ही वस्तुके भिन्न-भिन्न हिस्से गाँवोंमें तैयार कराये जाते हैं और सबको बटोरकर कारखानोंमें इकट्ठा किया जाता है जहाँ उनका अन्तिम निर्माण कर दिया जाता है। बाइसिकिल, मोटरगाड़ी, घड़ियाँ तथा अन्य मशीनें जिनका उत्पादन केन्द्रित तरीकेसे हो सकता है, वे इस तरह प्रस्तुत किये जा सकते हैं लेकिन जिन वस्तुओंका उत्पादन विकेन्द्रित तरीकेसे ही होना सम्भव है उनके लिए यह उपाय समीचीन नहीं हो सकता। क्योंकि इस तरहके ग्रामोद्योगद्वारा उत्पादनमें; बड़े-बड़े कारखानोंमें वह कायम न होकर किसानोंकी झोपड़ियोंमें होता जरूर है, लेकिन पूँजीवादी बड़े पैमानेपर उत्पादनव्यवस्थाके सारे दोष वहाँ मौजूद हैं; जैसे, मजूरोंका दोहन, गला काटनेवाली प्रतिस्पर्धा, सम्पत्तिका संग्रह, बेशुमार उत्पादन,—जिसके फलस्वरूप बेकारी बढ़ती है, मालको बलके प्रयोगसे बेचना पड़ता है, इसके लिए साम्राज्यवादी लिप्सा बढ़ती है

और युद्ध अनिवार्य हो जाता है। जापानी व्यवस्था नामके लिए ग्रामोद्योग है पर वास्तविक अधिकार पूँजीपतियोंका है, गाँवोंमें काम करनेवाले तो उनके मजूर या दासमात्र होते हैं। इस तरह-की व्यवस्था समाजवादमें भी सहूलियतके साथ नहीं चलायी जा सकती क्योंकि हम ऊपर बतला आये हैं कि व्यक्तिके मानसिक विकासके लिए निजी प्रबन्ध और अधिकार आव-श्यक हैं।

इसलिए आवश्यकता इस बातकी है कि एक तरफ तो प्रबन्ध और नियन्त्रण व्यक्तिके हाथमें हो और दूसरी ओर प्रतिस्पर्धाका सर्वथा लोप हो अर्थात् उत्पादनका उद्देश्य व्यक्तिगत लाभ या नफा न होकर समाजकी आवश्यकताकी पूर्ति हो। इन दोनों उद्देश्योंकी पूर्ति ग्रामोद्योगकी आर्थिक-व्यवस्थामें ही सम्भव है क्योंकि वहाँ उत्पादनका काम व्यक्तियोंके हाथमें रहेगा और अपने पड़ोसीकी आवश्यकताकी पूर्तिके लिए ही वह माल तैयार करेगा। जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है जो माल इस तरह तैयार नहीं किया जा सकेगा केवल वही माल तैयार करनेके लिए केन्द्रित कल-कारखाने खोले जायँगे, चाहे उनकी स्थापना लोग मिल-जुलकर करें या राष्ट्रकी ओरसे वे खोले जायँ। इन कारखानोंका उद्देश्य भी नफा कमाना नहीं होगा बल्कि ये भी सेवा-भावसे ही खोले जायँगे अर्थात् उनका भी एकमात्र उद्देश्य लोगोंकी आवश्यकताकी पूर्ति होगा। इस तरह बड़े-बड़े कार-खाने तथा गृह-उद्योग दोनों एक ही सङ्गठनके अधीन होंगे और दोनोंमें किसी तरहकी चढ़ा-ऊपरी नहीं होगी, बल्कि दोनों एक-दूसरेके सहायक होंगे।

जैसा कि हम ऊपर लिख आये हैं सहयोग आर्थिक-व्यवस्था-में किसान अपने खेतोंमें हर तरहकी चीजें पैदा करेंगे और अपनी सारी आवश्यकताकी पूर्ति भी वहींसे करेंगे। अपने उद्योग-धन्धोंके लिए वे लोग आवश्यक कच्चा माल भी तैयार करेंगे, यद्यपि कहीं-कहीं, जैसा कि लिखा जा चुका है—खेतकी मिट्टी सभी चीजोंके उत्पादनके लायक न भी होगी, उदाहरणके लिए कपास है। वर्त्तमान समयमें प्रतिस्पर्धायुक्त आर्थिक-व्यवस्थाके कारण अनेक गाँवोंमें कपासकी खेती होती ही नहीं, और वे ही चीजें पैदा की जाती हैं जो व्यावसायिक दृष्टिसे अधिक उत्पन्न हो सकती हैं। इसका परिणाम यह होता है कि यदि किसी किसान-को अपने लिए कपड़ा तैयार करना होता है तो उसे कपास बाहरसे खरीदकर मँगाना पड़ता है। एक स्थानसे दूसरे स्थानको कपास ले जानेमें इतना ज्यादा खर्च पड़ जाता है कि बाहरसे कपास मँगाकर कपड़ा तैयार करनेमें उसे कोई लाभ नहीं होता, महँगा पड़ता है। इसलिए वे बाजारसे मिलोंके बने कपड़े ही खरीदना श्रेयस्कर समझते हैं और बेकारीमें दिन काटते हैं। इसका उनके जीवनपर दोहरा प्रभाव पड़ता है। एक तो उनमें बेकारी बढ़ती है और दूसरे जो दो-चार रुपये नकद बचाकर वे रख सकते थे उसे उन्हें गँवा देना पड़ता है। लेकिन इसके प्रतिकूल यदि ग्रामोद्योगकी आर्थिक व्यवस्थाके अनुसार वे अपनी आव-श्यकताके लिए कपास उत्पन्न करें तो अपने फालतू समयमें वे सूत कातकर तैयार कर सकते हैं और उससे अपने लिए आवश्यक कपड़ा बिन सकते हैं। इस तरह वे अपना पैसा बचा सकते हैं क्योंकि बुनाईकी मजूरी भी वे सूतके रूपमें दे सकते हैं। इस

तरह खादीके महँगा होनेकी शिकायत नहीं उठ सकती क्योंकि उसके लिए लोगोंको नकद दाम नहीं देना पड़ेगा बल्कि अपने फालतू समयका उपयोग कर ही लोग अपने लिए आवश्यक खादी तैयार कर लेंगे। इस उपायसे उन प्राचीन उद्योग-धन्धोंका पुनरुत्थान हो जायगा जो प्रतिस्पर्धायुक्त आर्थिक व्यवस्थामें नष्ट हो गये थे और देशमें एक बार पुनः जीवन और ज्योति फैल जायगी।

३—प्रतिस्पर्धायुक्त आर्थिक व्यवस्थामें ग्रामोद्योगके नाशका परिणाम

(क) खेतोंपर अनुचित बोझ—प्रतिस्पर्धायुक्त आर्थिक व्यवस्थाके कारण जबतक उद्योग-धन्धोंके लिए कच्चा माल देहातोंमें उत्पन्न नहीं किया जाता और जबतक कलकारखानोंके सस्ते मालसे देहातका बाजार पाट दिया जाता रहेगा तबतक गाँवके कारीगरोंके उद्धारकी कोई आशा नहीं की जा सकती। हर तरहसे मजबूर होकर उन्हें अपने खेतोंपर ही निर्भर करना पड़ता है। कृषिके अतिरिक्त अन्य धन्धोंमें लगे मजूरोंमेंसे ६० फीसदीने १९३१ ई० में अपने धन्धोंको त्यागकर कृषि या उससे सम्बन्ध रखनेवाले धन्धोंको अपना लिया। इसका परिणाम यह हुआ कि खेतीपर निर्भर करनेवालोंकी तादाद कहीं अधिक बढ़ गयी। इससे पहले जितने लोग खेतीपर निर्भर करते थे उतनेहीके पालनपोषणके लिए खेतोंमें अनाज पैदा नहीं होता था। खेतीपर निर्भर करनेवालोंकी तादाद १८९१ ई० में जनसंख्याका ६१·१ सैकड़े थी। १९११ ई० में वह ७१ सैकड़े हो गयी और १९३१ में ७३ सैकड़े।

इससे इतना तो स्पष्ट है कि इस समय खेतीका काम करनेवालों-की संख्या आवश्यकतासे कहीं ज्यादा है। उतना काम केवल दो-तिहाई आदमी कर सकते हैं। इससे यह नतीजा निकला कि या तो उसी कामको ज्यादा आदमी करते हैं या किसीको भी पूरा काम नहीं मिल रहा है क्योंकि जब खेतोंमें काम नहीं रहता तो वे बेकार बैठे रहते हैं और प्रतिस्पर्धाके कारण सहायक पेशोंकी कोई गुंजायश नहीं है।

कुछ लोगोंका कहना है कि जन-संख्यामें इतनी तेजीसे वृद्धि हुई है कि उसके फलस्वरूप देशमें व्यापक दरिद्रता और खेतोंपर बहुत अधिक बोझ पड़ा है। लेकिन दूसरे देशोंकी अपेक्षा हमारे देशकी जनसंख्यामें बहुत ज्यादा वृद्धि नहीं हुई है। १९३१ तथा १९४१ के बीचमें हमारे देशकी जनसंख्यामें १५ फ़ीसदी वृद्धि हुई है लेकिन इसी अवधिमें संसारकी जनसंख्यामें १७ फीसदीकी वृद्धि हुई है। १८७० तथा १९३० के बीच यूरोपकी जनसंख्यामें १९८० लाखकी वृद्धि हुई जो वहाँकी आबादीके हिसाबसे ६४ फीसदी होती है। लेकिन इसी अवधिमें भारतकी आबादीमें केवल ८८० लाख अर्थात् ३१ फीसदीकी वृद्धि हुई। १९४० में हमारे यहाँकी आबादी प्रति वर्गमील २४८ थी जबकि ब्रिटेनकी ७०३, बेल्जियमकी ७०२, तथा हालैण्डकी ६३९ थी। इससे यह परिणाम निकलता है कि जनसंख्याकी वृद्धिसे कोई भी घातक परिणाम नहीं उपस्थित हो सकता। हमारे देशमें इसका परिणाम इसलिए घातक प्रतीत होता है कि हमारे पास साधन नहीं है कि हम बढ़ती आबादीको उद्योग-धन्धोंमें लगा सकें। इसके विपरीत पिछले सौ वर्षोंमें

हमारे देशके निवासियोंके व्यावसायिक जीवनको बहुत ज्यादा धक्का लगा है और दिन-पर-दिन उनकी व्यावसायिक हालत गिरती ही जा रही है। पिछले विश्व-युद्धसे भारतीय व्यवसायको बहुत ज्यादा प्रोत्साहन मिला तो भी १९११से १९३१के बीच बड़े तथा छोटे कारखानोंमें काम करनेवाले भारतीय मजूरोंकी संख्या बहुत अधिक घट गयी है। १९११ में हमारे देशकी जन-संख्या ३१ करोड़ ५० लाख थी। १९३१ में यह बढ़कर ३५ करोड़ ३०लाख हो गयी। लेकिन कल-कारखानोंमें काम करने-वाले मजूरोंकी संख्या १९११ में १ करोड़ ७५ लाखसे घटकर १९३१ में १ करोड़ ५३ लाख हो गयी अर्थात् २० सालके भीतर करीब २० लाख मजूर बेकार हो गये। इधर जनसंख्यामें ३ करोड़ ८० लाखकी और वृद्धि हुई। देशके व्यावसायिक धन्धोंमें इन्हें भी कोई काम नहीं मिल सका। इससे स्पष्ट है कि इस अदृष्ट पूर्व दरिद्रताका प्रधान कारण यही है कि प्रतिस्पर्धायुक्त आर्थिक व्यवस्थाके कारण हमारे देशवासियोंके व्यावसायिक जीवनको बहुत अधिक क्षति पहुँची है। दूसरा कोई पेशा न होनेके कारण लोग अधिकाधिक खेतीपर निर्भर करने लगे हैं जो इस अधिक बोझको बर्दाश्त करनेमें सर्वथा असमर्थ हैं।

(ख) कृषिकी असमर्थता :—अन्य पेशोंके अभावमें जब वे लोग भी खेतीकी ओर दौड़ पड़ते हैं जिनका पेशा खेती नहीं है, और जब किसानोंकी दरिद्रताके कारण बै या रेहनके कारण खेत उन महाजनों या धनिकोंके हाथमें चले जाते हैं, जिन्हें न तो खेतीका ज्ञान है और जो न तो खेतीकी परवा करते हैं तो उसका स्वाभाविक परिणाम यह होता है कि कृषिकी योग्यताका

धीरे धीरे ह्रास होने लगता है। प्राचीन युगमें जाति-प्रथाके कारण खेतिहर मजूरोंमें विशेष योग्यता खेतीके कामकी पायी जाती थी। लेकिन वर्तमान युगमें खेतीके पेशेमें काम करनेवालोंमें अधिकांश ऐसे पाये जाते हैं जिनका वह पुश्तैनी पेशा नहीं है, इसलिए उन्हें उसकी कोई जानकारी या ज्ञान नहीं है। इससे खेतीके पेशेकी हालत बहुत गिर गयी है और इसका प्रत्यक्ष फल देशके आर्थिक जीवनपर पड़ रहा है।

(ग) खेतोंका टुकड़ोंमें बँटवारा :—एक तो हमारे देशके उत्तराधिकारत्वका कानून ही खराब है; क्योंकि इस कानूनके अनुसार प्रत्येक उत्तराधिकारीको खेतका बराबर हिस्सा मिलना ही चाहिए, दूसरे यहाँके निवासियोंके लिए जीविकाका दूसरा कोई भी साधन नहीं है। उन्हें हर तरहसे खेतीपर ही निर्भर करना पड़ता है। इसका फल यह हो रहा है कि पीढ़ी-दर-पीढ़ी खेतोंका लगातार विभाजन होता जा रहा है। यदि प्रत्येक उत्तराधिकारीके बीच तमाम खेत (प्रत्येक खेतके टुकड़े न करके) बराबर बाँट दिये जाते तो भी एक बात होती। लेकिन एक ही गाँवमें अनेक तरहके खेत होनेके कारण प्रत्येक उत्तराधिकारीके बीच प्रत्येक खेतका बराबर बँटवारा हो जाता है। एक-दो पुश्त बीतते-बीतते खेत इतने छोटे-छोटे टुकड़ोंमें बँट जाता है कि उसे जोतना और बोना आर्थिक दृष्टिसे कभी भी लाभदायक नहीं होता। खेतोंके छोटे-छोटे टुकड़े इधर-उधर फैले रहनेके कारण समय और श्रम दोनोंकी बर्बादी होती है क्योंकि उन टुकड़ोंको जोतनेके लिए खेतिहरको अपना हल और बैल लेकर एक खेतसे दूसरे खेतपर दौड़ना पड़ता है। इससे खेतीके पेशेसे किसी तरहका लाभ न होनेके कारण खेतिहरकी दरिद्रता दिन-

दिन बढ़ती जा रही है, कर्जका बोझ उसपर लदता जा रहा है और अपने खेतोंको वह दिनों दिन टुकड़ा-टुकड़ा करके बेचता या रेहन रखता जा रहा है। इससे खेतोंका आयात दिनोदिन कम होता जा रहा है। वर्तमान समयमें औसत किसानके पास ३-४ बीघेसे ज्यादा खेत नहीं है और वे भी कई छोटे-छोटे टुकड़ोंमें बँटे हुए गाँवभरमें फैले हैं।

(४) ऋण, भुखमरी और अकाल—ऊपर हम दिखला आये हैं कि पिछले तीस वर्षोंके बीचमें किसानोंके ऊपर कर्जका बोझ बहुत ज्यादा बढ़ गया है। किसान अपने खेतोंके साथ इस तरह चिपका रहता है जिस तरह शरीर प्राणके साथ। लेकिन जब वह हर तरहसे लाचार हो जाता है तब अपने खेतको बेच देता है और साधारण मजूरकी भाँति खेतोंमें मजूरी करता है। प्राचीन ग्रामोद्योग आर्थिक-व्यवस्थामें किसान और महाजन-का परम्परागत सम्बन्ध रहता था। दोनों एक ही ग्राम-संगठनके सदस्य होते थे। उसका सञ्चालन निर्दिष्ट नियमके अनुसार होता था। इसलिए दोमेंसे एक भी नियत सीमासे बाहर अपने हकका दावा नहीं पेश कर सकता था। लेकिन जिस दिनसे हमारे समाजमें इस प्रतिस्पर्धायुक्त आर्थिक व्यवस्थाने स्थान पाया है, और जबसे जीवनका उद्देश्य व्यक्तिगत स्वार्थ साधन हो गया है और कर्जदार तथा महाजनमें लेन-देनके व्यवहारने कानूनी रूप धारण कर लिया है, तबसे दोनोंके बीचका नैतिक और सामाजिक बन्धन शिथिल पड़ गया है। अब तो महाजन अदालतकी शरण लेकर किसानसे अपना पाई-पाई अदा करवा लेता है और उसे खेतसे बेदखल कर देता है।

ज्यों-ज्यों कर्जका बोझ बढ़ता जा रहा है त्यों-त्यों किसानके हाथ-से खेत निकलकर महाजनोंके हाथमें चले जा रहे हैं। उदाहरण-के लिए पञ्जाबमें १८६६ और १८७४ के बीच किसानोंने प्रतिवर्ष जहाँ ८०,००० एकड़ भूमिके हिसाबसे बेचा, वहाँ उसके बादके पाँच वर्षोंमें प्रतिवर्ष ९३,०००, १६०,०००, ३१०,००० तथा ३३८,००० एकड़ भूमि बेची। बम्बई प्रान्तमें १९२७ तथा १९३७ के बीच किसानोंको ५.० लाख एकड़ भूमिसे इस प्रकार हाथ धोना पड़ा।* इस तरह किसानोंके हाथसे खेतोंके निकल जानेका फल यह हुआ है कि वे बे-खेत हो गये हैं और खेतोंपर मजूरी करने लगे हैं। १९२१से १९३१के भीतर दस सालमें बे-खेतके मजूरोंकी संख्या १००० खेतिहरपर २९१ से बढ़कर ४०७ हो गयी। अर्थात् जहाँ १९२१ में १००० किसानोंपर २९१ मजूर थे वहाँ १९३१ में १००० पर ४०७ हो गये।† लेकिन इस तरह खेतिहर मजूर बननेसे खेतीकी समस्या किसी भी प्रकार हल नहीं हो जाती क्योंकि खेतोंमें काम करनेवाले मजूरोंकी संख्या बढ़ जानेके कारण मजूरीकी दरमें कमी हो गयी है, मजूरको बहुत कम मजूरी मिलती है। किसानीके दिनोंमें यदि उसे काम मिल भी गया तो बाकी दिनोंमें उसे भूखों ही रहना पड़ता है।

यदि किसी उपायसे वह बे-खेतका मजूर नहीं बन सका तो वह महाजनोंकी रैयत तो हो ही जाता है, अपने ही खेतके लिए उसे कड़ी मालगुजारी देनी पड़ती है और साथ ही कर्जपर

---

* सर मनीलाल बी० नानावती और अंजारिया : दी रूरल प्राब्लेम पृ० ४५

† सेंसस रिपोर्ट जि० १ भा० १—१९३१ पृ० २२८

कड़ा सूद भी देना पड़ता है। इन मोटी रकमोंको अदा करनेके लिए उसे अपनी पैदावारका अधिक भाग बेंच देना पड़ता है और जो थोड़ा बच रहता है उसीपर गुजर करना पड़ता है। गाँवमें शायद ही ऐसा कोई किसान हो जिसके पास फाजिल गल्ला रहता हो, जिसका उपयोग वह संकटके दिनोंमें कर सके। इसका परिणाम है अकाल। विगत सदीमें जिस तरहके भीषण अकालोंका इस देशको सामना करना पड़ा है, वैसे अकाल प्राचीन युगमें न देखे गये और न सुने ही गये। लोग कहते हैं कि रेलें आधुनिक युगकी बहुत बड़ी वरदान हैं क्योंकि संकटके समय उनके द्वारा गल्ला एक स्थानसे शीघ्रताके साथ दूसरे स्थानको पहुँचाया जा सकता है। लेकिन यदि वास्तवमें देखा जाय तो इस प्रतिस्पर्धाके युगमें रेलोंने देशको सबसे ज्यादा हानि पहुँचायी है क्योंकि इन्हींके द्वारा गाँवोंका गल्ला बाहर भेज दिया गया है और इस तरह अकालको निमन्त्रण मिला है। श्री पी० ए० वाडिया तथा श्री के० टी० मर्चेंएटने "र अव इकनामिक प्राब्लेम" नामक अपनी पुस्तकमें विगत सदीके भारतीय अकालके सम्बन्धमें निम्नलिखित आँकड़े दिये हैं—

अवधि	संख्या	औसत मृत्यु
१८२६—१८५०	२	४००,०००
१८५१—१८७५	६	५,०००,०००
१८७६—१६००	१८	२६,०००,०००

इसपर टीका करते हुए लेखकोंने लिखा है—"यह सच है कि १६०० के बाद अकालोंका वह भीषण और उग्र रूप नहीं रह गया है। अब इस तरहके अकाल नहीं पड़ते जिनमें करोड़ों

व्यक्ति बिना अन्नके मर जाया करते थे। लेकिन एक भी साल ऐसा नहीं जाता जब कि देशके किसी-न-किसी कोनेमें अन्नका अभाव न रहता हो। प्रत्येक अकालके बाद किसी-न-किसी महामारीका उपद्रव अवश्य होता है क्योंकि अकालके दिनोंमें लोगोंको पेटभर अन्न नसीब नहीं होता और जो नसीब भी होता है वह स्वस्थकर नहीं रहता।

(च) महामारी—व्यापक अकाल न भी हुआ तो पेटभर अन्न न मिलनेके कारण उनके शरीरको पर्याप्त पोषक पदार्थ नहीं मिलता। उसके अभावमें वे अनेक बीमारियोंके शिकार होते रहते हैं जिनसे प्रतिवर्ष हजारों मरते रहते हैं। १९०१ तथा १९२१के बीच १ करोड़ २० लाख व्यक्ति प्लेगसे मरे। १९१८ तथा १९१९के इन्फ्लूएञ्जामें १ करोड़ ४० लाख मरे और १९०१ तथा १९२१के बीचमें मलेरियासे १ करोड़ ८० लाख व्यक्ति मरे। यूरोपवालोंने विगत ५० वर्षोंमें निवारक उपायोंद्वारा अपने देशसे मलेरियाको मार भगाया। भारतमें मलेरिया जाँच विभागके डाइरेक्टर कर्नल सिण्टनने लिखा है कि इस बातका अकाट्य प्रमाण मौजूद है कि केवल ब्रिटिश भारतमें प्रतिवर्ष कम-से-कम १० करोड़ व्यक्ति मलेरियासे पीड़ित होते हैं। २ करोड़ ५० लाखसे ७ करोड़ ५० लाखतक व्यक्ति मलेरियाके कारण अन्य रोगोंके शिकार होते रहते हैं। मलेरियाका आक्रमण मौतसे भी बुरा होता है क्योंकि यह शरीरका रस चूस लेता है और मनुष्यको कमजोर बना देता है। पब्लिक हेल्थ कमीशनके १९३८की वार्षिक रिपोर्टमें लिखा है कि इस साल मलेरियासे जितनी मृत्यु हुई उसका ९६.४ सैकड़ा केवल देहातोंमें लोग मरे।

प्लेग, इन्फ्लूएञ्जा और मलेरियाहीका प्रकोप उनपर नहीं होता ; हैजा, यक्ष्मा, संग्रहणी आदि रोगोंके भी वे शिकार होते रहते हैं। इन रोगोंका एकमात्र कारण दरिद्रता है जिसकी वजहसे न तो उन्हें पेटभर अन्न नसीब होता है और न वे सफाईसे रह सकते हैं। इस तरह अगणित व्यक्ति इन रोगोंसे मरते रहते हैं।

नीचेकी तालिकामें अमेरिका तथा ब्रिटेनके साथ भारतवासियोंकी जिन्दगी तथा मृत्युसंख्याकी तुलना की गयी है :—

मृत्युसंख्य प्रति १०००

	बच्चा	जवान	सर्वसाधारण	जिन्दगीका औसत
अमेरिका	५४	८·५	११·२	६२
ब्रिटेन	५.८	४·०	१२·४	६३
भारत	१६२	२४·५	३३·०	२७

इस तरह किसान दरिद्रतासे कर्जदार बनता है, अकाल तथा बीमारियोंका शिकार बनता है, और असमय मृत्युको प्राप्त होता है। जबतक कि प्रतिस्पर्धायुक्त इस आर्थिक व्यवस्थाका समूल नाश नहीं कर दिया जाता तबतक यह क्रम रुक नहीं सकता। किसानोंकी यह दयनीय दशा उत्पन्न करनेके अन्य भी कारण हैं, जैसे पर्याप्त खाद न देना तथा मिट्टीका लगातार प्रयोग होनेसे उसकी उर्वराशक्तिका ह्रास, खेतोंमें अदल बदलकर फसल नलगाना, खराब बीज तथा खेतीके अन्य खराब साधन, अच्छे बाजार तथा सुविधापूर्ण कर्जका अभाव, कड़ी मालगुजारी, खेतोंपर अधिकारकी अनुचित प्रणाली, जनताके कल्याणके प्रति विदेशी सरकारकी उदासीनता, प्राचीन प्रणालीकी उसकी अनजानकारी, आदि।

लेकिन हमारे गाँवोंकी बर्बादीका सबसे बड़ा कारण प्रतिस्पर्धा-युक्त आर्थिक व्यवस्था है जिसे ब्रिटिश व्यवस्थाको लाभ पहुँचानेके लिए हमारे देशपर जबर्दस्ती लादा गया है। क्योंकि इसीके कारण सरकार भी यहाँके निवासियोंके कल्याणके प्रति उदासीन है और जनता भी बेबस और निराश है। इन्हीं दोनोंकी बदौलत अन्य उपद्रव भी उठ खड़े होते हैं जिससे हमारे गाँवोंकी यह दयनीय दशा हो गयी है।

देशभरमें कृषि कालेजका जाल ही क्यों न बिछा दिया जाय, किसानोंको कर्ज देनेवाले बैंकोंकी भरमार ही क्यों न हो जाय, कृषिके अगणित दक्षोंकी नियुक्ति ही क्यों न कर दी जाय, मार्केटिंग अफ़सरोंकी नियुक्ति भी हो जाय, ग्रामोद्योगोंके भण्डार खोल दिये जायँ, प्रयोगशालाओंकी स्थापना कर दी जाय, अनेक तरहकी सहयोग-समितियोंकी स्थापना कर दी जाय, आदर्श खेत कायम कर दिये जायँ, बैलोंकी नस्ल बदल दी जाय अथवा इस तरहके अन्य उपाय किये जायँ किन्तु इन सब उपायोंसे केवल ऊपरी सतह ही छीली जा सकती है, रोगको समूल नष्ट नहीं किया जा सकता। क्योंकि रोगकी उत्पत्ति तो उस प्रतिस्पर्धायुक्त आर्थिक प्रणालीका फल है जिसके द्वारा ग्रामोद्योगोंपर कठोर प्रहार किया गया है तथा उसे छिन्नभिन्न कर दिया गया है और इस तरह भारतीय कृषि तथा व्यवसाय दोनोंको नष्ट-भ्रष्ट कर दिया गया है। जिस प्रतिस्पर्धायुक्त आर्थिक प्रथाने हमारे देशका सर्वनाश किया उससे जबतक हम दृढ़तापूर्वक अलग होनेका निश्चय नहीं करते, हमारा भविष्य इतना अन्धकारमय है कि हम उसकी कल्पना भी नहीं कर सकते। जिस दलदलमें वे तेजीके साथ धँसते

जा रहे हैं उससे उनका उद्धार करनेके लिए कोई-न-कोई उपाय तत्काल करना परम आवश्यक है। उनके उद्धारका सबसे सुगम रास्ता यही है कि उन्हें यह समझाया जाय कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारको वे तिलाञ्जलि दे दें और अपनी आवश्यकताको दृष्टिकोणमें रखकर ही वे उत्पादन करें और केवल उन्हीं चीजोंको खरीदें जो उनके निकटतम पड़ोसी पैदा करते हैं। यही एकमात्र मार्ग है जिससे हमारे देशकी हालत सुधर सकती है और एक बार फिर हमारी आर्थिक दशा समुन्नत हो सकती है।

४—पशु

ऊपर हमने जिस ग्रामोद्योग आर्थिक-व्यवस्थाकी चर्चा की है उसमें उत्पादनका काम अनेक गाँव एक साथ मिलकर अपने उपभोगके लिए करेंगे। इससे यह निश्चित है कि काम करनेके लिए हमें बैलोंपर बहुत अधिक निर्भर रहना पड़ेगा। खेतीके काममें मशीनोंका उपयोग तभी लाभदायक हो सकेगा जब एक साथ ही सैकड़ों एकड़ भूमि जोतनेके लिए हो। लेकिन जब जोतनेके लिए केवल गाँवके आस-पासके ही खेत होंगे और उन्हें भी भिन्न-भिन्न तरहकी फसलोंके लिए बाँटकर जायगा, तब ऐसी हालतमें वैलोंसे काम लेना ही हमारे लिए उपयुक्त और समीचीन होगा। इसके साथ ही मशीनोंके प्रयोगसे यह आशा तो की ही नहीं जा सकती कि उनसे पैदावार किसी तरह बढ़ जायगी। उनसे केवल इतना ही लाभ हो सकेगा कि श्रममें किफायतसारी होगी। लेकिन श्रममें किफायतसारी करनेका प्रश्न हमारे देशके सामने नहीं है, बल्कि इसके विपरीत हमारे देशमें

तो करोड़ोंको रोजी देनेका प्रश्न है। खेतीके काममें मशीनोंके प्रयोगसे इस बातकी भी सम्भावना है कि जिन लोगोंको वहाँसे रोजी मिलती है, वे बेकार हो जायँगे। इससे देशमें बेकारी और दरिद्रता और भी ज्यादा बढ़ जायगी। क्योंकि हमारे लिए यह सम्भव नहीं है कि हम मजूरोंको उद्योगधन्धोंमें लगा सकें। इसके अलावा मशीनोंके लिए जिस ईंधनकी जरूरत है वह भी हमारे देशमें पर्याप्त नहीं है।

साथ ही हमारे देशके अधिकांश लोग शाकाहारी होते हैं, धार्मिक, सांस्कृतिक या अन्य कारणोंसे वे मांस वगैरह खाना पसन्द नहीं करते। निरामिष भोजनमें पोषक पदार्थोंकी कम मात्राको पूरी करनेके लिए दूध तथा दूधसे उत्पन्न अन्य उपकरण हमारे लिए नितान्त आवश्यक हैं। इसके लिए हमें गायोंपर निर्भर रहना अनिवार्य है। गायोंके पालनसे बैलोंकी आमद होती ही रहेगी। अपने धार्मिक विश्वासके कारण हमलोग पशु-वधको पाप समझते हैं। इसलिए हमें किसी-न-किसी प्रकार बैलोंका उपयोग करना ही पड़ेगा। ये बैल हमारी खेती, व्यवसाय तथा माल ढोनेके काममें आवेंगे।

हमें ग्रामोद्योगकी आर्थिक-व्यवस्थामें बैलोंसे काम लेना होगा। इसलिए हमारे लिए यह आवश्यक नहीं है कि हम उस तरहकी गायोंकी खोज करें जो बहुत अधिक दूध देनेवाली हों। बल्कि हमें ऐसी गायें रखनी होंगी जिनके बच्चे मजबूत, हृष्ट-पुष्ट और कड़ी मेहनत बर्दाश्त करनेवाले हों, गाँवोंमें उत्पन्न किया जानेवाले चारेपर निर्भर करने लायक हों और देहातोंमें पशुओंकी जो बीमारियाँ होती हैं उन्हें बर्दाश्त कर सकने

लायक हों। हमारे देशमें भैंसोंसे ज्यादा काम नहीं लिया जा सकता। क्योंकि वे हमारे देशकी गर्मीको बर्दाश्त नहीं कर सकते। पर्याप्त मात्रामें पोषक पदार्थयुक्त दूधके उत्पादनका जहाँ-तक सम्बन्ध है, गायकी अपेक्षा भैंसें कहीं ज्यादा उपयोगी सिद्ध होंगी, क्योंकि एक तो वे दूध ज्यादा देती हैं दूसरे उनके दूधमें मक्खन, मलाई ज्यादा होता है। लेकिन उसका पाड़ा (बच्चा) हमारे कामके लिए बिलकुल व्यर्थ है। इस-लिए हमलोग गायके बछड़ेको अपने खेतोंके कामके लिए ज्यादा पसन्द करते हैं।

भैंसोंकी अपेक्षा गायको ज्यादा पसन्द करनेके अन्य भी अनेक कारण हैं। उनमेंसे कुछकी चर्चा यहाँ कर दी जाती है—(क) गायके दूधमें विटामिन 'बी' और विटामिन 'ई' की मात्रा बहुत ज्यादा होती है। भैंसके दूधमें विटामिन 'ई' की मात्राका सर्वथा अभाव रहता है। इसलिए शरीरके पोषणके लिए भैंसके दूधकी अपेक्षा गायका दूध ज्यादा पसन्द किया जाता है। (ख) मजूमदारके अनुसार गायके घीमें विटामिन 'ए' की मात्रा भैंसके घीकी अपेक्षा दसगुना ज्यादा रहता है। (ग) भैंसकी अपेक्षा गायोंको बीमारियाँ कम होती हैं। इसलिए गायके लिए अधिक देख-रेखकी जरूरत नहीं पड़ती। (घ) भैंस-की अपेक्षा गाय एक साल पहले जवान हो जाती है। (च) गाय बिसुक जानेके बाद भैंसकी अपेक्षा बहुत जल्द गाभिन होकर बच्चा दे देती है। (छ) गायके दूधपर सर्दी और गरमीका उतना ज्यादा असर नहीं पड़ता जितना भैंसके दूधपर। (ज) भैंसकी अपेक्षा गायके लिए चारा और पानीकी बहुत कम जरूरत

पड़ती है। इसलिए गाय रखनेमें चारागाहके लिए भूमिकी भी कम जरूरत पड़ती है।

दूध देने और खेतीके काममें आनेके अलावा इन पशुओंका मूत्र और गोबर खेतीके काममें खादके लिए बहुत उपयोगी होता है। इनमें जो उर्वराशक्ति है उसका मुकाबला रासायनिक खाद नहीं कर सकते। अनुसन्धानसे यह पाया गया है कि रासायनिक खादके प्रयोगसे खेतोंकी उत्पादक-शक्ति आरम्भमें अवश्य बढ़ जाती है लेकिन आगे चलकर इसका प्रभाव खेतोंपर बहुत खराब पड़ता है। यह धीरे-धीरे खेतका सारा रस निचोड़ लेता है और उसे ऊसर बना देता है। यह भी प्रकट हुआ है कि इन रासायनिक खादोंसे फसलमें अनेक तरहके रोग लग जाते हैं और जिन पशुओंको इन खेतोंका चारा खिलाया जाता है वे भी अनेक तरहकी बीमारियोंके शिकार हो जाते हैं। पश्चिमी देशोंमें रासायनिक खादोंका बहुत कड़ुआ अनुभव हुआ है। ऐसी हालतमें हमारे देशके लिए सबसे उपयुक्त यही है कि हम पशुओंके खादपर ही निर्भर करें और अपने देशवासियोंको इस बातकी शिक्षा दें कि पशुओंके गोबरसे खाद तैयार करें। मल-मूत्रका प्रयोग खादके रूपमें करें और मनुष्यके मलको भी सड़ाकर खाद तैयार करें तथा रसायनिक खादके फेरमें न पड़कर इसी खादका प्रयोग खेतोंमें करें। यदि आगे चलकर ऐसे उपाय भी निकल आवें जिनके द्वारा रासायनिक खादके दोष दूर किये जा सकें तो भी हमारे देशके किसानोंको पशुओंके मलमूत्र तथा सड़े-गले पत्ते और शाकभाजीद्वारा तैयार किये गये खादके उपयोगपर निर्भर करना चाहिए क्योंकि थोड़ी मिहनतके

अलावा इसमें किसी तरहका अतिरिक्त खर्च नहीं पड़ता। ईंधनके अभावमें हमारे देशमें गोबरका प्रयोग ईंधनके रूपमें होता है जिससे तरह खेतोंकी उर्वराशक्ति नष्ट होती जा रही है। इस प्रथाको रोकनेके लिए जङ्गल-कानूनमें इस तरहके सुधार करने होंगे जिससे पहलेकी तरह लोग जङ्गलोंसे ईंधनके लिए लकड़ी बटोर सकें और गाँवोंके आस-पास जो ऊसर भूमि हो उसमें भी ईंधनके उपयुक्त पेड़ लगाये जायँ।

पशुओंसे केवल घी, दूध और खाद ही नहीं मिलते, बल्कि उनके मरनेपर उनसे अन्य उपयोगी वस्तुएँ भी प्राप्त होती हैं; जैसे खाल, हड्डी, सींग, बाल, चर्बी, मांस तथा रक्त जो मशीनोंसे नहीं मिल सकते। पशुओंके मरनेपर उनके शरीरके प्रत्येक भागको किसी-न-किसी काममें लाया जा सकता है। इस तरह हम देखेंगे कि मशीनकी अपेक्षा पशु हमारे लिए कहीं ज्यादा उपयोगी सिद्ध होते हैं।

उपर्युक्त कारणोंसे ग्रामोद्योग आर्थिक-व्यवस्थामें गायोंका बहुत बड़ा स्थान होगा। यही कारण है कि गायोंसे सम्बन्ध रखनेवाली सभी समस्याओंको हल करनेके लिए गो-सेवा-सङ्घके समान विशेष संस्था स्थापित की गयी है।

ऊपर यह दिखलाया गया है कि ग्रामोद्योग आर्थिक-व्यवस्था-में श्रम-शक्तिका सारा काम लेनेके लिए पशुओंको काममें लाया जायगा। इससे हमारा यह तात्पर्य नहीं है कि यदि सिंचाई तथा घरेलू-धन्धोंके लिए बिजली उपलब्ध हो तो हम उसका प्रयोग न करें। जहाँ काम इतना ज्यादा बढ़ जाय कि बैलोंसे काम पूरा न हो सके वहाँ हमें उपलब्ध होनेपर बिजलीसे काम

लेना ही चाहिये। बिजलीसे काम लेते वक्त केवल इस बातपर ध्यान रखना चाहिए कि इससे हम बेकारी तो नहीं बढ़ाते। इसके साथ ही इस बातपर भी ध्यान रखना होगा कि बिजलीकी शक्तिके उत्पादन तथा प्रदानका नियन्त्रण उन्हीं गाँववालोंके हाथमें है जिन्हें इसका उपयोग करना है।

५—लेन-देन

ग्रामोद्योगकी उपर्युक्त आर्थिक-व्यवस्थामें जहाँ कई गाँव मिलकर एक इकाईका रूप ग्रहण करेंगे और एक-दूसरेपर निर्भर रहेंगे वहाँ लेनदेनके लिए रुपयोंकी बहुत ज्यादा जरूरत नहीं पड़ेगी क्योंकि उत्पादक और उपभोक्ता अपनी आवश्यकता-के अनुसार वस्तुओंका लेनदेन आपसमें कर लेंगे। आज भी क्या हालत है। एक जगह बे-शुमार अन्न है और दूसरी जगह उसकी नितान्त माँग है, लेकिन लेनदेनका आधार रुपया होनेके कारण, जबतक रुपया पैदा करनेका जरिया न हो, एककी माँग दूसरेसे पूरी नहीं की जा सकती। इस तरह भोजन और भुख-मरीके बीचमें रुपयेकी अप्राकृतिक समस्या खड़ी करके हमने अपने जीवनमें भीषण जटिलता उत्पन्न कर दी है। क्या हमारे लिए यह उपयुक्त नहीं है कि हम इस अप्राकृतिक रुकावटको दूर कर दें और जहाँतक सम्भव हो वस्तुओं या श्रमके बदलैनसे ही काम लें ? हम इस फेरमें क्यों पड़ें कि रुपयोंके बिना हमारा काम नहीं चल सकता। क्यों न हम वस्तुओंके बदलैनसे ही अपना काम चलावें। जिस वस्तुकी हमें जरूरत है उसकी प्राप्ति हम अपने मासकी वस्तु देकर क्यों न करें। श्रमके बदलेमें भी

हम वस्तु ही क्यों न दें ? बहुधा यही देखनेमें आता है कि जब किसी गरीब मजूरको नकद मजूरीपर काम करना पड़ता है तो वह घाटेमें रहता है या जब किसी गरीब किसानको रुपयेके लिए अपना माल बेचना पड़ता है तो वह भी नुकसानमें ही रहता है। उत्पादनके सभी साधन पूँजीपतियोंके हाथमें हैं, उपभोगकी सभी सामग्रीपर उनका ही अधिकार है। उपभोगकी इन वस्तुओं-को नकद रुपया देकर खरीदनेके लिए गरीब मजूरको जो भी नकद रकम मिल जाती है उसीपर उसे काम करना पड़ता है। नकद आर्थिक-व्यवस्थाका यह सबसे बड़ा अभिशाप है। फल तथा शाक-भाजी शीघ्र नष्ट होनेवाले उत्पादक पदार्थ हैं, लेकिन रुपया नष्ट नहीं हो सकता। इसलिए जिसके पास रुपया है वह हमेशा नफेमें है क्योंकि अपनी इच्छानुसार दामपर वह इन वस्तुओंको बेचनेके लिए उत्पादकको मजबूर कर सकता है। गरीब किसान लाचार है क्योंकि वह जानता है कि यदि इन्हें तुरन्त बेच न दिया जाय तो ये चीजें सड़कर खराब हो जायँगी। इस तरह उन्हें बर्बाद होने देनेकी अपेक्षा कम दामपर बेच देना ही वह श्रेयस्कर समझता है। इस तरह रुपयेका प्रयोग अनुचित लाभ उठानेमें होता है।

महात्माजी लिखते हैं:—"हमारी आर्थिक व्यवस्थामें सिक्केका काम धातुसे नहीं लिया जायगा बल्कि श्रम ही उसका काम करेगा। जिस किसीके पास श्रम होगा उसके पास सिक्का या धन मौजूद रहेगा। अपने श्रमके बदले वह अन्न-वस्त्र सब कुछ प्राप्त करेगा। यदि उसे पैराफिन तेलकी जरूरत है, जिसे वह पैदा नहीं कर सकता तो अपना फाजिल अन्न देकर वह उसे प्राप्त

कर लेगा। हमारी व्यवस्थामें स्वतन्त्रतापूर्वक, ईमानदारीके साथ, बराबरीकी शर्तोंपर श्रमका लेनदेन होगा, इसलिए इस व्यवस्थामें लूट या ठगीकी गुञ्जायश नहीं है। इस व्यवस्थापर यह दोषा-रोपण किया जा सकता है कि यह तो उसी प्रारम्भिक अवस्थापर लौटना रहे जहाँ बदलैनसे काम होता था। लेकिन क्या समस्त अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार इसी बदलैनकी प्रथापर अवलम्बित नहीं है?" (देखो हरिजन २-११-१९३४)

हमारे देशके तीन-चौथाई लोगोंके पास द्रव्यका अभाव है। द्रव्यके अभावमें भी उन्हें आश्यकताकी चीजें सहजमें उपलब्ध हो सकें, इसके लिए महात्माजीने सूतको लेनदेनका माध्यम ठह-राया है। उनकी सलाह है कि सूतको लेने-देनेका माध्यम बनाया जाय क्योंकि सूत एक ऐसी वस्तु है जिसे सबलोग सहजमें उत्पन्न कर सकते हैं। जिसे अन्नकी जरूत है वह दो-तीन घण्टा चरखा चलाकर अपनी आवश्कताके लायक सूत तैयार कर सकता है। इस तरह वह स्वयं अपना टकसाल-घर बन जाता है और अपने लिए वह सिक्का तैयार कर लेता है जिसके उप-योगसे वह अपनी सारी आवश्यकताकी पूर्ति कर सकता है। यह विचार बहुत ही आकर्षक प्रतीत होता है। इसे काममें लाकर देखना चाहिए कि इससे क्या परिणाम निकलता है।

रुपया प्रतिस्पर्धायुक्त आर्थिक व्यवस्थाजनित व्यवसायकी देन है। इसके खिलाफ हमलोग युद्ध करना चाहते हैं। इससे हमारा यह तात्पर्य नहीं है कि व्यवसाय बुरी चीज है। हमारा कहना यह है कि हमारे देशकी वर्तमान अवस्थामें इससे हमें बहुत नुकसान पहुँचा है। रुपयोंका लोप हो जानेपर या उनका

प्रयोग कम हो जानेपर हमें उन वस्तुओंके खरीदनेका प्रलोभन नहीं रहेगा जो हमारे गाँवमें पैदा नहीं होतीं। इससे ग्रामोद्योग-को प्रोत्साहन मिलेगा और उसमें नवजीवनका सञ्चार होगा। रुपयोंके लिए गाँवके लोग जिस-तिस दामपर अपना माल वेच देते हैं और उन रुपयोंसे चमकदार, आकर्षक पर साथ-ही-साथ निकम्मी विदेशी चीजें खरीदते हैं और इस तरह अपना सर्व-नाश करते हैं।

इसके अलावा नकद आर्थिक व्यवस्थामें किसानोंको अन्य कारणोंसे भी नुकसान उठाना पड़ता है जिनमें उनका जरा भी दोष नहीं रहता। एक्सचेञ्ज, करेन्सी और उधार व्यवहारके साथ-ही-साथ भावकी घटती-बढ़ती ऐसी वातें हैं जो किसनोंको बहुत अधिक नुकसान पहुँचाती हैं। उसके मालका मूल्य उपरकी बातोंपर निर्भर करता है और उनपर इसका किसी तरहका निय-न्त्रण नहीं। इन उपायोंसे उसके सारे प्रयास व्यर्थ कर दिये जाते हैं और वह गरीब-का-गरीब बना रह जाता है। उसके मालका उचित मूल्य तभी मिल सकता है जब उसके सामने ऐसे साधन मौजूद हों जिससे उसे रुपयोंके लिए अपना माल न वेचना पड़े।

रुपयोंके कारण ही उसे कर्ज लेनेके प्रलोभनमें फँसना पड़ता है। वह समझता है कि माल बेचकर वह रुपया वापस कर देगा। इस तरह वह महाजनोंके चंगुलमें फँस जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि वह अपनी सम्पत्ति और अपनी आजादी सब कुछ खो देता है।

वर्तमान आर्थिक-व्यवस्थामें उसे मालगुजारी, कर्ज, लगान तथा नौकरोंका वेतन सब कुछ नकद रुपयोंमें देना पड़ता है।

इसके साथ उसे खेतीका सामान तथा अपने लिए आवश्यक वस्तुएँ भी नकद दाम देकर खरीदनी पड़ती है। इसका परिणाम यह होता है कि उसे अपना गल्ला खेतोंमें ही बेच देना पड़ता है, ज्यादा से-ज्यादा फसल तैयार होनेपर तो उसे बेचना ही पड़ता है क्योंकि देना चुकानेके लिए उसे रुपयोंकी जरूरत रहती है। फसलके समय गल्ला स्वभावतः सस्ता रहता है। इसलिए उसे सस्ते दामपर ही अपना गल्ला बेच देना पड़ता है। बदलैनकी प्रथामें वह अपनी सम्पत्तिको सुरक्षित रख सकेगा क्योंकि उसे जिस-तिस भावपर बेचनेकी जल्दी नहीं रहेगी।

दलालों तथा पोद्दारोंकी जेबमें जो रुपया आजकल चला जाता है, वह भी किसानके पास ही बचा रह जायगा। नकद आर्थिक-व्यवस्थामें उत्पादक और उपभोक्ताके बीच सैकड़ों मील-का अन्तर रह सकता है। इसलिए एकके यहाँसे माल दूसरेके यहाँ पहुँचानेके लिए किसी मध्यस्थकी जरूरत रहती है। लेकिन बदलैनकी प्रथामें उत्पादक और उपभोक्ताका सीधा सम्बन्ध रहेगा, इसलिए किसी तीसरे व्यक्तिकी आवश्यकता नहीं होगी। इस तरह नफाका सारा भाग उत्पादकको ही मिलेगा और उसकी दशामें सुधार होगा। आजकलकी भाँति उत्पादक दिनोदिन दरिद्र और पोद्दार उसकी बदौलत दिनोदिन समृद्ध नहीं होता जायगा।

नकद रुपयोंसे लोभकी मात्रामें भी वृद्धि होती है क्योंकि उसे जमा करनेके लिए न तो बहुत जगहकी जरूरत होती है और न उसके बर्बाद होने या घटनेका भय रहता है लेकिन गल्ला जमा करनेके लिए उपरोक्त तीनों बातोंकी परीशानी रहती

है। मान लीजिये कि हमारे पास ६ सन्तरे हैं। यदि हम यह चाहें कि चार तो हम आज खा लें और दो अगले सप्ताहके लिए रख छोड़ें तो यह सम्भव नहीं है। इसलिए जिसकी हमें जरूरत नहीं है उसे हम तुरन्त अपनेसे अलग कर देना चाहेंगे। लेकिन रुपयेके साथ यह बात नहीं है। हम चाहें तो आज ४ ही खर्च करें और २ बचाकर रख लें। इस २ का हम अपने इच्छानुसार मनमाना प्रयोग कर सकते हैं या मरते वक्त अपने बाल-बच्चोंको दे सकते हैं। इस तरह रुपयोंको बटोरकर रखने की स्वाभाविक प्रवृत्ति जाग उठती है और लोग इकट्ठा करनेके लिए ही रुपया कमानेके फेरमें पड़ जाते हैं। लेकिन बदलैनकी प्रथामें सम्पत्तिका बँटवारा कहीं उचित रीतिसे होता है। रुपयोंसे सम्पत्तिकी पूजाकी प्रवृत्ति जागृत होती है और इस तरह प्रतिष्ठाका अप्राकृतिक या गलत मापदण्ड समाजमें तैयार हो जाता है। लेकिन बदलैनकी प्रणालीमें सम्पत्तिका स्थान गौण रहता है क्योंकि उसका एकमात्र उद्देश्य मानवताका कल्याण होता है।

इसलिए ग्रामोद्योग आर्थिक-व्यवस्थामें जहाँतक सम्भव है बदलैनकी प्रणालीसे ही काम लेनेका यत्न किया जायगा। अनिवार्य हो जानेपर ही रुपयोंका प्रयोग किया जायगा क्योंकि यह भली-भाँति दिखलाया जा चुका है कि परिवर्तनके माध्यमके रूपमें रुपया नितान्त उपयोगी होनेपर भी उसके द्वारा सम्पत्तिका सङ्कलन चन्दके हाथोंमें आ जाता है और अधिकांश-को दरिद्रताका शिकार होना पड़ता है। इसके साथ ग्रामीण आर्थिक-व्यवस्थापर इसका बहुत ही घातक प्रभाव पड़ता है।

६—वाणिज्य-व्यवसाय :

ऊपर लिखा जा चुका है कि ग्रामोद्योगकी संयुक्त आर्थिक व्यवस्थामें वाणिज्यके लिए उत्पादनका ध्येय प्रमुख नहीं होगा क्योंकि जहाँतक सम्भव होगा गाँवके लोग अपनी प्रमुख आवश्यकताके लिए आत्म-निर्भर रहेंगे। लेकिन इससे हमारा यह तात्पर्य नहीं है कि गाँवोंके लोग वाणिज्यकी दृष्टिसे कभी कोई वस्तु तैयार ही नहीं करेंगे। ऊपर इस बातका निर्देश किया जा चुका है कि वस्तुओंका बदलैन एक गाँवका दूसरे गाँवके साथ होता रहेगा, इस तरहका बदलैन एक प्रान्तका दूसरे प्रान्तके साथ भी हो सकता है, अन्य देशोंके साथ भी सम्भव है। स्थानीय आवश्यकताकी पूर्तिसे जो सामान फाजिल होगा वही इस तरहके वाणिज्यके काममें लाया जायगा अथवा वे चीजें जो भौगोलिक स्थितिसे या अन्य कारण-विशेषसे किसी खास प्रदेशमें ही तैयार की जा सकेंगी।

(क) कच्चा माल नहीं बेचा जायगा :—जिस कच्चा मालसे गाँवोंमें वस्तु तैयार की जा सकेगी उसका व्यापार नहीं हो सकेगा। आज गाँवोंमें तेलहन, कपास वगैरह कच्चा माल पैदा होते हैं, लेकिन वे सब शहरों या अन्य देशोंमें चले जाते हैं। कल-कारखानेवाले या विदेशोंमें माल भेजनेका व्यवसाय करनेवाले बड़ी तादादमें उन्हें खरीद लेते हैं। इन चीजोंके बदले कलका तेल और विदेशी कपड़ा देहातोंमें पहुँचाया जाता है। इससे गाँववालोंकी बहुत बड़ी हानि होती है क्योंकि इन कच्चा मालोंका उपयोग वह अपने गाँव में ही [illegible] मजूरीके रूपमें कमा सकता था, लेकिन इन्हें बेचकर

वह तैयार माल खरीदता है अर्थात् जो मजूरी गाँवमें ही रह सकती थी उसे वह बाहर भेज देता है। साधारण अवस्थामें भी भारतसे प्रतिवर्ष १० लाख टन तेलहन बाहर जाता था। इसका फल यह होता है कि भारतको प्रतिवर्ष प्रायः ३०,०००,००० रुपयोंका घाटा मजूरीके रूपमें उठाना पड़ता है। यह आँकड़ा इस हिसाबसे लगाया गया है कि गाँवोंमें कोल्हूसे तेल पेरकर वह ३० रुपया प्रति टन कमाता है। इसके साथ ही तेलसे जो अन्य वस्तुएँ—साबुन,रङ्ग, लुब्रिकेण्ट—तैयार की जाती हैं उनके व्यापारसे भी वह बंचित हो जाता है क्योंकि ये वस्तुएँ भारतमें तैयार न होकर बाहरसे आती हैं। कपासको ही ले लीजिये। कपाससे गाँवोंमें करघेपर कपड़े तैयार हो सकते हैं। पर यह नहीं होता है। भारतका कपास लङ्काशायर या जापान चालान जाता है और वहाँसे कपड़ा बुनकर भारतमें आता है। इससे बढ़कर बुरी बात और क्या हो सकती है। यह तो उसीके बराबर हुआ कि हिन्दुस्तानके लोग अपना कपड़ा यहाँ न धुला-कर इङ्गलैण्ड धुलानेके लिए भेजें। भारतवासियोंको अपना कपड़ा स्वयं धोना चाहिए क्योंकि कपड़ा बाहर भेजनेमें जो खर्च पड़ेगा उसे बर्दाश्त करनेकी शक्ति उनमें नहीं है। लेकिन हमारे गाँववालोंकी हालत ठीक इसी प्रकारकी है। कपाससे वे चर्खेपर सूत कातकर स्वयं करघोंपर कपड़ा बुनकर तैयार कर सकते हैं। ऐसा न कर वे कपास बेच देते हैं और उसके बदले विदेशी कपड़ा खरीदते हैं। जो दशा कपासकी है वही अन्य कच्चे मालों की भी है जिससे वे अपने घरोंमें ही बढ़िया माल तैयार कर-सकते हैं। कहने और सुननेमें तो यह बहुत अच्छा लगता है

कि लङ्काशायर, जापान या अहमदाबादकी मिलोंमें कपड़ा बढ़िया तैयार होता है और कपास बेचकर उसके बदलेमें कपड़ा खरीद-कर किसान बहुत बड़ी परेशानीसे बच जाता है। इस तरहका तर्क उन लोगोंके लिए लागू हो सकता है जो दफ्तरोंमें काम करते हैं और नकद वेतन पाते हैं तथा जिनकी आमदनी अन्य जरियों-से निश्चित है। लेकिन इस तरहके लोगोंकी संख्या ही इस देशमें कितनी है। भारतवर्षकी आबादीमें उनका स्थान नगण्य है। किसानको तो अपनी जीविका कमानेके लिए अपना सब काम अपने हाथसे करना होगा। उसे मिहनत-मजूरीसे वञ्चित करनेका अर्थ होता है, उसे जीविकाके साधनोंसे वञ्चित करना।

यह तर्क भी पेश किया जा सकता है कि यदि भारतवर्ष कृषि कर्मके लिए सबसे उपयुक्त है तो क्यों नहीं उसे कृषि-कर्ममें ही विशेष रूपसे संलग्न होना चाहिए और संसारभरके लिए कच्चा माल तैयार करना चाहिए और पक्का माल तैयार करनेका भार इङ्गलैण्ड तथा जापान आदि छोटे देशोंके लिए छोड़ देना चाहिए जो पक्का माल तैयार करनेके लिए अधिक उपयुक्त हैं और सस्ता पक्का माल तैयार करते हैं। इसके उत्तरमें यह कहा जा सकता है कि हम यह बात क्यों स्वीकार कर लें कि यदि ब्रिटेन और जापानकी भाँति हम भी बड़े-बड़े कल-कारखाने खोल लें तो हम भी उसी योग्यताके साथ सस्ता माल तैयार नहीं कर सकते। इसके अलावा हम यह भी दिखला चुके हैं कि आस्ट्रेलिया तथा संयुक्त राष्ट्र अमेरिकाका मुकाबला कच्चे मालके उत्पादनमें भी हमारा देश नहीं कर सकता। इसके अलावा पक्का माल तैयार करनेमें जो मजूरी मिलती है वह कच्चा माल पैदा करनेमें नहीं

मिलती। धुनाई और कताईमें जो मजूरी मिलती है उससे कहीं ज्यादा मजूरी बुनाई, रँगाई और छपाईमें मिलती है। तेल पेरनेकी अपेक्षा सुगन्धित (खुशबूदार) तेल तैयार करनेमें ज्यादा नफा मिलता है। इसी तरह खेतीसे उतनी आमदनी नहीं हो सकती जितनी आमदनी उद्योग-धन्धोंसे हो सकती है। इसलिए जो देश कृषि-प्रधान बना रहेगा वह दरिद्र बना रहेगा और जो देश उद्योग-धन्धोंको अपना लेगा वह प्रतिदिन उन्नति करता जायगा। यही कारण है कि प्रत्येक राष्ट्र सतत इसी प्रयत्नमें रहता है कि उद्योग-धन्धोंमें उसका एकाधिपत्य स्थापित हो जाय और दूसरे देश उसके लिए कच्चा माल उत्पन्न करते रहें। जहाँ उसका वश चलता है वहाँ वह इसी तरहकी स्थिति पैदा कर देता है। लेकिन यह सबसे बड़ी बेईमानी है। यदि संसारकी ऐसी स्थिति हो जाय कि कृषि करनेवालों तथा माल तैयार करनेवालोंको बराबर-बराबर नफा मिलने लगे और भारतकी जनसंख्याको सुख-सुविधाके प्रत्येक साधन प्रस्तुत किये जाने लगें, सभ्यताके सभी साधन यहाँके लोगोंको उपलब्ध होने लगे, ठीक उसी तरह जिस तरह उद्योग-प्रधान देशोंको प्राप्त हैं तब भारतवर्षके लोग निश्चय ही केवल कृषिपर अपना सारा ध्यान दे सकते हैं और यह उनके लिए सर्वथा उपयुक्त होगा। लेकिन यह व्यवस्था भी सुचारु रूपसे कारगर नहीं हो सकेगी क्योंकि युद्ध छिड़ जानेपर याता-यातके साधनोंकी दिक्कत पड़ जायगी, माल एक स्थानसे दूसरे स्थानपर जा नहीं सकेगा, सारी आर्थिक व्यवस्था पंगु हो जायगी। इसलिए किसी भी व्यवस्थामें केवल कृषि-प्रधान देश बने रहना हमारी सबसे बड़ी भूल होगी। ठीक ही कहा गया है

कि कृषि और उद्योग एक राष्ट्रके दो फेफड़े हैं। यदि किसी देशक ।एक फेफड़ा खराव होकर निकम्मा हो जाय और उसे एक ही फेफड़ेसे काम लेना पड़े तो उसका अन्त अवश्यम्भावी है। वह जीवित नहीं रह सकता बल्कि घुल-घुलकर मर जायगा।

(ख) गृह-उद्योग अलाभकर नहीं अतः उसका व्यवसाय सम्भवः— ऊपर जो कुछ लिखा गया है उससे लोगोंके मनमें यह धारणा उत्पन्न हो सकती है कि गृह-उद्योग कल-कारखानोंका मुकाबला नहीं कर सकते। इससे यह परिणाम निकाला जा सकता है कि ग्रामोद्योगकी आर्थिक व्यवस्था कायम कर हमलोग अपने देशको ऐसी चहार दीवारीमें बन्द कर देना चाहते हैं और उत्पादनका वह तरीका चलाना चाहते हैं जो राष्ट्रकी दृष्टिसे हितकर नहीं है। इसलिए हमारे लिए यह उपयुक्त नहीं होगा कि हमलोग प्रगतिशील तरीकोंका सर्वथा त्याग कर दें बल्कि उत्पादनका जो सबसे उपयुक्त साधन है उसे ही हमें अपनाना चाहिए क्योंकि इससे ही देशका उत्थान हो सकता है और उसकी समृद्धिकी वृद्धि हो सकती है। इस तरहके तर्कको गलत नहीं कहा जा सकता। लेकिन उत्पादनका कौनसा तरीका सबसे ज्यादा उपयुक्त होगा, इसका निर्णय करनेके पहले हमें सभी जायज उपकरणोंपर विचार करना होगा। उदाहरण के लिए तेलहन और तेलको ले लीजिए। बैलसे चलाये जानेवाले कोल्हूकी अपेक्षा मिलें कम समयमें ज्यादा-से-ज्यादा तेल घानीसे निकाल सकेंगी। यह सब होते हुए भी, केवलमात्र आर्थिक दृष्टिसे भी राष्ट्रके कल्याणके लिए बैलसे चलाये जानेवाले कोल्हूकी अपेक्षा तेलकी मिलें उपयोगी नहीं हो सकतीं। क्योंकि देहातका तेली कोल्हूमें तेल पेरकर

तैयार करता है और प्रत्येक किसानके घर आप-ही-आप पहुँचा आता है। इस काममें उसे अन्य प्रकारका कोई खर्च नहीं करना पड़ता। लेकिन मिलोंद्वारा तेल तैयार करनेमें कई तरहके अन्य खर्चका भी बोझ उठाना पड़ता है। सबसे पहले जो तेलहन खरीदनेवाले दलाल या पोद्दारका कमीशन है। इसके बाद तेल-हन बाहर भेजनेमें रेल तथा गाड़ीका भाड़ा, मालका बीमा तथा विज्ञापन आदिका खर्च है। इससे स्पष्ट है कि गाँवके कोल्हूके स्थानपर तेलकी मिल खड़ी करनेमें राष्ट्रको किसी तरहका लाभ नहीं हो सकता। बल्कि यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो तेलकी मिल खड़ी करनेमें ही राष्ट्रको नुकसान है। पहले तो कोल्हूकी अपेक्षा तेलकी मिलके लिए बहुत अधिक पूँजी चाहिए, दूसरे तेलके मिलमें कम आदमियोंको मजूरी मिलेगी। बैलवाला सात कोल्हू जितना तेल पेरता है उतना तेल मिलका एक कोल्हू पेर लेता है अर्थात् मिलके कारण प्रति सात व्यक्तिपर ६ व्यक्ति बेकार हो जायँगे, तीसरे नफाका बहुत कम अंश मजूरीके रूपमें दिया जाता है, चौथे मशीनें विदेशोंसे मँगानी पड़ती हैं, इससे गाँवके बढ़ई और लोहारोंकी रोजी छिन जाती है और बैल बेकार हो जाते हैं। इस तरह कोल्हूकी अपेक्षा तेलकी मिलें राष्ट्रके लिए आर्थिक दृष्टिसे भी अहितकर हैं। इसके उत्तरमें यह कहा जा सकता है कि यदि ऐसी बात होती तो मिलके तेल कोल्हूके तेलसे बाजारमें सस्ते न बिकते। लेकिन इसके कई कारण हैं। पहला कारण तो यह है कि मिलवालोंके पास पूँजी ज्यादा होती है, इसलिए वे थोक माल फसलके समय ही खरीद लेते हैं इसलिए उन्हें तेलहन सस्ता मिल जाता है, लेकिन पूँजीके

अभावमें गाँवका तेली ऐसा नहीं कर पाता। उसे तो तेलहन सदा फुटकर भावमें खरीदना पड़ता है जो स्वभावतः महँगा पड़ता है। दूसरा कारण यह है कि मिलवाले तेलहनमें अन्य वस्तुएँ भी फेट देते हैं जिससे तेल सस्ता पड़ता है। यदि गाँवके तेलीको उसी भावपर तेलहन मिल जाया करे जो भाव फसलके समय रहता है—यदि सहयोग समितियाँ चाहें तो फसलके समय तेलहन खरीदकर रख सकती हैं या गाँववाले तेलहन जमा करके रख सकते हैं, या राष्ट्रकी ओरसे इस तरहका प्रबन्ध रहे कि वह फसलके समय तेलहन खरीदकर रख लें और उसी भावपर कोल्हू चलानेवालोंको दिया करे या उपभोक्ता अपने पास तेलहनका पर्याप्त भण्डार रखें और अपनी आवश्यकताके अनुसार तेलीको देकर हमेशा ताजा तेल पेरवा लिया करें—और इसके साथ ही कानूनद्वारा मिलावट या फेटको रोक दिया जाय तो निश्चय ही कोल्हूका तेल मिलके तेलसे सस्ता पड़ेगा।

इसके अलावा पूँजीवाद तथा साम्राज्यवादवाले अध्यायमें हमने यह दिखलाया है कि बड़े-बड़े कारखानोंके लिए सार्व-जनिक कोषसे कई तरहके व्यय राजकी ओरसे किया जाता है—जैसे, साम्राज्य, सेना, नौसेना, हवाई सेना, चुङ्गी, मदद, बेकारों-को सहायता, बुढ़ापेमें पेंसिन, निवास वगैरह—तथा इस तरहकी अन्य सेवाएँ जैसे, अनुसन्धान तथा करेंसी और एक्सचेंजका उलट-फेर। इन उपायोंसे विदेशी मिलोंका माल गाँवमें बने माल-से सस्ता पड़ता है। इसलिए केवल इस आधारपर कि विदेशी मिलोंका माल गाँवमें तैयार मालसे सस्ता बिकता है, यह तर्क उपस्थित करना उपयुक्त नहीं होगा कि गाँवोंमें हाथसे चलनेवाले

यन्त्रोंकी अपेक्षा बड़े पैमानेपर उत्पादन करनेवाली मशीनें ज्यादा उपयुक्त हैं। देशमें ही जो कल-कारखाने हैं उन्हें भी अनेक तरहकी सरकारी सहायता प्राप्त है।

तेलके मिलकी चर्चा करते हुए हमने लिखा है कि पूँजी होनेके कारण मिलको बहुत सुविधा है। यदि गाँवके तेलीको कर्जके रूपमें आसानीसे पूँजी प्राप्त हो जाया करे, यदि अनुसन्धान और खोजका प्रयोग ग्रामोद्योगके उपकारकी दृष्टिसे होने लगे और इससे गाँवके यन्त्रोंमें सुधार हो जाय और यदि उनके मालकी खपतके लिए संगठित बाजारोंकी व्यवस्था हो जाय—जो सुविधाएँ आज-दिन बड़ी-बड़ी मिलोंको प्राप्त हैं—तो यह निश्चय है कि मिलोंमें तैयार मालसे गाँवोंमें तैयार माल किसी भी तरह खर्चीला नहीं पड़ सकता। आज यदि मिलका माल हाथके बने मालसे सस्ते दरपर बिक रहा है तो इससे यह प्रमाणित नहीं होता कि हाथसे चलाये जानेवाले यन्त्रोंसे मशीनसे चलाये जानेवाले यन्त्र अधिक उपयुक्त हैं। इससे केवल यही प्रमाणित होता है कि ग्रामोद्योगकी अपेक्षा बड़े-बड़े कल-कारखानोंको अनेक तरहकी सुविधाएँ प्राप्त हैं। ये सुविधायें यदि ग्रामोद्योगको प्राप्त हो जायँ—जो सर्वथा उचित है—तो वहाँ तैयार माल उतना ही सस्ता हो सकता है जितना सस्ता मिलोंका माल होता है।

बड़े पैमानेपर उत्पादनके आधुनिक यन्त्रोंको चलानेके लिए मशीनोंकी जरूरत पड़ती है जिनमें लोहा, कोयला तथा खनिज तेलकी बहुत ज्यादा खपत होती है। ये सब खनिज प्राकृतिक सम्पत्ति हैं जिनकी आमद सीमित है। एक बार यदि इनका अन्त

हो गया तो उनकी पूर्ति नहीं हो सकती। राष्ट्रके कल्याणके लिये यह परम आवश्यक है कि उनका प्रयोग बड़ी सावधानीसे किया जाय और उन्हें तभी काममें लाया जाय जब दूसरे उपाय-से काम चलनेवाला न हो। ग्रामोद्योगमें लकड़ी, ईंट, मिट्टी आदि सामानोंकी आवश्यकता होती है और बैल अथवा हाथसे काम लिया जाता है। ये सब सामग्री ऐसी हैं जिनकी उत्पत्ति युग-युग समान रूपसे होती रहेगी। कोयला या पेट्रोल एक बार समाप्त हो जानेपर फिर प्राप्त नहीं हो सकेगा लेकिन पेड़ लगाते रहनेसे लकड़ीका टोटा नहीं पढ़ सकता और अपनी आवश्य-कताके अनुसार पशुओंका पालन होता रहेगा। इस दृष्टिकोण-से बड़े पैमानेपर उद्योग-धन्धोंमें राष्ट्रकी स्थायी पूँजीका ह्रास होता है, इसलिए न तो यह स्थायी हो सकता है और न आर्थिक दृष्टिसे लाभकर। लेकिन ग्रामोद्योग अपनी आमदनीपर ही टिका रहता है, इसलिए इसका स्थायित्व है। इसलिये किसी भी देश-के लिए अन्ततोगत्वा ग्रामोद्योग बड़े-बड़े कल-कारखानोंकी अपेक्षा वहीं उपयुक्त हो सकता है।

(ग) कम-से-कम मजूरीः—गाँवके लोग वाणिज्य-व्यवसायकी दृष्टिसे जो उद्योग-धन्धा कायम करना चाहते हैं, उसमें इस बातपर दृष्टि रखना अत्यन्त आवश्यक है कि उसमें काम करने-वाले कारीगरोंको जीवन यापन करने योग्य न्यूनतम मजूरी मिल जाती है। हमारे देशमें कताई एक ऐसा पेशा है जिसमें कम-से-कम मजूरी मिलती है। हालतक कत्तिनको कताईसे प्रति घण्टा एक पैसेसे भी कम मजूरी मिलती थी। यह अवस्था सहन करने योग्य नहीं है। इसलिए गान्धीजीके आदेशसे

अखिल भारतीय चरखा-संघने यह व्यवस्था की है कि आठ घण्टा प्रतिदिन सूत कातनेवालोंको कम-से-कम इतनी मजूरी अवश्य मिल जाय जिससे उसकी रोटीकी समस्या हल हो जाय। इससे खादीका दाम अवश्य चढ़ गया है, लेकिन इसका असर उन लोगोंपर नहीं पड़ सकता जो अपने लिए आप सूत कातेंगे। जो लोग सूत नहीं कातते उन्हें तो कातनेवालोंको उचित मावजा देना ही पड़ेगा। इसे कार्यरूपमें परिणत करनेमें कठिनाईका सामना करना पड़ा था लेकिन इस व्यवस्थासे अनेक प्रान्तों में अब कत्तिनोंको पहलेकी अपेक्षा तिगुनी मजूरी मिलने लगी है। इसलिए ग्रामोद्योगमें व्यवसायकी दृष्टिसे जो माल तैयार किया जाय उसकी मजूरीमें इसी दृष्टिकोणसे काम लेना होगा।

२—ग्राम अर्थशास्त्रका उत्थान :

(क) वैयक्तिक उद्योगसे पुनर्निर्माण:—

यदि इन सिद्धान्तोंके अनुसार गाँवोंमें काम करना है तो हमें यह भी निर्देश कर देना चाहिए कि पुनर्निर्माणका यह काम किस तरह आरम्भ किया जा सकता है। आरम्भमें यह काम वैयक्तिक नियन्त्रणमें जहाँतक सम्भव है, रहेगा क्योंकि राष्ट्रपर हमारा कोई अधिकार न होनेके कारण राज्यसे किसी तरहका सहारा नहीं प्राप्त हो सकता इसलिए इसी ढंगसे जो सम्भव होगा किया जायगा।

१—गाँवका कार्यकर्ता

गाँवोंके पुनर्निर्माणकी पहली आवश्यक चीज गाँवका कार्यकर्ता है। उसमें यह क्षमता होनी चाहिए कि वह अपनेको गाँवके

लोगोंमें मिला दे। अच्छा तो यह हो कि अपनी जीविकाके लिए वह भी गाँववालोंके साथ ही कोई काम उठा ले। उसकी रहन-सहन उन्हींकी तरह हो, उनकी भाषामें ही वह बातचीत करे, और उनके सुख-दुखमें समान रूपसे शामिल रहे। जबतक गाँववालोंको यह विश्वास नहीं हो जायगा कि वह उनका ही एक अङ्ग है तबतक वे उसकी बात कदापि नहीं मानेंगे क्योंकि उनके मनमें यही धारणा बनी रहेगी कि वह उनकी मुसीबतोंको समझता नहीं, इसलिए उनकी मदद करनेमें वह असमर्थ है। जिन जनसेवक युवकों तथा योग्य महिलाओंमें इस तरहके भाव वर्तमान हों, उन्हें चुनकर गाँवोंमें पैदा किये जाने वाली वस्तुओंके उत्पादनकी शिक्षा दी जाय, जैसे सूत कातना, रुई धुनना, पिउनी तैयार करना, कपड़ा बुनना, तेल पेरना, कागज बनाना, मधुमक्खी पालना, खेती करना, गोपाल, पशुपालन, बुनियादी तालीम तथा उद्योग-धन्धोंके लायक प्रयोग आदि हिसाब किताब रखना, खरीद बिक्री, सहायक उपाय, ग्रामीण अर्थशास्त्र, सफाई और स्वास्थ्य, खेलकूद, भोजनकी विधि तथा ग्रामोद्योगके सिद्धान्त और अहिंसात्मक समाजका निर्माण। इस तरहकी शिक्षा देनेका काम अखिल भारतीय चरखा-संघ, अखिल भारतीय ग्रामोद्योग-संघ हिन्दुस्तानी तालीमी संघ, तथा गोसेवा संघ कर रहे हैं।

२—गाँवकी भलाई

मनुष्य केवलमात्र धन कमानेका यन्त्र नहीं है बल्कि सजीव मूर्ति है। इसलिए जिन उपायोंसे उसकी शारीरिक, मानसिक

तथा चारित्रिक उन्नति होगी, वे सब अप्रत्यक्षरूपसे गाँवोंके पुनः सङ्गठनके काममें सहायक माने जायँगे। इसलिए गाँवके कार्यकर्ताके लिए आर्थिक समस्या प्रधान तथा मानवीय समस्या गौण नहीं होगी, बल्कि यों कहना चाहिये कि ग्रामोद्योगकी इस नयी आर्थिक व्यवस्थामें मानवीय समस्या ही प्रधान है और इसे केन्द्र मानकर अन्य समस्याओंका समाधान करना है। इसलिए यह समस्या सबसे प्रधान और महत्वपूर्ण है। वर्तमान समयमें गाँववालोंकी हालत नितान्त दयनीय है। वह शरीरसे भी कमजोर है इसलिए सहजमें अनेक रोगोंका शिकार होता रहता है। तेज, शक्ति, सामर्थ्य तथा आकांक्षाहीन व्यक्ति कभी भी उत्तम उत्पादक नहीं हो सकता, सम्पूर्ण और विकसित मानव तो हो ही नहीं सकता। वह किसी तरह दुर्दिनमें अपना कालक्षेप करता है। इसलिए उसके औजारोंको सुधारनेकी अपेक्षा उसे ही सुधारना नितान्त आवश्यक है। गाँवोंके पुनर्निर्माणके काममें हमारा लक्ष्य मनुष्य होना चाहिए, न कि केवल भौतिक साधन। लेकिन साथ ही इस बातपर भी ध्यान रखना होगा कि किसी एकको ही लेकर आगे बढ़नेसे हमारा काम नहीं चलेगा। किसानोंसे सम्बन्ध रखनेवाली जितनी भी समस्याएँ हैं, सबका समाधान एक साथ ही और तत्काल होना चाहिए। उसके पानीके जरियों और उसके इर्द-गिर्दकी भूमिको साफ-सुथरा रखना है। उसके साधनोंके अनुसार उसकी खुराकमें सुधार आवश्यक है। इधर कुछ दिनोंसे वह मिलका कूटा सफेद चावल, महीन आटा और दानेदार चीनीका प्रयोग करने लग गया है। मिलोंमें इन्हें साफ करनेके जो तरीके हैं, उससे उनका

पोषक और विटामिन तत्व ही गायब नहीं हो जाता, बल्कि मानव-शरीरके लिए वे हानिकारक हो जाते हैं। इसलिए उस तरफसे हटाकर हाथसे कूटे चावल, चक्कीमें पीसे आटा तथा गुड़के प्रयोगकी ओर लगाना है। उसके लिए इस तरहकी शिक्षाकी व्यवस्था करनी होगी जिससे वह उत्तम उत्पादक और समझदार नागरिक बन सके। धार्मिक तथा चारित्रिक शिक्षा भी उसें नितान्त आवश्यक है। नशाखोरी, जुआ तथा अन्य बुराइयोंको उससे दूरकर स्वास्थ्यकर तथा निर्दोष विनोदके साथ तथा मन-बहलावकी बातोंका उसमें प्रचार होना चाहिए। इसके साथ ही उसे तथा उसकी महिलाओंको उन सामाजिक रिवाजोंसे विरत करना होगा जिनसे उसे हानि पहुँच रही है। आर्थिक पुन-र्निर्माणके काममें इन बातोंका बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान होगा। इनको अछूता छोड़कर यदि केवल गाँवोंके आर्थिक विकासपर ध्यान दिया जायगा तो उससे कोई विशेष लाभ नहीं हो सकता।

३—आर्थिक योजना

गाँवोंके आर्थिक पुनःनिर्माणके लिए कोई योजना तैयार करनेसे पहले गाँवके बारेमें पूरी जानकारी प्राप्त कर लेना नितान्त आवश्यक होगा, जैसे, गाँवमें जोत-लायक जमीन कितनी है, सिंचाईका क्या प्रबन्ध है, प्रत्येक किसानके औसत खेतोंका आकार क्या है, कुल मालगुजारी, टिकस अन्य तरहके कर किस मात्रामें देने पड़ते हैं, कर्जका बोझ कितना है, सूद किस दरसे देना पड़ता है, आमदनीका क्या जरिया है, सालमें औसत आमदनी क्या होती है, कौन-सी फसल पैदा की जाती है और

किस बाजारमें बेची जाती है। यदि गाँवमें कोई उद्योग-धन्धा चलता है तो यह भी जान लेना जरूरी है कि उनके लिए कच्चा माल कहाँसे आता है। कच्चा माल संग्रह करनेमें किसी तरहका कमीशन देना पड़ता है या नहीं, उसके लिए कितनी पूँजीकी जरूरत है, पूँजीका क्या प्रबन्ध है, उसके लिए किन औजारोंकी जरूरत है, उन औजारोंको संग्रह करनेमें कितना खर्च पड़ता है, कितने मजूरोंकी जरूरत रहती है, मालकी खपत कहाँ और किस प्रकार होती है, उस उद्योगसे जो कूड़ा-कर्कट निकलता है उसके उपयोगसे कोई दूसरा सहायक उद्योग खड़ा किया जा सकता है यां नहीं। यदि कोई उद्योग मृतप्राय हो या मर चुका हो, उसके सम्बन्धमें यह जानकारी प्राप्त करनी होगी कि उनकी हीन दशा, पतन अथवा अवसानका कारण क्या है, उद्योगमें कितने आदमी काम करते थे और उन्हें क्या आमदनी थी, तथा उनके पुनरुत्थान तथा विकासकी कैसी गुञ्जाइश है। उस गाँवमें जिन मालोंकी खपत हो उनका भी अध्ययन आवश्यक है कि वे कहाँसे आते हैं, और कितनी मात्रामें आते हैं तथा गाँवमें उनका उत्पादन सम्भव है या नहीं। इन आँकड़ोंको संग्रह करनेका केवल-मात्र उद्देश्य शिक्षा नहीं होनी चाहिए। अर्थात् केवल अंक-संग्रह करनेके उद्देश्यसे ही ये आँकड़े संग्रहीत नहीं किये जाने चाहिए बल्कि इन्हें इस व्यावहारिक दृष्टिकोणसे संग्रह करना चाहिए कि इनका वर्तमान रूप सुधारनेके लिए क्या उपाय काममें लाये जा सकते हैं। इसके लिए इनके सम्यक् और पूर्ण अध्ययनकी आवश्यकता नहीं है। अनुसन्धान और जाँचके समय ही अनेक तरहके सुझाव सामने

आयेंगे, जिनसे मालूम हो जायगा कि सुधार किस प्रकार होना चाहिए। जिन लोगोंके बीच काम करना है उनसे भी इस विषयमें सलाह-मशविरा लेते रहना चाहिए क्योंकि रास्तेमें जो व्यावहारिक कठिनाइयाँ उपस्थित होंगी उनका पता उनसे चल जायगा। इन कठिनाइयोंको दृष्टिपथमें रखकर गाँवकी समस्त आर्थिक व्यवस्थाके ख्यालसे ही गाँवके लिए योजना तैयार की जानी चाहिए।

पीछे लिखा जा चुका है कि ग्रामीण आर्थिक योजनाका आधार उत्पादनमें विकेन्द्रीकरण तथा उपभोगमें स्वदेशी होना चाहिए ताकि अपनी प्रारम्भिक आवश्यकताकी पूर्तिके लिए गाँव आत्मनिर्भर हो। सम्भव है कि हमारा यह आदर्श सीधे पूरा न हो सके लेकिन हमारा यही उद्देश्य होना चाहिए और जहाँतक सम्भव हो इसे पूरा करनेका यत्न करना चाहिये।

विकेन्द्रीकरण कर देनेपर और एक छोटे गाँवको इकाई मानकर उसके लिए योजना तैयार करना आसान काम हो जाता है। उस तरहकी योजनाको पूरा करनेके लिए गाँववालोंमें पर्याप्त उत्साह दिखायी देगा और वे तत्परताके साथ उसे अपना लेंगे। उन्हें केवल यह ज्ञान होना चाहिए कि यह योजना उनकी अपनी योजना है, किसी अधिकारी वर्ग द्वारा उनपर बाहरसे लादी नहीं जा रही है, जिस अधिकारी वर्गको उनकी अवस्था जाननेकी लेशमात्र भी परवा या चिन्ता नहीं है। इस योजनाको कार्यमें परिणत करनेके लिए बहुत बड़ी पूँजी या मशीनकी भी जरूरत नहीं पड़ेगी, क्योंकि इसे चालू करनेके लिए उनके पास जो साधन मौजूद हैं उन्हींसे काम लिया जायगा और अपने परिश्रम

से ही वे उसे चालू करेंगे। इसलिए ज्योंही गाँवोंके लोग उसे अपनानेके लिए तैयार हो जायँगे त्यों ही वह चालू कर दी जायगी। बड़े-बड़े उद्योग-धन्धे या केन्द्रीय उद्योग जो बड़ी-बड़ी मशीनोंके प्रयोगसे ही चालू किये जा सकती हैं, उनके लिए योजना कई गाँवोंको मिलाकर सहयोगके आधारपर तैयार की जायगी या राज उनकी व्यवस्था करेगा लेकिन उनका आधार जनताकी सेवा होगा। बाकीके लिए गाँवोंका पुनर्निर्माण तथा आर्थिक व्यवस्था निम्न-लिखित तरीकोंसे चालू की जा सकती हैः—

४—ग्रामोद्योगके लिए आर्थिक पुनःनिर्माणका कार्यक्रम

गाँवके वे प्रभावशाली और प्रधान व्यक्ति जिन्हें गाँवको आत्मनिर्भर बनानेके काममें सहानुभूति है, चुन लिये जायँ और उनकी एक पञ्चायत कायम कर दी जाय और उनके ही हाथोंमें गाँवके पुनःनिर्माणका काम सौंपा जाय।

दूसरे, गाँववालोंके भोजनकी आवश्यक चीजें, पशुओं के लिए आवश्यक चारा तथा उद्योगके लिए कच्चे मालकी पूरी तालिका बना ली जानी चाहिए। इसके बाद भिन्न-भिन्न फसलोंके उत्पादनका ब्योरा तैयार कर लेना चाहिए। यह काम बहुत कठिन नहीं होगा। उदाहरणके लिए उपयोगी खाद्य-सामग्रीके आधारपर गाँववालोंके भोजनके लिए कितना और किस प्रकारका अन्न चाहिए इसका हिसाब तैयार कर लिया जा सकता है। प्रयोगशालाओंने प्रत्येक बालिग व्यक्तिके लिए पोषक पदार्थके लिहाजसे भोजनकी जो मात्रा निर्धारित की है वह इस प्रकार है—जहाँ प्रधान भोजन चावल है वहाँके लिये : चावल १० औंस, ज्वार ५ औंस, दूध ८ औंस, दाल २ औंस,

भाँजी ६ औंस, शाक २ से ४ औंसतक, फल २ औंस, घी, मक्खन और तेल २ औंस। इसमें गुड़, नमक तथा मसाला जोड़कर प्रत्येक गाँवमें जितने व्यक्ति हों उनसे इसे गुणा कर देना चाहिए। औरतों और नाबालिग बच्चोंका हिसाब लगाकर कुल जोड़मेंसे उतनी रकम घटा देनी चाहिए क्योंकि पुरुषोंकी अपेक्षा औरतोंको केवल ८० फीसदी भोजनकी सामग्री चाहिये और बारह सालतकके बच्चोंके लिए पुरुषके भोजनका ४० से ७० सैकड़ेतककी आवश्यकता पड़ती है। इस तरह यह मालूम हो जायगा कि एक गाँवके लिए कुल कितनी खाद्यसामग्रीकी आवश्यकता होगी। इसी तरह पशुओंके चाराका भी हिसाब लगाया जा सकता है। इसके साथ ही इस बातपर भी ध्यान रखना होगा कि खराब फसल होनेपर या फसल न होनेपर पहले सालकी पैदावारसे ही काम लेना होगा, इसलिये उसकी व्यवस्था भी करनी होगी। उद्योग-धन्धोंके लिए जितनी सामग्री चाहिए उसे भी जोड़ लेना होगा। बीजके लिए जितने अन्नकी जरूरत होगी उसका हिसाब लगा लेना होगा। मालगुजारी वगैरहका ब्योरा भी बैठा लेना होगा तथा गाँवमें जो सामान नहीं तैयार होते या नहीं तैयार हो सकेंगे उनके बदलेनके लिए जो सामान आवश्यक होगा उसे भी जोड़ लेना होगा।

इसके बाद उद्योग-धन्धोंका हिसाब लगाना होगा। सालमें प्रत्येक व्यक्तिके लिए कम-से-कम ३० गज कपड़ेकी जरूरत पड़ेगी। इस हिसाबसे गाँवभरके लोगोंके कपड़ेकी आवश्यकताका हिसाब लगा लेना होगा तथा घरके छाजन और इसी तरहकी अन्य आवश्यकताओंको ध्यानमें रखकर योजना तैयार कर लेनी

होगी। नीचे लिखी बातोंपर विशेष ध्यान देनेकी जरूरत है।

(क) ऐसे उद्योग-धन्धोंको न तो आरम्भ करना चाहिए और न प्रोत्साहन देना चाहिए जिसके लिए कच्चे मालके निमित्त गाँववालोंको मिलों या दूरके स्थानोंपर निर्भर करना पड़े, यदि वे माल गृह-उद्योगों द्वारा वहीं या पासके गाँवोंमें तैयार हो सकते हों। उदाहरणके लिए हाथसे चलाये जानेवाले करघोंके लिए मिलके सूतकी व्यवस्था करना उचित नहीं होगा, क्योंकि मिलवाला किसी भी दिन अपने व्यवस्थाका विस्तार कर मशीन-से चलनेवाला करघा बैठा सकता है। इस तरह बुनकरके लिए कोई सहारा नहीं रह जायगा और उसे सूत मिलना असम्भव हो जायगा। लेकिन यदि वह चर्खेपर कते सूतसे काम लेता है, जो उसे गाँववालोंसे मिल जाता है तो उसे सूतका टोटा नहीं पड़ेगा। सूतके लिए वह सदा निश्चिन्त रहेगा। अथवा साबुन बनानेका काम ले लीजिए। यदि गाँवका साबुन बनानेवाला विदेशसे आनेवाले कास्टिक सोडापर निर्भर करता है तो युद्ध या अन्य कारणोंसे यदि विदेशसे आमद बन्द हो जाय या दाम अत्यन्त बढ़ जाय तो उसकी क्या हालत होगी। लेकिन यदि यह न करके वह देशी सज्जी या इसी तरहके पदार्थका उपयोग करता है तो उसे दूसरोंपर निर्भर नहीं करना पड़ता और वह अपना काम बिना बाधाके चलाता रहेगा।

(ख) गाँवके उद्योग-धन्धोंके औजार इसी तरहके होने चाहिए जिनका निर्माण तथा मरम्मत यथासम्भव गाँवमें ही आसानीसे हो जाया करे, क्योंकि ऐसा न करनेसे एक तो उनके खरीदनेमें गाँवका बहुतसा धन बाहर चला जाता है और

दूसरे यदि समयपर वे नहीं मिल सके तो उनके उद्योगको भारी नुकसान उठाना पड़ता है। बिगड़ जानेपर उनकी मरम्मतके लिए भी दिक्कत उठानी पड़ती है। इसके साथ ही औजारोंको गाँवमें तैयार कराने और मरम्मत करानेसे गाँवके बढ़ई, लोहार तथा लकड़ी काटनेवालोंको काम मिल जाता है।

(ग) गाँवके उद्योग-धन्धे ऐसे होने चाहिएँ कि उनके लिए बहुत ज्यादा पूँजीकी आवश्यकता न पड़े क्योंकि गाँववालोंके पास पूँजीका सर्वथा अभाव है। उनके पास श्रमका खजाना है, इसलिए गाँवोंमें ऐसे ही धन्धे कायम किये जायँ जिनमें कम पूँजी और अधिक श्रमकी जरूरत पड़ती है, जैसे कताई, मधुमक्खीका पालन, तेल पेरना, गुड़ बनाना या इसी तरहके अन्य उद्योग जो लाभके साथ चलाये जा सकते हैं।

(घ) ऐसे उद्योग नहीं कायम किये जाने चाहिए जिनके लिए बहुत अधिक योग्यताकी जरूरत हो, अर्थात् वे उद्योग इतने जटिल न हों कि उनके काम लायक व्यक्ति तैयार करनेमें ही कई महीने लग जायँ बल्कि गाँवका उद्योग ऐसा होना चाहिए कि उसमें अधिक-से-अधिक व्यक्ति लगाये जा सकें और वे तुरन्त कमाने लगें।

(च) साधारणतः वे ही माल तैयार किये जायँ जिनकी खपत वहीं हो जाय। अर्थात् वे ही धन्धे कायम किये जायँ जिनकी आवश्यकता स्वतः गाँववालोंको हो। उदार चेता विदेशियोंने ग्रामीण जनताकी आर्थिक दशा सुधारनेकी गरजसे गाँवोंमें कुर्सी आदि बनानेके धन्धोंका प्रचार किया जिनकी लेशमात्र भी आवश्यकता वहाँके निवासियोंको नहीं है। इस तरहके उद्योग

मौलिक न होनेके कारण उनमें काम करनेवाले आदमियोंका लेशमात्र भी विकास नहीं होता क्योंकि उन्हें अपनी बुद्धिके प्रयोगका अवसर नहीं मिलता। जैसा नमूना उसे मिल जाता है उसीके अनुसार वह वस्तु तैयार कर देता है। कभी-कभी तो उसे यह भी मालूम नहीं होता कि जो वस्तु वह तैयार कर रहा है वह किस काममें आता है। उसकी मालकी खपतके लिए दूर-दूर बाजार ढूँढ़नी पड़ती है। इस तरह इस तरहके धन्धोंद्वारा आत्म-निर्भर होनेकी अपेक्षा उसे तर्ज तथा बाजार दोनोंके लिए दूसरों-पर निर्भर रहना पड़ता है। इस तरहके उद्योग खतरनाक और हानिकर हैं, क्योंकि इसके लिए उसे ऐसे लोगोंपर निर्भर रहना पड़ता है जो उसकी पहुँचसे बाहर हैं और साथ ही वह स्वतन्त्र और आत्मनिर्भर भी नहीं हो पाता। लेकिन जिस उद्योगके मालकी खपत गाँवमें ही हो जायगी, उस धन्धाको चलानेमें कारीगर अपनी सारी योग्यता लगाकर उसे सम्पन्न करनेका यत्न करेगा ताकि लोगोंकी माँग सन्तोषपूर्वक पूरी हो जाय क्योंकि उनकी आवश्यकता और रुचिको वह समझता है। साथ ही मालकी खपतकी उसे चिन्ता नहीं रहती क्योंकि बाजार उसके हाथमें है।

गाँववालोंके लिए भी यह उपयुक्त नहीं होगा कि वे मिलों अथवा विदेशोंकी आवश्यकताके लिए सामान पैदा करें। ऊख तथा तेलहनकी खेती इसके कटु अनुभव हैं। अभी हालकी बात है। ऊखकी पैदावार इतनी ज्यादा बढ़ गयी थी कि चीनी-कलवाले उनका पूरा उपयोग नहीं कर सकते थे और खेतोंमें

ऊख सूख गयी या जला दी गयी। जिन देशोंमें हमारे तेलहनकी

खपत होती थी, वहाँ युद्धके कारण तेलहनका जाना बन्द हो गया। इसका परिणाम यह हुआ कि तेलहनके अनेक व्यापारी और उत्पादक बर्बाद हो गये।

इसके अलावा यदि उत्पन्न मालकी खपत स्थानीय नहीं होगी तो गाँवके उत्पादकको दलालों और पोद्दारोंके चंगुलमें फँसना पड़ेगा जो स्थितिसे लाभ उठाकर सारा नफ़ा खुद हड़प जाते हैं और उत्पादकको कुछ नहीं बचता या बहुत थोड़ा नफ़ा मिलता है।

(छ) गाँवोंकी आर्थिक दशा सुधारनेका सबसे उत्तम उपाय मालकी खपत है। जो लोग नगरों या शहरोंमें रहते हैं उनकी यही धारणा रहती है कि ग्रामोद्योगके पुनः संगठन द्वारा गाँववालोंकी हालत सुधारनेके लिए चाहे जो भी यत्न वे करना चाहें, लेकिन चूँकि वे स्वतः गाँवोंमें ही नहीं रहते इसलिए वे कुछ नहीं कर सकते। लेकिन यह धारणा एकदम गलत है। उपभोक्ताके नाते उत्पादनके सञ्चालनका उनके हाथमें बहुत बड़ा साधन है। गाँवोंका सुधार चाहनेवाले शहरोंके निवासी, जबतक बड़े-बड़े कारखानों द्वारा तैयार मालका उपयोग करते रहेंगे, तबतक वे खुद ग्रामोद्योगपर भीषण प्रहार करते रहेंगे। लेकिन यदि वे यह निश्चय कर लें कि हर हालतमें वे कारखानोंका माल न खरीदकर गाँवोंमें बने मालको ही खरीदेंगे, तो इतनेसे ही गाँवोंके उत्पादनको पर्याप्त प्रोत्साहन मिलने लगेगा। यह तर्क पेश करना समीचीन नहीं होगा कि गाँवोंमें बना माल इतना भद्दा और मोटा होता है कि जबतक उनमें काफी सुधार न हो उन्हें खरीदा नहीं जा सकता, क्योंकि जबतक उनकी माँग और खपत नहीं होगी

तबतक उनका सुधार भी नहीं हो सकेगा। चूँकि उनकी माँग नहीं हो रही है इसलिए वे अच्छे तैयार नहीं होते। हमारे कारीगरोंमें वह पुरानी योग्यता, धैर्य और मेहनत आज भी मौजूद है जिसके कारण पुराने जमानेमें उनकी इतनी ज्यादा ख्याति और प्रतिष्ठा थी। यह हम उपभोक्ताओंपर निर्भर हैं कि हम उन्हें इस तरहका प्रोत्साहन दें कि उनके वे विशेष गुण एक बार पुनः चमक उठें। यही समय है कि हमलोग इस बातको समझें कि गाँवोंके उत्पादनके सुधारके लिए यह आवश्यक है कि हमलोग वहाँके बने मालका प्रयोग करें। यदि हमारे दो रुपया बचा लेनेसे गरीबोंकी हालत बिगड़ी रहती है तो उस बचतसे क्या लाभ ? यदि जन-साधारण दरिद्र ही बने रह गये तो एक-न-एक दिन इसका असर धनी उपभोक्ताओंपर अवश्य पड़ेगा। इसलिए हमलोगोंको यथाशीघ्र यह बात समझ लेनी चाहिए कि हमलोगोंके उत्थान और पतनका परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध है।

५—सहयोग

यूरोपके कुछ भागमें तथा कुछ दिनोंसे चीनमें भी सहयोग आन्दोलनकी जोरोंमें चर्चा चल पड़ी है। आत्मनिर्भर गाँवकी तो एक प्रकारका सहयोग संगठन ही है। यह सहयोग केवल उन लोगोंके बीच नहीं है जो एक ही तरहका पेशा करते हैं बल्कि उन लोगोंके बीच जो एक ही गाँवमें रहते हैं। पहलेकी अपेक्षा यह सहयोग कहीं ज्यादा ऊँचे दर्जेका है क्योंकि इसका प्रभाव उन लोगोंपर पड़ता है जो एक गाँवमें रहते हुए भिन्न-भिन्न

व्यापारमें लगे रहते हैं। यह उन सबको एक सूतमें बाँधकर रखता है और उनके जीवनके सभी अङ्गोंकी देखभाल करता है। इस तरहका सहयोग अस्थायी संगठन नहीं है कि सुविधाके अनुसार जब चाहा उसमें प्रवेश कर गये और जब चाहा उससे अलग हो गये। आज हम अपना काम एक धोबी या नाईसे लेते हैं। यदि उसका काम सन्तोष-जनक नहीं हो तो हम उसे अलग कर देते हैं और इसके बाद हम उसकी लेशमात्र भी चिन्ता नहीं करते। उसके प्रति हम अपनी किसी तरहकी जिम्मेदारी नहीं समझते। हमारा और उसका यह सहयोग परस्पर लाभके लिए हुआ था और जब उस तरहका लाभ हमें नहीं होता तो हम उससे अलग हो जाते हैं। इस तरहका सहयोग अस्थायी है और उसका उद्देश्य एकमात्र लाभ रहता है। लेकिन ग्रामोद्योगका सहयोग इससे एकदम भिन्न है। उसमें लोग जीवनभरके लिए एक-दूसरेके साथ सहयोग करते हैं। गाँवका नाई या धोबी जिन्दगी-भर आपकी सेवा करता है और आप उसकी जगहपर दूसरा नाई या धोबी नहीं नियुक्त कर सकते। जब हमलोग इस तरह स्थायी रूपसे एक-दूसरेसे बँध जाते हैं तो हमारा सहयोग केवल भौतिक नहीं रह जाता। जीवनके अन्य पहलुओंपर भी उसका प्रभाव पड़ता है। हमलोग एक-दूसरेमें दिलचस्पी लेने लगते हैं, एक-दूसरेके परिवारमें, विचारोंमें, काम और भावनाओंमें और इस तरह हमलोगोंका सहयोग सामाजिक और व्यापक हो जाता है। जिस बन्धनमें हमलोग बँध जाते हैं वह आर्थिक बन्धन न होकर मानवीय बन्धन होता है।

इस उद्देश्यकी सिद्धिके लिए यह आवश्यक है कि जहाँ-

तक सम्भव हो हमें सहयोगके सिद्धान्तका प्रयोग गाँवोंमें करना चाहिए। खेतीको ले लीजिये। वर्तमान समयमें एक किसानके पास औसत खेत ३ एकड़से ज्यादा नहीं है। वह भी एक जगह न होकर छोटे-छोटे टुकड़ोंमें बँटी है और गाँवभरमें फैली हुई है। इसलिए हमें गाँवके मालिकको राजी करना चाहिए कि वह गाँवभरके खेतको एक करके सहयोगके आधारपर खेती करावे। यदि यह सम्भव न हो तो किसानोंको इसके लिए राजी कर लिया जाय कि वे अपने खेतोंका बदलैन करके अपने-अपने खेतका एक चक बना लें जबतक खेतों पर व्यक्तिगत अधिकारकी व्यवस्था कायम रहती है, तब तक इसी व्यवस्थाको सर्वोत्तम समझकर खेतोंकी चकबन्दी हो जानी चाहिए ताकि किसी किसानके पास छिटफुट खेत न रहें। सहयोग द्वारा ही बीज, सिंचाई तथा खाद वगैरहकी व्यवस्था भी हो सकती है।

उद्योग-धन्धोंके बारेमें भी हम ऊपर लिख आये हैं कि एक तरहका उद्योग करनेवाले गाँवके सभी लोगोंको सहयोग-समिति या व्यवसाय संघमें सम्मिलित हो जाना चाहिए और गाँववालोंकी आवश्यकता पूरी करनी चाहिए। ईमानदारीसे काम करना चाहिए और जो कुछ नफा हो उसे आपसमें बराबर बाँट लेना चाहिए।

जिस आर्थिक व्यवस्थाकी हम कल्पना कर रहे हैं उस आर्थिक व्यवस्थामें प्रत्येक गाँवके एक ही तरहके धन्धोंमें लगे लोगोंका सहयोग सङ्गठन तो होगा ही पर साथ ही एक ही तरहका धन्धा करनेवाले अनेक गाँवमें रहनेवालोंका भी सहयोग-सङ्गठन आवश्यक होगा क्योंकि इसके द्वारा वे अनेक ऐसे

धन्धोंको सुविधानुसार कर सकेंगे जिसे सम्पन्न करना एकाकी किसी भी गाँवके कारीगरोंके लिए सम्भव नहीं होगा। उदाहरण-के लिए कागज बनानेके लिए पल्प या लुगदा तैयार करनेके लिए विद्युत् शक्तिका प्रयोग, चमड़ेके कामके लिए, चमड़ा सिझानेकी केन्द्रित व्यवस्था अथवा बड़े पैमानेपर वर्तन सिझानेका काम। इस तरहके सभी कामोंको जनता द्वारा ही सम्पन्न किया जाना चाहिए, राजके हाथमें यह काम नहीं रहना चाहिए। इस तरह-का सहयोग-सङ्गठन अखिल भारतीय चर्खा-सङ्घ है जिसका जाल देशभरमें फैला हुआ है। लेकिन अभीतक वह केवल मात्र कपड़ोंका काम कर रहा है अर्थात् सूतकी कताई, कपड़ेकी बुनाई और उसकी विक्रीमें ही वह व्यस्त है। हालमें ही यह निर्णय किया गया है कि चर्खा सङ्घ भी विकेन्द्रित कर दिया जाय और ग्रामीण जीवनके सभी पहलुओंकी देख-भाल वह करे अर्थात् ग्रामीण जीवनके आदिसे लेकर अन्ततककी व्यवस्था वह करे। इससे आशा की जाती है कि चर्खा-सङ्घ गाँवमें सहयोग-सङ्गठनका सञ्चालन समीचीन रूपसे करेगा।

एक ही तरहके धन्धोंमें लगे हुए लोगोंका सहयोग-सङ्गठन इनके पेशेसे सम्बन्ध रखनेवाली सभी समस्याओंकी देखभाल करेगा। हमारे देशके लोग अधिकांश निरक्षर और असङ्गठित हैं। इसलिए उनके लिए यह सम्भव नहीं होगा कि वे भिन्न-भिन्न सहयोग-संगठनोंमें भाग ले सकें। वे सलाह-मसविदा या पथ-प्रदर्शनके लिए दूसरे सङ्गठनमें जाना पसन्द नहीं करेंगे। इसलिए उनके लिए यही उपयुक्त होगा कि उनका निजी सहयोग-सङ्गठन ही उनकी सारी समस्याओंकी देख भाल करे।

प्रत्येक धन्धाके सहयोग-सङ्गठनके अतिरिक्त एक केन्द्रीय सहयोग-सङ्गठनका होना अनिवार्य है जो गाँवके सभी सहयोग-सङ्गठनोंका सञ्चालन और मेल-मिलाप कर सके। स्वभावतः इस तरहकी केन्द्रीय संस्था ग्राम-पञ्चायत होगी जो अखिल भारतीय चर्खा-सङ्घ, अखिल भारतीय ग्रामोद्योग-सङ्घ या बुनियादी तालीमी-सङ्घके किसी कार्यकर्ताकी देख-रेखमें अपना काम करेगी। लेकिन जिस गाँवकी पञ्चायत ऐसी समृद्ध नहीं है कि इन कामोंकी देखभाल कर सके, आरम्भमें जिसकी बहुत अधिक सम्भावना है, ऐसे गाँवोंमें कार्यकर्ताओंको चाहिए कि ग्रामोत्थान कमेटीकी स्थापना कर लें। इस कमेटीका उद्देश्य यह होना चाहिए कि सहयोग तथा अन्य अध्यवसायोंसे वह गाँवका विकास हर पहलूसे करें तथा गाँवकी प्रारम्भिक आवश्यकताको पूरा करनेके लिए गाँवको आत्म-निर्भरताकी ओर ले जायँ जिससे गाँवके लोग अपना सारा प्रबन्ध आपसे-आप कर लें। इस तरहके सङ्गठनों द्वारा हमें गाँवके लोगोंको आत्मनिर्भरताके गुणको सिखाना होगा जिससे वे लोग एक-दूसरेके कल्याणके लिए रहना और काम करना सीखें क्योंकि अहिंसात्मक ग्रामोद्योग आर्थिक-व्यवस्थाका यही अन्तिम ध्येय है।

९—शिक्षा

उपर्युक्त प्रकारकी आर्थिक-व्यवस्थाकी नींव डालनेके लिए सबसे आवश्यक वस्तु शिक्षा है। लेकिन वह शिक्षा आधुनिक युगकी भाँति किताबी शिक्षा नहीं होनी चाहिए। हमारी शिक्षा-का आधार गाँवका कोई पेशा या धन्धा होना चाहिए, और

उसका प्रभाव बालक-जीवनके सभी अंगोंपर पड़ना चाहिए जिससे कि उसके शरीर, मस्तिष्क तथा आत्माका विकास हो और उसकी शारीरिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक विकास हो। गाँवों-में इस तरहकी शिक्षाका प्रचार किया जाय जिससे बालकोंकी शक्तिका विकास हो और वह अपने दैनिक-जीवनके योग्य बन सकें और अपने पड़ोसी, अपने परिवार, अपने ग्राम, अपने पेशे-वालों, अपने जिला, प्रान्त, देश तथा अन्तमें विश्वके लिए उपयोगी सिद्ध हो। वर्तमान युगके सभी राष्ट्र—चाहें वे जनतन्त्र हों, फासिस्ट हों या नाजी हों—शिक्षाके महत्वको भली भाँति समझते हैं और स्कूलोंका उपयोग बालकोंके मस्तिष्कमें उन भावोंके भरनेके लिए करते हैं जिसे वे उपयुक्त समझते हैं। अहिंसात्मक आर्थिक-व्यवस्थाके लिए—जिसका आधार शारीरिक श्रम है—शिक्षा-प्राप्त मस्तिष्क, अनुशासनयुक्त तथा दक्ष व्यक्तियोंकी और भी अधिक जरूरत है। इसलिए गाँवोंके पुनर्निर्माणमें ऐसी ही शिक्षाकी अधिक आवश्यकता होगी जो युवकोंमें इस तरहके गुणोंका समावेश कर सके।

वर्तमान युगमें पूँजीवादी तथा समाजवादी दोनों व्यवस्थामें परिणामपर ही सबसे ज्यादा जोर दिया जाता है। किसी भी योग्य व्यक्तिको उसकी योग्यता या श्रमके लिए पारितोषिक नहीं दिया जाता बल्कि जीवनके विभिन्न क्षेत्रोंमें—चाहे वह कला हो, विज्ञान हो या उद्योग-धन्धा हो—उसकी सफलताके लिए पारि-तोषिक दिया जाता है। कैसा भी योग्य और परिश्रमी व्यक्ति क्यों न हो, लेकिन यदि उसके परिश्रमके फलको जनताने पसन्द नहीं किया तो उसको पूछनेवाला कोई नहीं है और उसका सारा

श्रम बेकार समझा जाता है। यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो पुरस्कार और प्रशंसाका पात्र वही व्यक्ति है जो अपनी बुद्धिका पूरा प्रयोग और कड़ा परिश्रम करता है लेकिन किसी अनिवार्य कारणवश उपयोगी परिणाम निकालनेमें सफल नहीं होता, न कि वह व्यक्ति जो बिना अध्यवसाय और परिश्रमके ही सफलता प्राप्त कर लेता है। उसने जो परिश्रम किया है उसे व्यर्थ नहीं कहा जा सकता। जहाँतक वह पहुँच सका है उसे आधार बनाकर आगे भी प्रयास किया जा सकता है। दूसरे, परिणाम तो किसीके अपने हाथकी चीज नहीं है। लेकिन किसी काममें बराबर संलग्न रहना और अपने कामसे किसी प्रकार विचलित नहीं होना, जो काम हाथमें हो उसे पूरा करनेके लिए सतत यत्न करते रहना, इसके लिए जिस एकाग्रताकी जरूरत है वह सामाजिक दृष्टिसे बहुत मूल्यवान् है और उसकी प्राप्तिके लिए प्रत्येक व्यक्तिको प्रोत्साहित करना चाहिए। इसके अलावा कोई भी व्यक्ति चाहे वह कितना भी बुद्धिमान् और कुशाग्रबुद्धि क्यों न हो, जबतक श्रम नहीं करेगा सफलता नहीं प्राप्त कर सकता। इस दृष्टिसे मनुष्यमें अन्तर्हित गुणोंसे श्रमके बिना लाभ नहीं उठाया जा सकता। इसलिए शिक्षामें इसी बातपर ज्यादा ध्यान रखना चाहिए कि व्यक्तिमें ये सब गुण आ जायँ। केवल सफलता उसका मापदण्ड नहीं होना चाहिए।

इसी तरह इस नयी आर्थिक व्यवस्थाकी शिक्षामें सबसे योग्य वही समझा जाना चाहिये जिसमें जनताको संगठित करने तथा लोगोंको मेलजोलसे रखनेकी क्षमता हो और इसके विरुद्ध

जो व्यक्ति धूर्त प्रतीत हो और लोगोंमें द्रोह या वैमनस्य फैला सके उसे इससे दूर रखना चाहिये।

पूँजीवादी व्यवस्थामें सामाजिक जिम्मेदारी सम्हालनेकी किसी तरहकी शिक्षा नहीं दी जाती। प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने कामके लिए जिम्मेद्दार होता है और उसीके अनुसार उसकी निन्दा या प्रशंसा होती है। इस तरह वह केवल वैयक्तिक जिम्मेदारी समझ सकता है और समाजके प्रति भी उसकी कोई जिम्मेदारी है या समाजका वह एक अंग है, इस बातको वह नहीं समझता। इसलिए उपाय ऐसा होना चाहिये जिसमें किसी कामके लिए निन्दा या प्रशंसा किसी व्यक्ति विशेषको न प्राप्त हो सके, बल्कि वह समूचा दल या समाज उसका पात्र समझा जाय जिसमें वह रहता है। इसका फल यह होगा कि प्रत्येक व्यक्ति वैयक्तिक जिम्मेदारीका बिचार छोड़कर उस समस्त समुदाय या जमातके लिए अपनेको जिम्मेदार समझेगा।

इसी तरह बालकोंकी शिक्षा भी सामूहिक होनी चाहिये अर्थात् उसे इस तरहकी शिक्षा मिलनी चाहिये जिससे वह सबसे अलग होकर नहीं बल्कि लोगोंके साथ मिलजुलकर काम करना सीखे। उसे संगठित रूपसे काम करनेकी शिक्षा मिलनी चाहिये। जहाँ वह समाजको अपने साथ लेकर नहीं चल सकता वहाँ उसे समाजकी बात मानकर चलना सीखना चाहिये। उसे उन लोगोंकी आज्ञा माननेकी आदत डालनी चाहिये जो उसके नेताके रूपमें उसके ऊपर तैनात किये गये हों। इन सब कामोंके लिए आवश्यक है कि बालकोंका दल बनाकर खेलकूद, कवायद अथवा

स्काउटिंगका आयोजन किया जाय और इस तरह उन्हें यह शिक्षा दी जाय।

इस तरहके समाजमें जिसका आधार अहिंसा है, इस तरहकी शिक्षाको प्रचलित नहीं होने देना चाहिये जिससे लड़कोंमें भय उत्पन्न होता हो क्योंकि भयका सबसे घातक परिणाम यह होता है कि वह साहसका लोपकर लोगोंको कायर बना देता है। आजकल मारपीट, सजा, धमकी अथवा परीक्षाके भयसे बालकोंसे इस तरहके काम कराये जाते हैं जिसे वह पसन्द नहीं करता। कोई भी अहिंसात्मक समाज बालकोंके दिलमें इस तरहके भयको स्थान नहीं देना चाहेगा। क्योंकि अहिंसात्मक समाज अपनी जनताको निर्भीक, साहसी, बलवान, मुसीबतोंका धैर्यसे सामना करनेवाला और सहर्ष मृत्युका मुकाबला करनेवाला बनाना चाहता है। इसलिए यदि बचपनसे ही बालकोंको निर्भीक बनानेका यत्न नहीं किया जायगा तो उसमें वह गुण नहीं पैदा हो सकते जो एक सच्चे सत्याग्रहीमें होना चाहिये और समाज उससे जो आशा करता है उसकी पूर्ति भी वह नहीं कर सकता। क्योंकि सच्चा सत्याग्रही अपने शत्रुको जीतनेके लिए अपनेको सहर्ष विपत्तिमें डालनेके लिए तैयार रहता है।

ग्रामोद्योगकी आर्थिक व्यवस्थामें शिक्षाका एक दूसरा प्रयोजन भी है। उसे भी सदा ध्यानमें रखना होगा अर्थात् शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जिससे व्यक्तिका दृष्टिकोण सङ्कीर्ण होकर अपने आपतक ही सीमित न रह जाय बल्कि वह व्यापक होकर विश्वभरको अपनावे। ग्रामोद्योगकी आर्थिक व्यवस्थामें गाँववालोंके सामने यह प्रलोभन उपस्थित हो सकता है कि वे उन सारे साध-

नोंको अपने सुखके लिए ही सीमित रखें और अन्य लोगोंके लिए परीशान न हों। यह बहुत बड़ा खतरा है और यदि इसे रोकनेकी व्यवस्था न की गयी तो सारे देशमें छोटे-छोटे दल कायम हो जायँगे जो अपनेतक ही सीमित रहेंगे। इसलिए इस व्यवस्थामें जिन लोगोंके ऊपर शिक्षाका भार हो उन्हें विविध उपायों द्वारा—जैसे भूगोल, इतिहास, साहित्य, कला, सङ्गीत, तथा धार्मिक शिक्षा, व्याख्यान, यात्रा तथा पीड़ित क्षेत्रोंके लिए सहायता आदिके सङ्गठन द्वारा—बड़े बूढ़े तथा बालकोंके हृदयमें देशप्रेम, जगत-प्रेम तथा समाज प्रेमका भाव भरते रहें और उन्हें यह समझाते रहें कि भाषा, धर्म तथा जातिके भेदभावके रहते हुए भी सारे देशके लोग भाईके समान हैं और सब लोगोंमें सांस्कृतिक एकता है। इसी तरहके शिक्षाके प्रभावसे संयुक्त राष्ट्र अमेरिका भिन्न-भिन्न देश तथा राष्ट्रीयताके निवासियोंमें एकताका भाव भरकर उन्हें अमेरिकाका पूर्ण नागरिक बनानेमें सफल हो सका है। इसी तरह शिक्षा द्वारा अपने देशवासियोंको एक राष्ट्रके रूपमें सङ्गठित करके रखना हमारे लिए कहीं सहज होगा। इसके साथ ही हमलोगोंको उस सङ्कीर्ण राष्ट्रीयताकी भावनाको पनपने नहीं देना होगा जिसका उद्देश्य दूसरे देशोंको पैरों-तले रौंदकर अपने देशको ऊपर उठाना हो या दूसरे देशोंको आपसमें लड़ाकर, अपनी गोटी लाल करना हो। हमलोगोंको सतत प्रयत्नशील रहना चाहिये कि देशवासियोंके हृदयमें दूसरे देशोंके लिए आदर तथा प्रतिष्ठाका भाव उदय हो।

स्कूलोंमें शिक्षा देनेके अलावा अन्य उपायोंसे भी बालकों तथा बड़े बूढ़ोंकी शिक्षा और जानकारी को बढ़ानेका यत्न करते

रहना चाहिये जैसे प्रदर्शिनी, मेला, सङ्गीत-सम्मेलन, धार्मिक सभाएँ, व्याख्यानमाला, पुस्तकालय, पत्र आदि द्वारा। सफाई, स्वास्थ्य, रक्षा, सामाजिक सुधार, गाँवकी रक्षा और सुधार, सांस्कृतिक सुधार आदिकी शिक्षाके लिए पुरुषों तथा स्त्रियोंकी अलग-अलग समितियाँ कायम की जानी चाहिये। सङ्कीर्ण साम्प्रदायिकताके लिए इनमें कोई स्थान नहीं रहना चाहिये और सभी जाति तथा श्रेणीके लोगोंके लिए यह खुला रहना चाहिए। इस तरहकी एक गाँवकी समिति इसी तरहकी दूसरे गाँवकी समितिसे मेल-जोल बढ़ा सकती है। भिन्न-भिन्न गाँवोंकी समितियोंमें इस बातकी प्रतिस्पर्धा भी होनी चाहिए कि नियत समयके भीतर इस तरहका सबसे ज्यादा काम कौन समिति पूरा करती है। आजकल गाँवोंमें दलबन्दी, वैमनस्य, जातिभेद, छुआछूत, जातीय सामाजिक रीतिरिवाज, अज्ञानता, रोग तथा गन्दगीका बोलबाला है। इन दोषोंको दूर करनेका सबसे उत्तम उपाय गाँववालोंका ही सङ्गठित प्रयास होगा। इससे युद्ध करनेके लिए गाँवके प्रत्येक व्यक्तिको उचित रीतिसे शिक्षित होनेकी आवश्यकता है। इसके लिए उपयुक्त शिक्षा उन्हें स्कूलोंमें, खेलकूदके मैदानोंमें, खेतोंमें, कारखानोंमें, गाँवकी सभाओंमें, खेल-तमाशोंमें, मन्दिरों, मस्जिदों, तथा गिरिजोंमें मिलती रहनी चाहिए। आर्थिक सङ्गठनकी शिक्षाके साथ-ही-साथ इस तरहकी सर्वतोमुखी शिक्षा उन्हें दी जानी चाहिए और सामाजिक गुणोंपर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए। यदि हम चाहते हैं कि हमारे ग्रामीण जीवनमें भी स्फूर्ति पैदा हो और तभी आर्थिक व्यवस्थाका सङ्गठन हो तो हमें यह सब काम तन्मयतासे पूरा करना होगा।

७—महिलाएँ

ऊपर लिखा जा चुका है कि इस नयी आर्थिक व्यवस्थाको स्थापित करनेके लिए शिक्षा तथा सामाजिक आदर्शोंका प्रवेश नितान्त आवश्यक है। इस कामकी सफलतापूर्वक पूर्तिमें महिलाओंका स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण होगा। इसका आधार अहिंसात्मक होनेके कारण महिलाओंको यह अपनी ओर अधिक आकृष्ट कर सकेगा। अहिंसात्मक समाजमें ही महिलायें अपनी पूर्ण उपयोगिता सिद्ध कर सकती हैं और अपनी विशेष योग्यताका पूर्ण उपयोग कर सकती हैं। हिंसा-प्रधान समाजमें स्त्रियोंका स्थान सदा गौण रहता है क्योंकि पुरुषोंकी अपेक्षा वे कमजोर समझी जाती हैं। लेकिन अहिंसात्मक समाजमें नियन्त्रणका आधार शारीरिक बल न होकर चरित्र-बल होगा इसलिए स्त्रियाँ सफलतापूर्वक पुरुषोंका मुकाबला कर सकती हैं। बल्कि वे पुरुषोंसे बढ़कर अपनेको साबित कर सकती हैं, क्योंकि पुरुषोंकी अपेक्षा स्त्रियाँ कहीं ज्यादा सहनशील, धीर, त्यागी, उदार, धार्मिक तथा अनुशासनप्रिय होती हैं। अहिंसात्मक समाजके लिए इन गुणोंकी सबसे अधिक आवश्यकता है। इस नयी आर्थिक व्यवस्थाको सम्पन्न करनेमें हमलोगोंको स्त्रियोंपर बहुत-कुछ निर्भर करना पड़ेगा।

बालकोंके निर्माणमें स्त्रियोंका बहुत बड़ा हाथ रहता है क्योंकि बचपनका सारा समय स्त्रियोंकी देख रेखमें ही बीतता है और यह समय मनुष्य-जीवनका सबसे महत्वपूर्ण युग है। यहींपर बालक अपनी मातासे धर्म, सदाचार, कला तथा चरित्र-

की शिक्षा पाता है। बचपनकी शिक्षाका प्रभाव अमिट होता है।

माता या पत्नीकी हैसियतसे पुरुषपर भी उसका प्रभाव नगण्य नहीं होता। अनेकों पुरुष ऐसे मिलेंगे जिनके उत्थानका कारण उनकी माताओंका प्रभाव है। कितने ऐसे भी मिलेंगे जिन्हें उनकी पत्नियोंके प्रभावने महान् बनाया है। स्त्रियोंसे भलाई और बुराई दोनोंका उद्गम हो सकता है। जो स्त्रियाँ अपने प्रभावसे पुरुषको महान् बना सकती हैं, वे यदि चाहें तो अपने प्रभावसे आगे बढ़नेसे रोककर उसे कीचड़में घसीट सकती हैं। आदमका पतन हौवाके कारण ही हुआ। कम-से-कम बाइबिलमें यही लिखा है। आज भी, पुरुष कितना ही बड़ा सुधारक क्यों न हो, यदि उसकी माता और पत्नी उसके सुधारक विचारोंके साथ सहानुभूति नहीं रखतीं तो अपने घरमें उन सुधारोंका प्रचार उसके लिए कठिन हो जाता है। हाथके कूटे चावलको मिलके चावलसे वह कितना ही उपयोगी क्यों न समझे और उसे ही वह क्यों न खाना चाहे, वह अपने मुस्लिम, तथा ईसाई भाईको अपने घरमें भोजन कराना कितना ही उचित क्यों न समझे, स्त्री-शिक्षाका वह कितना बड़ा पक्षपाती क्यों न हो, परदा–प्रथाको समूल नष्ट कर देनेके लिए वह कितना भी व्यग्र क्यों न हो, और जातपाँतकी संकीर्ण प्रथाको मिटा देनेके लिए वह कितना भी आतुर क्यों न हो, लेकिन यदि उसकी माता या पत्नी इसे स्वीकार करनेके लिए तैयार नहीं हैं तो इन्हें काममें लाना उसके लिए कठिन है। इन कामोंमें उसे तभी सफलता मिल सकती है जब ये लोग उसे स्वीकार कर लें।

परिवारके भोजन, वस्त्र तथा अन्य आवश्यकताओंका भार स्त्रियोंके ऊपर होनेके कारण उपभोक्ताके नाते आर्थिक क्षेत्रमें भी स्त्रियोंका व्यापक प्रभाव रहता है। मान लीजिए कि उसे खादी पसन्द नहीं है और वह खादी न खरीदकर विदेशी या मिलका बना कपड़ा खरीदती है तथा गाँवमें तैयार अन्य चीजोंको न खरीदकर वह ब्रिटिश माल, जापानी खिलौना, जर्मन चाकू, इटलीका आलू, बर्माका चावल, आस्ट्रेलियाका सेब, जेकोस्लावाकियाकी चूड़ियाँ, अमेरिकाके जवाहरात तथा भारतीय मिलोंके सामान जैसे ताताका साबुन, मिलका तेल, चीनी तथा बनस्पति घी खरीदती है। इससे जबतक स्त्रियाँ अपने कर्तव्यको नहीं समझेंगी और अपने पड़ोसी तथा गाँवकी सहायताके लिए जहाँतक सम्भव हो गाँवकी बनी चीजें ही नहीं खरीदेंगी तबतक हमलोग ग्रामोद्योगके कामको कभी भी आगे नहीं बढ़ा सकेंगे।

आप बालकों तथा पुरुषोंको भले ही पूर्ण शिक्षित बना लें। लेकिन जब तक आप स्त्रियोंकी ओरसे असावधान या उदासीन रहेंगे तबतक आपकी हालत नहीं सुधर सकती, आप जहाँके तहाँ पड़े रहेंगे। कोई भी समाज अपनी महिलाओंकी उपेक्षाकर आगे नहीं बढ़ सकता, उनसे ऊपर नहीं उठ सकता। किसीने ठीक ही कहा है कि एक पुरुषको शिक्षित बनाकर आप एक व्यक्तिमात्रको ही शिक्षित बनाते हैं लेकिन एक महिलाको शिक्षित बनाकर आप उस परिवारभरको शिक्षित बनाते हैं। इसलिए बालकों और पुरुषोंकी शिक्षापर ध्यान देनेकी अपेक्षा लड़कियों और स्त्रियोंकी शिक्षापर ध्यान देना कहीं ज्यादा आवश्यक है। इस बातको हमें भलीभाँति समझ लेना चाहिए और स्त्रियोंके बीच

शिक्षाके प्रचारके व्यापक प्रयत्नमें लग जाना चाहिए। उन्हें भोजनकी व्यवस्थाकी शिक्षा दी जानी चाहिए, स्वास्थ्यके नियमों-की शिक्षा दी जानी चाहिए, सफाईकी शिक्षा दी जानी चाहिए, बच्चोंके पालन-पोषणकी शिक्षा दी जानी चाहिए, ग्रामोद्योग, सहायक पेशे और कलाकी शिक्षाके साथ-ही-साथ उन्हें धर्मका वास्तविक मर्म समझाना चाहिए, सदाचार तथा सच्चरित्रताकी शिक्षा दी जानी चाहिए जिससे बहमों और कुविचारोंसे उनकी प्रवृत्ति हटे, जातपाँतकी सङ्कीर्णता उनमेंसे दूर हो, और उनके हृदयोंमें भ्रातृभाव, एकता तथा संगठनका भाव उदय हो जिससे समाज-की हालत सुधरे। किसी भी जातिकी सांस्कृतिक रक्षाका भार औरतोंपर ही निर्भर है। यदि हमलोग एक बार भी सफलता पूर्वक इस नयी आर्थिक व्यवस्थाके आधारपर अपनी संस्कृतिका ज्ञान उन्हें करा दें तो वे लोग इसके प्रचारमें पूर्ण योगदान देंगी और भावी सन्तानको उसका ज्ञान कराती रहेंगी।

८—धर्म या मजहब

ग्रामोद्योगके पुनःनिर्माणमें धर्मका भी बहुत बड़ा हाथ है। हमारे ग्रामीण जीवनकी धार्मिक परम्परामें—चाहे वह सनातन हिन्दू धर्म हो, इस्लाम धर्म हो, या ईसाई धर्म हो—बहुत बड़ा खजाना भरा पड़ा है जिसका उपयोग हमलोग भलीभाँति कर सकते हैं। उसकी ओरसे उदासीन रहना उचित नहीं होगा। जब कोई सुधारक जनताकी धार्मिक विचारधाराके साथ मिल जाता है तो वह अतीतका इस तरहका प्रभाव उत्पन्न करनेमें समर्थ होता है जिनकी सहायतासे बड़े-बड़े काम हो सकते हैं।

गाँधीजीकी सफलताका यही रहस्य है। उन्होंने सत्य, अहिंसा, यज्ञ, तपस्या, कर्म तथा निष्कर्म और भक्ति आदि पुरानी धार्मिक भावनाओंको नया रूप देकर खड़ा किया है। सदियोंसे समाज इनकी महत्ता और श्रेष्ठता स्वीकार करता चला आया है। महात्माजीने उन्हीं प्राचीन धार्मिक विचारोंकी वर्तमान युगके अनुकूल व्याख्यामात्र कर दी है। इस तरह उनकी सहायतासे उन्होंने इस देशमें नया युग उपस्थित कर दिया है। उन्होंने उन-लोगोंका अनुकरण नहीं किया जो पश्चिमी सभ्यता और शिक्षा-के रंगमें अपनेको रँगकर अपने तथा जनताके बीच ऐसी गहरी खाई पाते हैं कि जिसे पारकर जनताके पास पहुँचना उनके लिए असंभव है और इसलिए वे उनका नेतृत्व नहीं कर सकते। गांधीजीने उन भावनाओंके अन्दर प्रवेश किया जो सदियोंसे जनताके हृदयोंमें निहित हैं और उनके जीवनका अंग बन गयी हैं और उन्हें अपने जीवनमें व्यावहारिक रूपमें उतारा। यही कारण है जनता उनकी ओर आकृष्ट हो गयी और आँख मूँद-कर उनका अनुयायी बन गयी। इसलिए जो व्यक्ति गाँववालोंके धार्मिक जीवनमें प्रवेशकर उनका पुनरुत्थान करना चाहता है उसके हाथमें अमोघ शक्ति आ जाती है। उसे केवल रीति रिवाज, धार्मिक कृत्य तथा अन्य सामाजिक व्यवहारों और आचरणोंके बाहरी रूपसे हटकर उसकी आत्मामें प्रवेश करनेकी आवश्यकता है। तब वह देखेगा कि उनमें अहंकाररहित, निःस्वार्थ सेवाका कितना विशाल भाव मौजूद है, जहाँ संकीर्णताके लिए कोई स्थान नहीं है। सभी धर्मोंकी शिक्षाका यही मूलमन्त्र है।

जिस तरह महात्मा गांधीने किया है उसी तरह यदि इसी

तरहकी धार्मिक भावना लेकर हम देहातोंमें काम करना आरम्भ करें तो निश्चय ही सत्य और प्रेमकी स्थापना करनेमें हम समर्थ होंगे। इस नयी अर्थिक व्यवस्थामें हमें सत्य और अहिंसा दोनोंकी समान रूपसे आवश्यकता होगी। इन्हें आधार बना लेनेपर हमारे निर्माणका काम पूर्णरूपसे सुरक्षित रहेगा। उसी अवस्थामें लोगोंका धार्मिक जीवन, धर्म ग्रन्थोंके प्रति उनका अनुराग, नियम, निष्ठा, विधान, रीतिरिवाज, उपवास, व्रत तथा भोज आदिका झुकाव इस तरह किया जा सकता है जिससे सबका कल्याण हो सके। एक कट्टर धार्मिक व्यक्ति किसी अछूतके हाथका भोजन या अग्राह्य भोजन जैसे मांस वगैरह खानेकी अपेक्षा भूखों मर जाना ज्यादा पसन्द करेगा। सिद्धान्तोंके प्रति इतनी दृढ़ और कट्टर प्रवृत्ति—जिसमें प्राणतक दे देना सहज है—का झुकाव समाजके कल्याणकी ओर किया जाना अर्थात् लोग वही वस्तु इस्तेमाल करें जो उनके पड़ोसमें पैदा हो, वही अन्न ग्रहण करें जो उनके पड़ोसी या वे खुद उत्पन्न करें, कितना लाभदायक होगा! इस तरह पुरानी प्रथामें नवजीवनका सञ्चार होगा और कहीं कहीं नये जीवनका प्रकाश नये रूपसे होगा और सामाजिक व्यवहारोंपर धर्मकी मुहर लग जायगी।

इतने बड़े कामको सम्पन्न करनेके लिए यह आवश्यक है कि गाँवका कार्यकर्ता सत्य और अहिंसाका कट्टर पुजारी हो। इतना ही नहीं, बल्कि हिन्दू, मुसलमान तथा ईसाई धर्मकी शिक्षाके अनुसार उसे निस्पृहताकी शिक्षा दी गयी हो क्योंकि स्वार्थका भाव आते ही सत्यका गला घोंट दिया जाता है और अहिंसा कोसों दूर भाग जाती है। यही कारण था कि

प्राचीन युगमें जिन ब्राह्मणोंके हाथमें जनताके आर्थिक विकासका भार सौंपा जाता था, उन्हें सांसारिक आवश्यकताकी जिम्मेदारियोंसे बरी कर दिया जाता था, उसकी दैनिक आवश्कताकी पूर्ति दूसरे लोग करते थे। इससे यह तात्पर्य निकलता है कि राष्ट्रके निर्माताको राष्ट्रीय भिखारी, नङ्गा फकीर होना चाहिये और इसका पालन पूर्ण रूपसे होना चाहिये। जबतक इस तरहके व्यक्ति जो सत्य और अहिंसाके सच्चे पुजारी हों, कार्यकर्ताके रूपमें प्रकट नहीं होंगे, तबतक राष्ट्र-निर्माणका कोई भी काम स्थायी नहीं हो सकेगा, निर्माणका जो भी काम किया जायगा वह कच्चा होगा और कभी-न कभी, वह ढह जायगा। भारतका प्राचीन गौरव इसीमें था और यही शिक्षा उसे संसारको देनी है। आर्थिक पुनरुत्थानकी बड़ी-घड़ी व्यवस्थाएँ जिनके द्वारा देशकी जनताको हर तरहका भौतिक साधन और सुख प्रदान करनेकी व्यवस्था की जा रही है, सत्य और अहिंसाके प्राचीन सिद्धान्तोंके अभावमें, हमारा उपकार नहीं कर सकतीं; बल्कि हमें अनन्त दुख और यातनामें ढकेल देंगी। यदि हम अपने देशवासियोंका आर्थिक जीवन दृढ़ भित्तिपर खड़ा करना चाहते हैं और उनमें ऊँचे विचार और व्यवहारका भाव भरना चाहते हैं तो हमारे लिए यह परम आवश्यक है कि हम उनमें धार्मिकता, निस्वार्थता तथा दूसरोंके प्रति उदारताका भाव भरें। इसके विना हमें स्थायी शक्ति नहीं प्राप्त हो सकती। ग्रामोद्योग तथा अन्य आर्थिक पुनरुत्थानकी योजनाओंमें यही सबसे बड़ा अन्तर है। ग्रामोद्योग धर्म तथा सदाचारको जो महत्व प्रदान करता है वह किसी भी अन्य आर्थिक योजनामें नहीं पाया जाता। इस प्राचीन

धार्मिक सिद्धान्तपर ग्रामोंके निर्माणका फल यह होगा कि सहयोग, एक दूसरेपर निर्भर रहनेका भाव, एक दूसरेकी सहायता करनेका भाव तथा दूसरोंके परस्पर सहयोगकी शिक्षा प्राप्त कर लेनेपर वे स्वभावतः विस्तृत दायरेमें इसका प्रयोग सीखेंगे और इसका उपयोग राष्ट्र तथा विश्वके कल्याणके लिए निश्चय रूपसे करेंगे।

(ख) राजकी सहायतासे पुनरुत्थान :—

यह बतलानेकी आवश्यकता नहीं है कि किसी भी देशके आर्थिक जीवनका उस देशके राजनीतिक जीवनके साथ अटूट सम्बन्ध है। किसी भी अधीन देशके लिए तो यह और भी लागू है। इसका प्रधान कारण यह है कि विदेशी सरकारका सारा अध्यवसाय अधीन देशको अपने लाभके लिए काममें लाना है। इसलिए अधीन देशका सारा भविष्य इस बातपर निर्भर करता है कि उस देशके सम्बन्धमें विदेशी सरकारकी क्या नीति होगी। जिस किसीने भारतके आर्थिक पुनरुत्थानपर गौरसे विचार किया है उसे यह बात प्रत्यक्ष हो जाती है कि देशकी वर्तमान अवस्थामें उसे उन विरोधी तत्त्वोंका मुकाबला करना पड़ता है जिनपर न तो किसी व्यक्ति विशेष या सङ्गठनका किसी तरहका नियन्त्रण है—खासकर जहाँतक जमीन और कृषिका सम्बन्ध है। यही कारण है कि व्यक्तिगत हैसियतसे हमलोग जनताकी आर्थिक दशा सुधारनेके लिए जो कुछ कर सकते हैं, उसकी चर्चा करते हुए हमने कृषिके पुनरुत्थानके सम्बन्धमें कुछ नहीं कहा है, यद्यपि हमारे देशके राष्ट्रीय जीवनके लिए

यह सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण है। हमारे देशके कृषिके उत्थान तथा उद्योग-धन्धोंके पुनरुत्थानके लिए सरकारी सहायताकी अनेक अंशोंमें बहुत अधिक आवश्यकता है। इसलिए इनमें व्यापक परिवर्तन करनेके लिए सरकारकी सहायता प्राप्त करना नितान्त जरूरी है। हम यहाँ कुछ स्थूल विषयोंका ही उल्लेख कर देना चाहते हैं क्योंकि जबतक हम लोगोंकी वर्तमान राजनीतिक दशा कायम रहती है तबतक इन बातोंको सदा ध्यानमें रखनेकी आवश्यकता होगी :—

१—खेतोंकी नवैयत तथा मालगुजारीमें इस तरहके उलट-फेर, परिवर्तन और सुधार करना आवश्यक है जिससे किसानोंकी आमदनी बढ़ जाय। खेतोंके वर्गीकरणकी कोई निश्चित और स्थिर योजना होनी चाहिए और मालगुजारीका भी कोई न्याय-पूर्ण समान आधार होना चाहिए। मालगुजारी गल्लेके रूपमें अदा करनेकी सुविधा होनी चाहिए।

२—सिंचाईकी सुविधाजनक व्यवस्था होनी चाहिए। खेतोंकी उर्वरा-शक्तिको नष्ट होनेसे बचानेकी व्यवस्था होनी चाहिए। ऊसर भूमिको खेती-लायक बनाया जाना चाहिए।

३—बीजोंके सुधारके लिए, खेतोंको उर्वर बनानेके लिए, खेतीके तरीकोंमें सुसार लानेके लिए, खेतोंके औजारोंको सुधारने के लिए प्रयोगशालाओंकी स्थापना होनी चाहिए और जहाँ सम्भव हो, नये उद्योग-धन्धे कायम किये जाने चाहिए।

४—जङ्गल-कानूनमें इस तरहका सुधार होना चाहिए जो कि गाँववालोंके अनुकूल हों, सरकारी जङ्गलोंका इस

प्रकार नियन्त्रण और प्रबन्ध होना चाहिए, ताकि गाँवके उद्योग-धन्धोंको उनसे लाभ पहुँचे।

५—देशके खनिज-पदार्थोंका सङ्ग्रहकर राजको गाँवके उद्योग-धन्धोंमें काममें उन्हें लाना चाहिए। उन्हें विदेश नहीं जाने देना चाहिए।

६—किसानोंके ऊपर कर्जका बोझ इतना भारी हो गया है कि वे उसके भारसे वे दबते जा रहे हैं। उसे इस प्रकार घटा देना चाहिए और उसे चुकानेकी ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए जिससे किसानोंको भी राहत मिले और महाजनकी भी क्षति न हो।

७—किसानोंको सुविधाके साथ आसानीसे कर्ज मिलता रहे।

८—इस बातपर ध्यान रखना चाहिए कि किसानोंके ऊपर कर, म्युनिसिपल तथा जिला बोर्ड अथवा मालगुजारीके करका बोझ इतना ज्यादा नहीं लाद दिया जाता कि उनका आर्थिक जीवन कष्टमय और विपन्न हो जाता है और उनकी आर्थिक दशा इस तरह क्षीण हो जाती है कि वे कर देने लायक नहीं रह जाते।

९—राजको चाहिए कि गाँवोंमें तैयार मालको खरीदकर ग्रामोद्योगको प्रोत्साहन दे, उसे मिलनेवाले सस्ते मालकी ओर ध्यान नहीं देना चाहिए। ऐसा न करनेसे राज अपने नागरिकोंमें बेकारी बढ़ानेके दोषका भागी होगा और इस तरह वह उनकी कर देनेकी योग्यताको क्षीण करेगा जिस करकी आमदनीपर उसको निर्भर रहना है।

१०—ग्रामोद्योगको प्रोत्साहन देनेके लिए राजको कल-कारखानोंमें तैयार मालपर इस तरहका कर या चुङ्गी बैठा देना

चाहिए जिससे ग्रामोद्योगके माल बाजारोंमें कल-कारखानोंके मालका मुकाबला कर सकें। वर्तमान अवस्था यह है कि कल-कारखानोंको हर तरहका संरक्षण मिलता है और ग्रामोद्योगको अपने भाग्यपर छोड़ दिया जाता है।

११—गाँवके उत्पादकोंको सहायता प्रदान करनेकी दृष्टिसे ही एक्सचेंजका अनुपात स्थिर किया जाना चाहिए। मुद्रणनीति और देना पावनाका भी यही उद्देश्य होना चाहिए।

१२—गाँवोंमें उत्पन्न मालका वर्गीकरण और हैसियत स्थिर करना तथा बिक्रीका प्रबन्ध दक्षों द्वारा कराया जाना चाहिए।

१३—माल बाहर भेजनेकी हर तरहकी रेल, सड़क तथा किराया आदिकी पूरी सुविधा प्रदान की जानी चाहिए।

१४—बालिगोंकी शिक्षाका प्रबन्ध होना चाहिए। गाँवोंमें प्रारम्भिक अनिवार्य शिक्षाका प्रबन्ध होना चाहिए और उसमें प्रमुख स्थान कारीगरी तथा कृषिको मिलना चाहिए।

१५—गाँवोंमें चिकित्साका पूरा प्रबन्ध होना चाहिये।

ऊपर जिन उपायोंका वर्णन किया गया है उनकी व्यवस्था कर राज गाँवोंमें नवजीवनका संचार कर सकता है। इसके प्रतिकूल जबतक वर्तमान अवस्था कायम रहेगी और इसमें परिवर्तन लानेका कोई यत्न नहीं किया जायगा, ग्राम-सुधारोंका सारा प्रयास व्यर्थ जायगा, उससे कोई विशेष लाभ नहीं हो सकेगा क्योंकि गाँवके उत्पादकोंको आज जिन असुविधाओं, दिक्कतों और कठिनाइयोंका सामना करना पड़ता है, उनमेंसे अधिकांश राजकी नीतिके कारण वर्तमान हैं और जबतक राजकी ओरसे उन्हें दूर करनेका प्रयास नहीं किया जायगा तबतक वे दूर नहीं

हो सकेंगी। वर्तमान अवस्थामें गाँवोंकी आर्थिक दशामें सुधार करनेका प्रयत्न अपना दोनों पैर बाँधकर दौड़नेके प्रयत्नके समान होगा। लेकिन इससे हमारा यह अभिप्राय नहीं है कि हमें मन मारकर तबतक बैठ रहना चाहिए जबतक राजकी नीतिमें किसी तरहका परिवर्तन न हो। हमारे देशके किसानोंकी दशा इतनी दयनीय है कि किसी तरहकी दीर्घसूत्रता उसके लिए घातक सिद्ध होगी। इन कठिनाइयों और वाधाओंके रहते हुए व्यक्तियों और संस्थाओंको यथासाध्य उनके उत्पादनका काम करना चाहिए। चूँकि उनकी वर्तमान दुरवस्था तथा गिरानीका प्रधान कारण प्रतिस्पर्धापूर्ण आर्थिक व्यवस्था है जो हमारी संस्कृति तथा सभ्यताके प्रतिकूल है, इसलिए हमें उन्हें यह सिखलानेकी आवश्यकता है कि वे इस प्रतिस्पर्धापूर्ण आर्थिक नीतिको त्याग दें और सहयोगपूर्ण आर्थिक नीतिको अपनावें। वे अपनी आवश्यकताकी पूर्तिको दृष्टिमें रखकर माल तैयार करें और उसी मालका उपयोग करें जिसे वे खुद या उनके पड़ोसी तैयार करते हैं।

ख—राजनीतिक पहलू

१ — ग्रामोद्योगका राजनीतिक जीवन ही सच्चा लोकतन्त्र :

ग्रामोद्योग आर्थिक व्यवस्थामें जनताके राजनीतिक जीवनमें घोर क्रान्ति हो जायगी। विकेन्द्रित आर्थिक व्यवस्थाका मतलब है विकेन्द्रित राजनीतिक संगठन। प्रत्येक गाँवकी एक अलग दुनिया होगी, जहाँ उसकी आवश्यकताकी सारी चीजें वहीं उत्पन्न की जायँगी। इसलिए प्रत्येक गाँवका शासन भी गाँवके

उन चुने हुए व्यक्तियों द्वारा होगा जो सबके विश्वासपात्र और आदरके पात्र होंगे। गाँवके ही होनेके कारण गाँवकी हालतसे वे भलीभाँति जानकार होंगे और गाँवकी समस्याओंको वह अच्छी तरह समझ सकेंगे। उन्हें सदा इस बातकी चिन्ता बनी रहेगी कि उनका गाँव उन्नति करे और फलेफूले। गाँवकी प्रबन्धकी सारी जिम्मेदारी उनके ही ऊपर रहेगी। शासन और प्रबन्धकी सारी जिम्मेदारी भी गाँवतक ही सीमित रहेगी। गाँवके बाहरकी सरकार तथा केन्द्रीय सरकारका काम, वैदेशिक मामलोंकी देखभाल तथा उन उद्योग धन्धोंका प्रबन्ध करना होगा जिनसे गाँववालोंको सहायता प्राप्त होगी। इसके अलावा वे सार्वजनिक हितके कामोंको देखेंगे, तथा देशके प्राकृतिक साधनोंको इस प्रकार नियन्त्रणका प्रबन्ध करेंगे ताकि उससे गाँववालोंको लाभ पहुँचे तथा वे एक दूसरेके साथ सम्बन्ध जोड़नेवालों संस्थाके रूपमें काम करें। केन्द्रीय सरकारके जिम्मे जिन कामोंका निर्देश किया गया है नमेंसे प्रथम तीन काम गाँवके लोग भी यदि चाहें तो सहयोग समितिद्वारा स्वयं कर सकते हैं।

वास्तविकता तो यह है कि अभी हालतक भारतके गाँव आत्मनिर्भर इकाईके रूपमें थे। उनकी इस अवस्थाका अन्त ब्रिटिश सरकारकी नीतिके कारण हुआ, क्योंकि वे अधिक-से-अधिक मालगुजारी प्राप्त करना चाहते थे। इसके लिए उन्होंने गाँवकी इकाईको तोड़कर प्रत्येक किसानके साथ बन्दोबस्त करना अपने लिए उपयोगी समझा। विदेशी शासक होनेके कारण उसने गृह-उद्योगकी उपयोगिता न तो समझी और न उसपर कोई ध्यान दिया और उसने उसे निर्दयताके साथ कुचल दिया।

इसके साथ ही जनताके हाथ इतना ज्यादा अधिकार रहने देना भी उसे अभीष्ट नहीं था। इसलिए उसने ग्राम-पञ्चायतको तोड़ दिया और गाँववालोंके चुने प्रतिनिधि ग्राम-पञ्चायतों द्वारा जो मुकदमा और शासनका काम करते थे उसे अपने हाथमें ले लिया और इस तरह देशसे लोकतन्त्र शासनकी जड़ ही नष्ट कर दी। ग्रामोद्योग द्वारा हमलोग जो काम करना चाहते हैं, वह हमारे देशके लिए नया नहीं है, वल्कि प्राचीन कालसे ही हमारे देशमें चला आता है इसलिए हमलोग किसानोंको सहजमें इस योग्य बना सकेंगे कि अपनी पञ्चायतें कायम करके वे अपने गाँवका प्रबन्ध स्वयं करें।

प्रत्येक गाँवसे सम्बन्ध रखनेवाला सारा काम-काज पञ्चायतों द्वारा होगा—जैसे, लोगोंमें खेतोंका बँटवारा, सरकारको देनेके लिए लोगोंसे मालगुजारी वसूल करना, काम, व्यवसाय, उद्योग, पूँजीका विभाजन, सङ्गठन, सहयोग समितियोंका निरीक्षण, शिक्षा, सफाई, स्वास्थ्य, जेलकी व्यवस्था, रोशनी, सार्वजनिक भवनोंका निर्माण तथा निरीक्षण, सड़कें, आमोद-प्रमोद तथा इस तरहकी अन्य बातें। इन कामोंमें जो व्यय होगा उसके लिए वह निम्नलिखित जरियोंसे पूरा करेगा—(१) गाँवसे गल्लेके रूपमें जो मालगुजारी मिलेगी (२) भिन्न-भिन्न प्रकारसे प्राप्त शुल्कोंसे, (३) नियमादि भंग करनेके कारण आर्थिक दण्डसे, (४) विवाहादि शुभ अवसरोंपर प्राप्त दान तथा चन्दा आदिसे। सार्वजनिक हितके कामोंके लिए, जैसे सड़क, कुआँ आदिके बनानेके लिए गाँवके लोग सालमें कुछ दिन वेगारके रूपमें काम करेंगे।

अपनी सीमाके अन्दर पञ्चायत मुकदमोंपर विचार और फैसला करेगी और शान्तिकी सुव्यवस्था कायम करेगी। शासन-की ईकाई छोटी होनेके कारण शासनकी सहायताके बिना ही गाँवके लोग ही उपद्रवी लोगोंपर नियन्त्रण रख सकेंगे। गाँवके प्रत्येक लोग एक दूसरेको जानते रहेंगे। इसलिए किसीको इस बातका साहस नहीं होगा कि वह अपराध करे या गाँवकी इच्छाके खिलाफ चले। इस तरहके समाजमें अहिंसाका व्रत न लेनेपर भी अमन-चैन कायम रखनेके लिए सेना और पुलिसकी बहुत कम जरूरत पड़ेगी। इसके साथ ही सामाजिक तथा धार्मिक प्रवृत्तियाँ भी प्रच्छन्नरूपसे अपना काम करेंगी और लोग समाजके स्वार्थके विरुद्ध कोई काम नहीं करेंगे और लोग अपनी शक्तिका उपयोग गरोहके कल्याणके लिए करेंगे। लोगों-को समाजके कल्याणके लिए अपने मनसे काम करनेके लिए यह उपाय बहुत अच्छा होगा। उसके सामने बल तथा दण्डका भय उपयोगी सिद्ध नहीं होगा। गाँवके प्रत्येक व्यक्तिके जिम्मे नियत काम रहेगा, उनकी आवश्यकताकी पूर्तिके लिए उन्हें पर्याप्त आमदनी होती रहेगी, सम्पत्ति तथा मर्यादामें बहुत बड़ा अन्तर नहीं रहेगा, इससे सभी लोग सन्तुष्ट होंगे। इसके बावजूद भी यदि उपद्रव और अशान्ति हुई तो वह सार्वजनिक हित चाहनेवाले युवकों द्वारा शान्त कर दी जायगी। इस तरहके युवकोंको अहिंसात्मक उपायों द्वारा उपद्रव तथा दङ्गा-फसाद रोकनेकी शिक्षा दी जायगी। जिस वक्त उप-द्रवियोंके सामने अहिंसाव्रतधारी ये जनसेवक युवक उप-स्थित होंगे, और उनका मुकाबला करनेमें अपने प्राणोंको उत्सर्ग

कर देनेका इरादा प्रगट करेंगे, और उनकी शिकायतोंको शान्त चित्तसे सुनने तथा उन्हें दूर करनेके लिए तैयार रहेंगे, तो इस तरहसे उपद्रवोंको शान्त करना कठिन नहीं होगा। डाकुओं तथा हत्यारोंका मुकाबला करनेके लिए अहिंसाव्रतधारी युवकोंको शिक्षा देकर तैयार करना होगा। बदलैनके आधारपर स्थित आर्थिक व्यवस्थामें इस तरहके अवसर कम ही उपस्थित होंगे। इस व्यवस्थामें रुपयोंकी आवश्यकता बहुत कम पड़ेगी, सोना चाँदीका मूल्य बहुत अधिक नहीं होगा। आभूषण भी ऐसी ही चीज़ोंके बनेंगे जो सहजमें प्राप्त हो सकें और जिनसे सजानेका काम पूर्णतया चरितार्थ हो सके, जैसे रंगीन पत्थर, शीशा, लकड़ी या लाह या पेण्टसे ढकी मिट्टी। यदि डाकू गल्ला या अनाज लूटनेके उद्देश्यसे आवेंगे तो उस गाँवके लोग अपने यहाँके चुने हुए लोगोंको डाकुओंके गाँवमें भेज देंगे और उन्हें अपनी आवश्यकताकी चीजें पैदा करना सिखला देंगे। यह काम गाँववालोंके लिए आसान होगा। जब प्रत्येक गाँवमें उत्पादनका उद्देश्य गाँवकी आवश्यकताकी पूर्ति होगा, और नफा कमानेका उद्देश्य नहीं रहेगा, तब ऐसी हालतमें किसी गाँवको अपनी सफलताके रहस्यको छिपाकर रखनेसे कोई लाभ नहीं होगा। इस तरह अपने सारे आवश्यक कामोंके लिए प्रत्येक गाँव आत्मनिर्भर होंगे।

इससे हमारा यह अभिप्राय नहीं है कि सारी दुनियासे आँखें बन्दकर वे कूपमण्डूक बन जायँगे। यदि वे चाहें भी तो यह सम्भव नहीं है। अपने ही आर्थिक जीवनके लिए उन्हें पड़ोसके

गाँवोंमें तथा अन्य प्रान्तोंके साथ सहयोग करना पड़ेगा, जैसा

ऊपर लिखा जा चुका है क्योंकि जिन बातोंका सम्बन्ध पड़ोसी गाँवों, जिलों, प्रान्तों तथा देशसे होगा, उसके लिए जिला, प्रान्तीय तथा राष्ट्रीय शासन होगा। गाँवके लोग जिला-शासनके लिए अपना प्रतिनिधि चुनेंगे, जिला-शासन-समिति प्रान्तके लिए तथा प्रान्तीय शासन-समिति, राष्ट्रीय शासन-समितिके लिए प्रतिनिधि चुनेगी। प्रत्येक शासन-समितिके लिए एक अध्यक्ष होगा जो प्रधान शासकका काम करेगा। केन्द्रीय शासन-समितिके जिम्मे बहुत थोड़ा काम रहेगा। वह प्रत्येकके साथ सहयोग स्थापित करने तथा वैदेशिक मामलोंकी देख-रेख करेगी। देश-का वास्तविक शासन प्रत्येक इकाईके हाथमें रहेगा।

वर्तमान युगमें केन्द्रित आर्थिक व्यवस्थाके कारण सभी बातें इसके प्रतिकूल हैं। वर्तमान युगमें आर्थिक व्यवस्थाका उद्देश्य केन्द्रित शासन-प्रणालीकी ओर है। इस व्यवस्थाके अनुसार सभी दलोंका सुधार और शासन केन्द्र-द्वारा ही होता है। इस तरह केन्द्रित होनेके कारण और सार्वजनीन व्यवस्था होनेके कारण किसी भी समस्याका निपटारा उचित रीतिसे नहीं हो पाता। जो योजना तैयार की जाती है वह प्रत्येक व्यक्तिके अनुकूल नहीं होती। इसलिए उन्हें कार्यमें परिणत करनेके हेतु बहुत अधिक अफसरों और कर्मचारियोंकी जरूरत पड़ती है, जो बलका प्रयोगकर उस व्यवस्थाको समान रूपसे समस्त देशमें चालू करें। इस व्यवस्थाके अनुसार जो सङ्गठन कायम होता है वह बहुत बड़ा और सँभालके बाहर हो जाता है और उसकी प्रगति बहुत ही मन्द होती है। इस व्यवस्थाके अनुसार केन्द्रमें चन्द लोगोंके हाथमें बहुत ज्यादा अधिकार चला जाता है, केन्द्र तथा गाँवोंके

बीच इतना बड़ा अन्तर है कि गाँववालोंकी आकांक्षा और आवश्यकताकी बातें उनतक पहुँच नहीं पातीं, यद्यपि वे उन्हींके प्रतिनिधि होते हैं और जायज या नाजायज तरीकेसे वोट प्राप्तकर केन्द्रके सदस्य बन जाते हैं। इसलिए जिस व्यवस्थामें गाँवोंका शासन केन्द्रीय सरकार द्वारा होता रहेगा—चाहे वह शासन पश्चिमी लोकतन्त्र शासनके आधार-पर बनी लोकतन्त्र सरकार ही क्यों न हो—वह शासन निरङ्कुश होगा। उस शासनमें गाँवोंका स्वतन्त्र विकास सम्भव नहीं है, और जनताका सच्चा शासन उसके द्वारा पङ्गु ही बना रह जायगा जो जनता द्वारा, जनताके कल्याणके लिए ही कायम होगा।

आज पश्चिमी देशोंकी क्या हालत है। सच्चा लोकतन्त्र शासन उसे नहीं प्राप्त होरहा है। ऐसा प्रतीत होता है कि सच्चा लोक-तन्त्र शासन कायम करनेके लिए वह जितना ही यत्न करता है, सच्चा लोकतन्त्र शासन उससे उतनाही दूर हटता जाता है। हम ऊपर लिख आये हैं कि केन्द्रित आर्थिक व्यवस्थासे राजनीतिके क्षेत्रमें भी केन्द्रित व्यवस्थाका उदय होगा अर्थात् इसके द्वारा पूर्ण सत्तायुक्त केन्द्रीय शासन या राजकी स्थापना होगी जिसके हाथमें समूचा अधिकार केन्द्रित होगा और व्यक्तिकी स्वतन्त्रताका लोप हो जायगा। वर्तमान युगका यह सबसे बड़ा सङ्कट है। पूँजीवादी देशोंमें भी आर्थिक मामलोंमें हस्तक्षेप करनेका राजका अधिकार दिनों दिन बढ़ता जा रहा है। ऐसा करनेमें उसे रोकना भी असम्भव होता जारहा है। यदि हम लोग व्यक्तिके लिए सच्ची स्वतन्त्रता और लोकतन्त्र चाहते हैं तो जहाँ-तक सम्भव है हमें केन्द्रित उत्पादन प्रणालीको विदा करना होगा।

केन्द्रीकरणकी व्यवस्थामें उन विभिन्न दलोंको स्वायत्त शासनका सुख कभी भी प्राप्त नहीं हो सकता जिनके संयोगसे राष्ट्रकी स्थापना होती है। वास्तविक स्वतन्त्रताका दर्शन विकेन्द्रीकरणमें ही हो सकता है, जहाँ भिन्न-भिन्न गरोह अपनी व्यवस्था आप करता है और अपना काम-काज खुद देखता है तथा केन्द्रीय शासन केवल उन कामोंकी देख-रेखके लिए कायम करता है जिनका सम्बन्ध प्रत्येक इकाईसे होता है और जो काम प्रत्येक इकाई अलग-अलग नहीं सम्पन्न कर सकती।

इस तरहकी राजनीतिक व्यवस्थामें प्रगति और विकास तेजीसे होंगे क्योंकि कोई भी इकाई पीछे रहना नहीं चाहेगी क्योंकि यातायातकी सुविधाके कारण उसे प्रत्येक गाँवकी प्रगतिका पता चलता रहेगा। कुछ लोगोंका कहना है कि यदि भारत छोटा देश रहता तो इसका सुधार आसान होता लेकिन इसका आकार इतना बड़ा है कि इसको सुधारनेका काम प्रायः असम्भव है। लेकिन विकेन्द्रित सामाजिक व्यवस्थामें इस तरहकी निराशा-के लिए स्थान नहीं है क्योंकि देश कितना भी बड़ा क्यों न हो, जिन इकाइयोंसे वह सङ्गठित है, वे छोटी हैं और जब प्रत्येक इकाई अपने विकासकी जिम्मेदारी अपने ऊपर ले लेती है तो पुनः निर्माणका काम सहज हो जाता है। लेकिन जब केन्द्रीय शासन सारा काम अपने ऊपर ओढ़ लेता है तब प्रगति धीमी होगी और विभिन्न इकाइयोंसे अपने निर्णयका पालन करानेके लिए उसे बलका प्रयोग करना पड़ेगा। कितना भी योग्य कोई व्यक्ति क्यों न हो, जब वह सबका काम खुद करना चाहेगा तो वह निश्चय ही असफल होगा, लेकिन यदि वही काम वह भिन्न-भिन्न

लोगोंमें बाँट दे तो वह काम बात-की-बातमें पूरा हो जायगा और उसके सम्पन्न होने में किसी तरहकी झञ्झट भी पैदा नहीं होगी। इस तरह अपना काम स्वयं सम्पन्न करके गाँव आत्म-निर्भर और सम्पन्न होंगे। वर्तमान समयमें गाँवों में जो निराशा और आलस्य देखनेमें आते हैं, जो उनके ऊपर भारस्वरूप हो रहे हैं और जिसके भारसे दबकर वे अपना सुधार करनेमें अस-मर्थ हो रहे हैं और जो उनका रास्ता रोककर खड़ी है, उसका अन्दाज सहजमें लगाया जा सकता है। ऊपर हम लिख आये हैं कि वर्तमान आर्थिक व्यवस्थामें उन्हें ऐसी शक्तियोंसे संघर्ष करना पड़ता है, जिनपर उनका कोई नियन्त्रण नहीं है। उदा-हरणके लिए काश्तकारी कानून पुराने और असुविधाजनक हैं, अन्तर्राष्ट्रीय सङ्घर्षका उन्हें मुकाबला करना पड़ता है, कई कड़े कर उन्हें देने पड़ते हैं, मुद्रा और विनिमय सम्बन्धी सरकारी नीति उनके अनुकूल नहीं है, यातायात और जङ्गलके नियमोंकी सुविधा उन्हें नहीं है, राजसे कर्ज मिलने की सुविधा प्राप्त नहीं है। इसी तरहकी अनेक कठिनाइयोंका सामना उन्हें करना पड़ता है, लेकिन यदि राजकी यह नीति हो जाय कि वह गाँववालों-के जीवनमें यथासाध्य कम-से-कम हस्तक्षेप करे, प्रत्येक इकाई अपनी आवश्यकताको आप-से-आप पूरी कर ले, और अपना प्रबन्ध स्वयं कर ले तो गाँववाले अपने आपके स्वयं विधाता बन जायँगे। इसलिए वे नयी आशासे प्रेरित होकर अपने सुधार और विकासके लिए निश्चय ही भगीरथ-प्रयत्न करेंगे। इस तरह राष्ट्रके जीवनमें नयी धारा बह निकलेगी। इससे उसकी शक्ति बढ़ेगी और वह स्वस्थ तथा शक्तिशाली

बनेगा। पश्चिमके दिखावटी लोकतन्त्रके एवजमें—जहाँ लोगोंको यह धोखा दिया जाता है कि अपने वोटों द्वारा वे अपना प्रबन्ध आप-ही-आप कर रहे हैं, लेकिन वास्तवमें यह काम कतिपय अधिकार लोलुप उनके लिए कर रहे हैं—हमें सच्चा लोकतन्त्र प्राप्त होगा जहाँ वास्तवमें अपने शासनका अधिकार जनताके हाथमें होगा।

२—साम्प्रदायिक समस्या :—आज देशमें साम्प्रदायिक समस्या भीषण रूप धारण करके खड़ी हो गयी है। लोकतन्त्रकी आड़में यह ब्रिटिश शासनकी देन है। प्राचीन युगमें साम्प्रदायिक समस्याका नाम भी लोगोंने नहीं सुना था। गाँवोंमें आज भी यह समस्या नहीं है क्योंकि आधुनिक युगके अधिकार-लोलुपों तथा पद लोलुपोंका वहाँ प्रवेश नहीं हो पाया है। देशी राज्योंमें भी इस तरहकी समस्या नहीं है। यदि कहीं है भी तो बहुत ही सूक्ष्म। गाँवोंमें हिन्दू और मुसलमान पूर्ण मेलके साथ रहते हैं, काम-काज सुख-दुखमें एक दूसरेके साथी हैं। भाषा, कला, कारीगरी, साहित्य, सङ्गीत तथा रीतिरिवाजमें एकका प्रभाव दूसरेपर पड़ता रहता है, एक दूसरेके उत्सवों तथा त्योहारोंमें शामिल होते रहते हैं। यह समन्वय इतना भीतर घुस गया है कि यदि हम लोग चाहें भी तो राष्ट्रभाषा, कला, कारीगरी, सङ्गीत, साहित्य तथा सामाजिक जीवनसे इस प्रभावको अलग नहीं कर सकते और उस समय ऐसी कोई केन्द्रीय शक्ति दोनोंको एकमें मिलानेके लिए नहीं थी। यह विकास अपने आप स्वाभाविक रीतिसे हुआ ; क्योंकि दोनों जातियाँ एक ही गाँवमें बसती थीं। जहाँ कहीं विकेन्द्रित सहयोग आर्थिक व्यवस्था थी वहाँके लोगोंमें सहयोग और

मेल की भावनाका स्वतः विकास हुआ। बिना किसी योजनाके हिन्दू और मुसलमान दोनों जातियोंके बीच एकताकी इस भावनाका उदय हुआ।

ब्रिटेनका यह दावा है कि उसने भारतमें राष्ट्रीय एकता स्थापित की है। लेकिन ब्रिटेनका यह दावा एकदम गलत और झूठा है। अपने साहित्य तथा धर्मके अध्ययनसे हमें भलीभाँति विदित हो जाता है कि आजकलकी अपेक्षा अतीतमें हमलोगोंमें कहीं अधिक मेल-मिलाप था। आज यदि हमारे ऊपर कोई सबसे बड़ा सङ्कट है तो इसी बातका है कि हमलोग इस एकताको खो रहे हैं जिसे हमलोगोंके पूर्व पुरुषोंने सफलतापूर्वक स्थापित की थी। हमारी अतीतकी एकता आजकलकी एकताकी भाँति बनावटी या गरजू एकता नहीं थी कि शासनकी सुविधाके लिए या विदेशी शत्रुको मार भगानेके लिए हमलोग एकताके सूत्रमें बँध जाते हैं। यह एकता तो आपद्धर्मकी एकता है। लेकिन हमारी प्राचीन एकता संस्कृति, सभ्यता, आकांक्षा और विचारोंकी एकता थी। वर्तमान केन्द्रीय शासनमें हमें वास्तविक एकता तो प्राप्त ही नहीं है; इसके विपरीत हममें द्वेष, डाह और ईर्ष्याका समावेश हो गया है और साम्प्रदायिक कलह दिनोदिन बढ़ता जा रहा है। इसका प्रधान कारण तो वर्तमान आर्थिक व्यवस्था है जिसने प्राचीन ग्रामसङ्गठनको विनष्ट कर दिया। आजके समान भेदभाव देशमें कभी भी नहीं था। आज तो देश अनेक दलोंमें बँट गया है जो अपने स्वार्थ साधनमें ही रत हैं और दूसरोंको क्षति पहुँचा कर भी अपनी उन्नति चाहते हैं। हिन्दू और मुसलमानोंके बीच ही यह वैमनस्य दिखायी

नहीं देता, बल्कि प्रान्त प्रान्तके बीच, भाषा-भाषाके बीच यह प्रविष्ट हो गया है। हिन्दू जातिके बीच ही विरोध और संघर्ष पैदा हो गया है। यह विरोध और संघर्ष इस समय इतना उग्र हो गया है कि जिन धार्मिक ग्रन्थोंकी पूजा बिना किसी भेदभावके आर्य, द्राविड़ तथा अछूत सभी करते थे, उन्हीं धर्मग्रन्थोंका एक समुदाय यह कहकर निरादर कर रहा है कि आर्योंने उनके ऊपर अपनी प्रभुता स्थापित करनेके लिए इन ग्रन्थोंका निर्माण किया था। यह विरोध दक्षिणके एक सम्प्रदायमें इतना भीषण रूप धारण कर रहा है कि हिन्दुओंका मुकाबला करनेके लिए वे मुसलमानोंतकसे सहयोग करनेके लिए तैयार हैं। लेकिन वास्तविकता यह है कि आर्य और द्राविड़ हिन्दू साहित्यमें एकदम घुल-मिल गये हैं और उन्हें एक दूसरेसे अलग करना उतना ही कठिन है जितना कठिन दूधसे पानीको अलग करना है।

हमलोगोंके सामने ही इस तरहका विप्लव हमारे देशमें मचा हुआ है तो भी ब्रिटेनका यह दावा है कि उसने हमलोगों-को एक राष्ट्रमें गूँथ दिया है। यदि ब्रिटेनके कारण हमलोगोंमें किसी बातकी एकता है तो उसका कारण विदेशी शासनके प्रति प्रत्येक जातिका बढ़ता हुआ विरोध है। प्रायः सभी जातियाँ ब्रिटिश शासनके विरुद्ध हैं इसलिए हमलोगोंके विचारों और कार्योंमें एकता दिखायी देती है। लेकिन इस तरहकी एकता स्थायी नहीं हो सकती। यह उसी दिन खतम हो जायगी जिस दिन इसका उद्देश्य सिद्ध हो जायगा अर्थात् विदेशी शासनके अन्तके साथ-ही-साथ इसका भी अन्त अवश्यम्भावी है।

भारतके शासनमें ब्रिटेनने जिस साम्प्रदायिकताका बीज बोया उसे पनपने और फलने-फूलनेके लिए अनुकूल वातावरण मिल गया। इसका परिणाम यह है कि हमलोग आज साम्प्रदायिक मेल और राष्ट्रीय एकतासे पचास साल पहलेकी अपेक्षा कोसों दूर हैं। प्राचीन कालमें ग्राम-संगठनके टूट जानेसे तथा केन्द्रित शासनप्रणाली कायम होनेसे—जिसका आधार साम्प्रदायिक भेदभाव है—हमलोगोंमें परस्पर वैमनस्य दिनोंदिन बढ़ रहा है। केन्द्रीय सरकारके हाथमें शासनकी सारी शक्ति हो जानेके कारण तथा गाँवोंकी आर्थिक प्रणालीका नाश हो जानेसे हम-लोगोंमें दरिद्रता बढ़ती जा रही है, इसलिए प्रत्येक जातिमें सरकारी नौकरियोंके लिए होड़ मच गयी है। इसका फल जातिगत द्वेष और वैमनस्य है। यह व्यापक रूपसे इस समय हमारे देशमें चल रहा है और विदेशी शासन इसे प्रोत्साहन दे रहा है; क्योंकि हमलोगोंको एक दूसरेसे अलग रखनेमें ही उसकी भलाई है। इस दशामें जातियोंके बीच मैत्री का जो भाव होना चाहिये, वह काफूर हो गया और अप्राकृतिक तरीकों-से यह कायम भी नहीं किया जा सकता। वातावरण ऐसा होना चाहिये जो स्वतः इसे जन्म दे और विकसित करे। अतीत कालमें संगठित ग्रामोद्योग आर्थिक व्यवस्थामें इस तरहका वातावरण था, जैसा कि हम पीछे लिख आये हैं। कुछ लोगोंका कहना है कि विकेन्द्रीकरणसे देश टुकड़ेमें बँट जायगा और गृहयुद्ध छिड़ जायगा। लेकिन इस तरहका भय निराधार है। इसके प्रतिकूल विकेन्द्रीकरणसे ही वास्तविक एकता और

भ्रातृभावका उदय हो सकता है और केन्द्रीकरणसे प्रान्त-प्रान्तमें,

जाति-जातिमें और धर्म-धर्ममें वैमनस्य पैदा हो जाता है क्योंकि विकेन्द्रीकरणसे सहयोगजनित आर्थिक व्यवस्थाका उदय होता है जिसके प्रत्येक सदस्य एकही उद्देश्यके लिए अर्थात् गाँवकी आवश्यकताको पूरा करनेके लिए मिलजुलकर काम करते हैं; लेकिन केन्द्रीकरण प्रतिस्पर्धायुक्त आर्थिक तथा राजनीतिक प्रणालीको जन्म देता है उसका परिणाम यह होता है कि राष्ट्रके प्रत्येक तत्व अधिकारके लिए लोलुप होकर एक दूसरेके खिलाफ उठ खड़े होते हैं। इससे साम्प्रदायिक और सामाजिक कलह तथा विद्वेष फैलता है।

३—साम्राज्यवाद और युद्धका अन्त :—हम ऊपर लिख आये हैं कि केन्द्रित उत्पादन प्रणाली—चाहे वह पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्थामें हो या समाजवादी आर्थिक व्यवस्थामें—दूसरोंपर नियन्त्रणका अधिकार प्रदान करती है, इसका स्वाभाविक परिणाम हिंसा और द्वेष होता है। देशकी आर्थिक व्यवस्थामें जबतक इस तरहके हिंसाके बीज कायम रहने दिये जायँगे तबतक सङ्घर्ष, साम्राज्यवाद तथा युद्धको रोकनेके कोई भी प्रयास सफल नहीं हो सकेंगे। वर्तमान युद्ध का अन्त परिमाणु बमके प्रयोगके साथ हुआ। लोगोंने देखा कि परिमाणु बमने उस शक्तिका परिचय दिया जिसके प्रयोगसे एक शहर ही नहीं, बल्कि देश-का-देश नष्ट किया जा सकता है, बल्कि मानवताका ही वह संहार कर सकता है, इसलिए लोगोंको यह आशा हो गयी कि उसके आविष्कारसे युद्धका अन्त हो जायगा। लेकिन अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रमें जो स्थिति उत्पन्न हो रही है, उससे इस तरहकी आशाकी पुष्टि नहीं मिलती। अगर ऐसा होता है कि परिमाणु बमका किसीको

परवा नहीं क्योंकि विश्वमें विद्वेषकी आग सुलग रही है और प्रत्येक राष्ट्र इसी वक्तसे एक दूसरेके खिलाफ़ तैयारियाँ कर रहा है। मालूम होता है कि अगले युद्धकी अभीसे तैयारी हो रही है। विनाशके ज्यों-ज्यों नये नये अस्त्र तैयार होते गये—उदाहरणके लिए जेपलिन, गोताखोर, बम, जहरीली गैस—त्यों-त्यों लोगोंके मनमें यह भावना उठती गयी कि ये साधन संहारके ऐसे भीषण दृश्य उपस्थित करेंगे कि लोगोंके कान खड़े हो जायँगे और युद्ध-का अन्त हो जायगा। लेकिन यह हुआ नहीं। बल्कि इसके विपरीत इन शस्त्रोंके प्रभावको नष्ट करने तथा उनसे भी भीषण शस्त्र तैयार करनेके लिए वैज्ञानिकोंको तैनात किया गया। इस-लिए यह मान लेना कि संहारकारी भयानक शस्त्रोंके आविष्कार-से युद्ध बन्द हो जायगा, इतिहासके प्रमाणोंकी उपेक्षा होगी।

प्रतीत तो यही होता है कि सन्धि, शक्तिशाली राष्ट्रोंका राष्ट्र-सङ्घ, अन्तराष्ट्रीय राजकी स्थापना, अन्तर्राष्ट्रीय नीति तथा निरस्त्री-करण आदि उपायोंसे सच्ची शान्तिकी स्थापना नहीं हो सकती। उपदेश अथवा धार्मिक प्रार्थनासे तो यह कायम हो ही नहीं सकती। विद्वेष, डाह, घृणा तथा राष्ट्रोंके बीच परस्पर सङ्घर्षका एकमात्र कारण केन्द्रित उत्पादन-प्रणाली है। आर्थिक व्यवस्थासे इस प्रणालीका अन्त कर देनेपर ही विश्वमें सच्ची शान्ति स्थापित हो सकती है। जबतक यह व्यवस्था कायम रहेगी तबतक राष्ट्र और व्यक्ति दोनोंमें नियम तथा विधान और सन्धिकी शर्तोंको तोड़-मड़ोरकर उसका गलत मतलब निकालनेकी प्रवृत्ति कायम रहेगी, ताकि दूसरोंपर शासन करने-का उन्हें अधिक-से-अधिक अधिकार प्राप्त हो जाय। युद्ध

बन्द करने के लिए युद्ध अथवा लोकतन्त्रकी स्थापनाके लिए युद्ध उपहासास्पद है। इसका मतलब तो यही हुआ कि हलकी आग बुझाने के लिए भीषण आग प्रदीप्त करके यह कहा जाय कि भीषण आग हलकी आगको अपनेमें समेट लेगी। यह ठीक है कि भीषण आग हलकी आगको अपनेमें समेट लेगी, लेकिन उसका परिणाम बहुत ही दारुण होगा। कोई भी उद्योग या अध्यवसाय, शान्ति या लोकतन्त्र स्थापित करनेमें सफल नहीं होगा जिसके द्वारा जनसमूहको कतिपय लोगोंके आदेशके पालनेके लिए वाध्य होना पड़ेगा क्योंकि वे सर्वशक्तिमान् हैं और आदेश देनेकी क्षमता रखते हैं। बल्कि यह तो उन राष्ट्रों या व्यक्तियोंको जो अभीतक अपनी शक्तिको व्यक्त करनेके लिए स्वतन्त्र नहीं हैं—प्रत्यक्ष निमन्त्रण देना होगा कि अवसर पाते ही वे विद्रोहके लिए उठ खड़े हों। हर तरहकी केन्द्रित व्यवस्थाका उद्देश्य ही कतिपय लोगोंके हाथमें पूर्ण सत्ता देना है, इसलिए स्थायी शान्तिकी तबतक आशा नहीं की जा सकती जबतक इसका मूलोच्छेद करके विकेन्द्रित प्रणालीकी स्थापना न की जाय अर्थात् जबतक अधिकार और हिंसापूर्ण आर्थिक व्यवस्थाके स्थानपर अहिंसात्मक और शान्तिपूर्ण आर्थिक व्यवस्थाकी स्थापना न हो। जबतक कि व्यक्तिका दैनिक जीवन अहिंसात्मक आधारपर सङ्गठित नहीं होगा और जबतक उन्हें अपनी आवश्यकताओंकी पूर्तिकी स्वतन्त्रता नहीं दी जायगी तबतक हमलोग राष्ट्रीय या अन्तर्राष्ट्रीय जगतसे हिंसाको समूल नष्ट करनेकी आशा नहीं कर सकते। विकेन्द्रित आर्थिक प्रणालीमें ही यह सम्भव है। सीमित दायरेमें भी यदि दूसरोंपर शासन करनेकी आकांक्षाको प्रश्रय दे दिया

गया तो उसका कहीं अन्त नहीं हो सकता, जबतक कि वह अपना विषैला प्रभाव सारे विश्वपर न फैला ले, इसका स्वाभाविक परिणाम घृणा, अपराध, अराजकता, युद्ध तथा रक्तपात होगा। इसलिए एकमात्र विकेन्द्रित आर्थिक प्रणाली ही अहिंसात्मक समाजके लिए उपयुक्त आर्थिक योजना हो सकती है।

विकेन्द्रित आर्थिक प्रणालीमें राष्ट्रका जीवन अगणित गाँवोंमें देशभरमें फैला रहेगा और संसारके उद्योग-प्रधान देशोंकी भाँति केवल कुछ नगरोंमें ही सीमिति नहीं रहेगा, इसलिए किसी विदेशी शक्तिके आक्रमणसे वह सहजमें ढह नहीं जायगा। हमलोगोंको मालूम हुआ है कि परिमाणु बमके द्वारा नगरोंके इस तरह विनष्ट किए जानेकी सम्भावना देखकर संयुक्त राष्ट्र अमेरिका वड़े-बड़े नगरोंको तोड़कर छोटा-छोटा नगर बसानेके यत्नमें हैं जिनकी आवादी २,००,००० से ज्यादा नहीं होगी। इतने दिनोंतक चीन सफलता पूर्वक जापानका मुकावला इसी लिए कर सका कि उसकी जनता और उसका उत्पादन वड़े-बड़े शहरोंमें केन्द्रित न होकर देशभरमें फैला हुआ था और बमों द्वारा नगरों तथा उद्योग-केन्द्रोंके विध्वंससे भी चीन वेकाम या गतिहीन नहीं हो गया।

वर्तमान युगमें एक देश दूसरे देशपर क्यों आक्रमण करता है और उसे अपने अधिकारमें कर लेना चाहता है। एकमात्र उद्देश्य कच्चे मालकी प्राप्ति तथा तैयार मालके लिए बाजार कायम करना है। लेकिन विकेन्द्रित ग्रामोद्योग आर्थिक व्यवस्थाके अनुसार देशका सङ्गठन हो जानेपर इस बातकी किसीको आवश्यकता नहीं रह जायगी। इसलिए किसी देशपर चढ़ाईकर उसे जीतनेकी आकांक्षाका आप-ही-आप लोप हो जायगा।

ग्रामोद्योग आर्थिक प्रणाली में प्रत्येक गाँव अपनी आवश्यकताके लिए ही कच्चा माल पैदा करेगा और तैयार माल बाहरसे नहीं खरीदेगा, इसलिए किसी भी देशकी लोलुप दृष्टि उसपर नहीं पड़ेगी। इस अहिंसक उपायसे हम विदेशी शासनका जुआ अपने कन्धेपरसे हटा सकेंगे और दूसरोंको भी उसका स्थान ग्रहण करनेसे रोक सकेंगे।

प्रश्न यह उठ सकता है कि ग्रामोद्योग आर्थिक व्यवस्थाके आधारपर सङ्गठित देश किसी शक्तिशाली राष्ट्र द्वारा आक्रमण किये जानेपर अपनी रक्षा किस प्रकार कर सकेगा? इतना तो निश्चित है कि वह शस्त्र द्वारा उसका मुकाबला नहीं करेगा क्योंकि वैसा करनेके लिए उसे भी उसी तरहके या उससे भी बलशाली शस्त्रोंसे सुसज्जित होना पड़ेगा। इसके लिए उसे राष्ट्र-के समस्त जीवनपर नियन्त्रण रखना होगा अर्थात् देशके उद्योग-धन्धों, कृषि, उत्पादन तथा उपभोगपर नियन्त्रण रखना होगा और यह पूर्ण केन्द्रित आर्थिक प्रणाली के द्वारा ही सम्भव है। यह तो उस व्यवस्थाका सर्वथा प्रतिवाद होगा जिसके पक्षमें हम यहाँतक लिख आये हैं और जिसका हर तरहसे समर्थन कर रहे हैं। इतना ही नहीं, यदि उस राष्ट्रको शत्रुका मुकाबला शस्त्र-बलसे करना है तो उसके पास प्रभूत धन भी होना चाहिए। १९४४ में अपने एक वक्तव्यमें राष्ट्रपति रूजवेल्टने कहा था कि उस युद्धमें अमेरिकाको प्रतिदिन २ करोड़ पचास लाख डालर खर्च करना पड़ रहा है। १९४४ की २८ वीं नवम्बरको ब्रिटिश सरकारने जो श्वेतपत्र प्रकाशित किया था, रायटरके अनुसार उसमें लिखा गया था कि विगत पाँच सालके युद्धमें ग्रेट ब्रिटेन-

को २५ अरब पौण्ड खर्च करना पड़ा है। इतनी अतुल सम्पत्तिके लिए हमें खनिज, अन्न तथा अन्य कच्चे माल, खासकर खनिज तेलके लिए अन्य देशोंपर अधिकार करना आवश्यक होगा, क्योंकि रूस, अमेरिका तथा ब्रिटिश साम्राज्यकी अपेक्षा ये सब सामान हमारे देशमें नगण्य हैं। लेकिन अन्य देशोंपर हमारा इस तरहका कोई अधिकार स्थापित नहीं हो सकता क्योंकि या तो विश्वके बड़े-बड़े शक्तिशाली राष्ट्रोंका उनपर आधिपत्य है या उनपर आधिपत्य कायम करनेसे वे हमें रोकेंगे। इसलिए शस्त्र द्वारा विदेशी आक्रमणको रोकना हमारे लिए सम्भव नहीं है।

कुछ लोग यह भी सोच सकते हैं कि शस्त्रके द्वारा यद्यपि हम अपनी रक्षा एकाकी नहीं कर सकेंगे लेकिन चीनकी तरह शक्तिशाली राष्ट्रोंकी सहायतासे विदेशी आक्रमणको हम रोक सकेंगे। पर यह मार्ग भी खतरेसे खाली नहीं है। इस उपायसे हम आक्रमणकारीके पञ्जेके नीचे दबनेसे अपनेको भले ही बचा लें, लेकिन अपने इस मित्रके चंगुलमें फँसनेसे हमारी रक्षा करनेवाला कोई नहीं है। यह तो मानी हुई बात है कि अपने कब्जेमें लाये बिना वह हमारी सहायता कदापि नहीं करेगा। इसके अलावा इस बातकी भी सम्भावना है कि पराजित शत्रु पुनः शक्ति सञ्चयकर हमारे ऊपर चढ़ाई कर सकता है। युद्धमें पराजय हृदयमें शूल बनकर चुभता रहता है और जबतक बदला न ले लिया जाय तबतक शान्ति नहीं मिलती। इसलिए शस्त्रबलमें विश्वास रखना एकदम निरर्थक है। हमलोगोंकी रक्षाकी केवल-मात्र आशा इसीमें है कि हमलोग अपने आर्थिक जीवनको इस तरह सङ्गठित करें कि किसी भी विदेशी शक्तिको हमारी ओर

दृष्टि डालनेका लोभ न हो। साथ ही हमलोगोंको इस तरहका आत्मबल संग्रह करना चाहिए कि हम न तो उस आक्रमण-कारीसे किसी तरहका सहयोग करें और न उसके सामने झुकें ही। केवलमात्र यही एक उपाय है जिसके द्वारा विश्वके राष्ट्रोंको शक्तिशाली राष्ट्रों द्वारा हड़पे जानेसे बचाया जा सकता है। इस उपायसे उनकी तात्कालिक रक्षा ही नहीं होगी बल्कि स्थायी रूपसे वे सुरक्षित रहेंगे।

गांधीजी हमारे देशमें इसी उपायका प्रयोग कर रहे हैं। यह प्रयोग तभी सफल हो सकता है जब हम नयी ग्रामीण आर्थिक व्यवस्थाको अपनावें और अहिंसात्मक प्रतिरोधके लिए सङ्गठन करना सीखें। इसलिए हमलोगोंको ग्राम-सङ्गठनका उद्देश्य केवलमात्र जनसाधारणकी अवस्था सुधारना ही नहीं समझना चाहिये, बल्कि दूसरी शक्तियों द्वारा लूट-पाट तथा आक्रमणका अहिंसात्मक असहयोग द्वारा प्रतिरोधका नया प्रयोग मानना चाहिये। इसीसे हम साम्राज्यवाद और युद्धका अन्त कर सकते हैं।

इसके उत्तरमें यह कहा जा सकता है कि यह उपाय व्यावहारिक नहीं है। समस्त राष्ट्रकी आत्माका इस तरह विकास करना असम्भव है कि आक्रमणकारीके सामने झुक जाने और उससे सहयोग करनेकी अपेक्षा लोग प्राण देना अधिक उपयुक्त समझें। उसके उत्तरमें हम यह कह सकते हैं कि जनता सदा नेताओंका अनुसरण करती है, इसलिए यदि चुने हुए आत्म-त्यागी नेता, जिनका जनतापर प्रभाव है, इस बातको भली भाँति समझ जायँ कि शत्रुसे असहयोग करनेके अतिरिक्त उनकी

तथा देशकी रक्षा अन्य उपायोंसे सम्भव नहीं है और उसी उद्देश्यसे जनताको तैयार करें तो समस्या हल हो जाती है। यदि हमारे देशके वे शिक्षित वर्ग, जो आज ब्रिटिश सरकारकी गुलामी कर रहे हैं, उसके साथ सहयोग करना छोड़ दें तो हमलोग एक दिनमें ब्रिटिश साम्राज्यको हिला सकते हैं। वर्तमान वैयक्तिक आर्थिक व्यवस्थामें—जिसका इस समय बोलबाला है—जहाँ लूटका माल उसीका है जो उसे प्राप्त कर सकता है, वे व्यक्ति जो जनताका नेतृत्व ग्रहण कर सकते हैं, अपने स्वार्थ साधनमें लीन हैं और व्यक्तिगत लाभके लिए ये शत्रुसे सहयोग करनेके लिए तैयार रहते हैं। हमें यह आशा करनी चाहिये कि ग्रामोद्योग आर्थिक व्यवस्थामें शिक्षाका प्रधान उद्देश्य युवकोंमें देश प्रेम तथा देशके लिए आत्मत्यागकी भावना उदय करना होगा। इस व्यवस्थामें उन्हींका आदर होगा जो देश तथा समाजके लिए जीना चाहेंगे। वहाँ योग्य व्यक्ति अपने स्वार्थ-साधनके लिए अपनी योग्यताका प्रयोग नहीं करेंगे; क्योंकि इससे उन्हें केवल समाजका घृणा और अनादर प्राप्त होगा। सार्वजनिक मतकी उपेक्षा कर और समाजके साथ विश्वासघात कर उन्होंने आक्रमणकारीसे यदि सहयोग भी किया तो उससे आक्रमणकारीको कोई लाभ नहीं हो सकेगा; क्योंकि जनतामें उनका कोई प्रभाव नहीं रहेगा और जनता उनका साथ नहीं देगी। इस तरहका विकास व्यावहारिक राजनीतिके अधिकारके भीतर प्रतीत होता है, लेकिन हमारे समान राष्ट्रके लिए यह कदापि सम्भव नहीं है कि शत्रुकी सहायतासे हम दुश्मनको भगा सकेंगे।

यदि इसे सही मान लिया जाय तो यह स्पष्ट हो जाता है कि ग्रामोद्योग तथा गाँधीजीके शब्दोंमें रचनात्मक काम अर्थात् जनताको संगठित तथा शक्तिशाली बनानेका सारा प्रयास साम्राज्य-वाद तथा युद्धका अन्त कर देनेके लिए अहिंसात्मक प्रयोग हैं। तब तो वही कार्यकर्ता जो गाँवमें जाकर लोगोंमें आत्मविश्वास और एकता जागृत कर रहे हैं और अपने दैनिक जीवनके व्यवहारसे लोगोंको अहिंसाकी शिक्षा दे रहे हैं, अहिंसात्मक युद्धमें जनताका नेतृत्व कर सकते हैं। इस तरहके प्रयास बिना, अहिंसात्मक प्रतिरोधके लिए लोगोंको तत्काल संगठित करनेका प्रयास कभी भी सफल नहीं हो सकता। यही कारण है कि गांधीजी रचनात्मक कार्यपर इतना ज्यादा जोर देते हैं। हालमें तो उन्होंने यहाँतक कह डाला है कि रचनात्मक कार्यकर्ता राजनीतिक संस्थाओंसे आदेश और पथप्रदर्शन नहीं लेंगे बल्कि आगेसे राजनीतिक संस्थाओंको रचनात्मक कार्यकर्ताओंसे आदेश और पथ-प्रदर्शन लेना होगा। यह न तो उनकी व्यंग्योक्ति है और न राजनीतिक क्षेत्रसे निराश होकर ही उन्होंने ऐसा कहा है; बल्कि युद्ध तथा हिंसात्मक प्रतिरोधके स्थानपर अहिंसात्मक मार्ग खोज निकालनेके प्रयासमें हमने इसका स्पष्ट निर्देश किया है। इसलिए ग्रामोद्योगको हमें केवलमात्र आर्थिक व्यवस्थाके रूपमें ही नहीं देखना चाहिये, बल्कि एक सामाजिक व्यवस्थाके रूपमें उसे देखना चाहिये जो विश्वको साम्राज्यवाद तथा युद्धसे मुक्त करेगा।

(ग) सांस्कृतिक पहलू :

संस्कृति— समाजवादी व्यवस्थामें बड़े पैमानेपर उत्पादनकी

प्रणालीकी आलोचना करते हुए हमने यह दिखलाया है कि इस प्रकारकी विकेन्द्रित आर्थिक प्रणालीसे कार्यकर्ताओंका बहुत अधिक विकास होगा। यह स्मरण रखनेकी बात है कि संस्कृति क्रय-विक्रयकी वस्तु नहीं है और न धनकी तरह उसे हथियाकर रखा ही जा सकता है। यदि यह बात होती तो जिस किसीके पास रुपया या धन होता वह संस्कृति खरीद कर रख लेता और मनुष्यके सबसे बड़े आदर्शका प्रतिनिधि बन जाता, चाहे उसे दिल या दिमाग होता या न होता। संस्कृतिका उदय आत्मासे होता है। इसे मनुष्यका पूर्ण विकास कह सकते हैं। मनुष्यके अन्तर्हित योग्यताओं—मन, हृदय तथा आत्मा—के पूर्ण विकासका नाम संस्कृति है। आर्थिक व्यवस्था ही ऐसी चीज है जहाँ मनुष्यको अपनी इच्छानुसार योजना बनाने, संगठन करने, सुधारने, आविष्कार करने तथा सजानेका अवसर मिलता है। इसी अवस्थामें वह अपने भीतर छिपी शक्ति या योग्यताका पूर्ण रूपसे प्रदर्शन कर सकता है और अपने व्यक्तित्वके पूर्ण विकास तथा प्रगटीकरणका उसे अवसर मिलता है। काम ही उसका शिक्षक होगा जो उसे बुद्धि, पूर्णता, निर्णय, काममें लगे रहना, चातुर्य, सौन्दर्य, प्रबन्ध, शासन, तथा स्थूल संसार और मानव समाजका ज्ञान प्रदान करेगा। इससे उसके विचारोंमें स्वतन्त्रता, कार्यतत्परता तथा सम्पन्नताका उदय होगा। यही कारण है कि ग्रामोद्योग आर्थिक व्यवस्थामें बालकोंकी शिक्षाका आधार कारीगरी बनाया गया है।

वर्तमान समयमें बड़े पैमानेपर उत्पादन प्रणालीमें व्यक्तिके मस्तिष्कको एक दायरेमें सीमित कर दिया जाता है और उनके

उत्पादन तथा उपभोगका भी एक निश्चित तरीका बना दिया गया है। इसका परिणाम यह हुआ है कि वे एक ही तरीकेपर सोचने, रहने, खाने, पहनने, काम करने, आमोद-प्रमोद करने तथा घृणा-द्वेष करने लगे हैं। उनकी अवस्था उन मिट्टीके सैनिकोंके समान हो गयी है जो अपना हाथ-पैर तथा शस्त्रास्त्र उसी तरह हिलाते हैं जिस तरह हिलानेके लिए निर्माताने उनके शरीरमें यन्त्र बना दिया है। इसे हम संस्कृतिका नाम किस तरह दे सकते हैं! दायरा सीमित कर देनेसे व्यक्तिकी शक्तिका विकास नहीं हो सकता। इसके प्रतिकूल इससे उनकी शक्तिका ह्रास हो जाता है। विकेन्द्रित आर्थिक व्यवस्थाके समान जहाँ व्यक्तिको अपनी शक्तिके विकास तथा प्रदर्शनका पूरा अवसर मिलता है, अर्थात् जहाँ उसे अपने कामकी देखरेखकी पूरी स्वतन्त्रता रहती है, वहाँ वास्तविक संस्कृतिका उदय हो सकता है।

२—प्रगति—ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे स्पष्ट हो जाता है कि विकेन्द्रित आर्थिक व्यवस्थामें लोग प्रारम्भिक युगके समान ही बने रहेंगे और लोगोंका विकास तथा उदय नहीं होगा। इस तरहके आक्षेपका कारण यह है कि लोग वस्तुओंके बाहुल्यको ही विकास और उदय मान लेते हैं। इसके विपरीत यदि लोग यह समझ जायँ कि वास्तविक विकास भौतिक वस्तुओंमें नहीं है, बल्कि बुद्धि तथा चरित्रके विकासमें, व्यक्तिमें कलात्मक ज्ञानके उदयमें, तब यह स्पष्ट हो जायगा कि विकेन्द्रित आर्थिक व्यवस्थामें ही वास्तविक उन्नति सम्भव है। यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो केन्द्रित आर्थिक व्यवस्थामें

हमारी हालत पशुओंसे भी खराब हो गयी है। हमलोग एक दूसरेसे घृणा करते हैं, एक दूसरेको लूटना चाहते हैं, और एक दूसरेका व्यापक संहार चाहते हैं और मनुष्यका दायरा इस तरह सीमित कर देना चाहते हैं कि उसमें खुद सोचने, समझने या काम करनेकी शक्ति ही न रह जाय। यदि उन्नतिका वास्तविक लक्षण मनुष्यका विकास है—और यही लक्षण हमने अपने सामने शुरूसे ही रखा है—तो इसकी प्राप्ति विकेन्द्रित आर्थिक प्रणालीमें ही हो सकती है, केन्द्रित आर्थिक प्रणालीमें यह सम्भव नहीं है।

वर्तमान युगके यातायात :—सड़क, रेल, बस तथा रेडियो—की सुविधाके कारण एक क्षेत्रमें तैयार उपयोगी और सुन्दर सामान, बड़े पैमानेपर उत्पादन प्रणालीकी भाँति, विकेन्द्रित उत्पादन प्रणाली-में, दूर-दूर देशोंके बाजारको पाटकर वहाँ आर्थिक दुर्व्यवस्था और बेकारी पैदा नहीं कर देगा, बल्कि भिन्न-भिन्न क्षेत्रोंके प्रगतिशील कारीगर—जिन्हें अपने कामसे प्रेम होगा और जो अपने काममें नये-नये रूपों और तर्जोंको स्थान देना चाहेंगे,—वे उन सुन्दर तर्जोंकी नकल करेंगे और उनमें सुधार लानेका भी यत्न करेंगे। गाँवके भीतर सहयोगके आधारपर काम होगा इसलिए अपने सहयोगियोंको प्रसन्न रखनेके लिए कारीगर लोग अच्छी-से-अच्छी वस्तु तैयार करनेका यत्न करेंगे, उनकी प्रसन्नता तथा नये तर्जकी वस्तुओंके उत्पादनमें स्वयं कारीगरको जो सन्तोष होगा, ये दोनों बातें उसे नये नये तर्जोंकी खोजके लिए प्रोत्साहित करते रहेंगे। इसके साथ-ही-साथ गाँवके उत्पादनमें सुधार लानेके लिए

विज्ञान और खोजसे भी मदद मिलती रहेगी। इसलिए लोग

प्रारम्भिक अवस्थामें ही नहीं रह जायँगे बल्कि प्रगतिशील होंगे और उन्नति करेंगे।

३—सौन्दर्य और विविधता :—कुछ लोग यह भी कहते हैं कि कलकारखानों द्वारा उत्पादनमें तरह-तरहकी चीजें मिलती हैं जिससे प्रत्येककी रुचिकी तृप्ति हो जाती है, लेकिन ग्रामोद्योगमें जीवन रूखा-नीरस और आकर्षणहीन हो जायगा। यह बात तो निश्चित है कि विकेन्द्रित आर्थिक व्यवस्थामें वस्तुओंका बाहुल्य नहीं रहेगा। लेकिन सामाजिक व्यवस्थाकी आलोचना करते हुए हम यह बात प्रमाणित कर आये हैं कि वस्तुओंका बाहुल्य कोई अच्छी बात नहीं है। बल्कि उससे बुराई ही पैदा होती है। इससे हम गुलाम बन जाते हैं और हमारी प्रगति रुक जाती है। जीवनको सुखी और सुन्दर बनानेके लिए जिन सामानोंकी आवश्यकता है, उनके उत्पादनके लिए ग्रामोद्योगके रास्तेमें किसी तरहकी रुकावट नहीं होगी। आज गाँवोंमें उत्पन्न चीजें यदि रूखी हैं और उनमें आकर्षण नहीं है तो इसका कारण गाँवके कारीगरोंकी दयनीय स्थिति है। उनके मालमें किसीको रुचि नहीं है। उन्हें पेटभर भोजन नसीब नहीं होता और वे भूखा रहते हैं। बड़े-बड़े कलकारखानोंका मुकाबला न कर सकनेके कारण उनके व्यवसायके चतुर तथा प्रवीण कारीगर अपने रोजगारको छोड़कर जीविकाकी खोजमें उन पेशोंमें चले गये जहाँ उन्हें पेटभर अन्न मिल सकता है। लेकिन जब हम सहयोग आर्थिक व्यवस्था कायम कर देंगे, तब कोई कारण नहीं है कि हाथकी बनी वस्तुएँ मिलकी बनी वस्तुओंका मुकाबला नहीं कर सकें। वे उनसे चढ़-बढ़कर हो सकती हैं। कला और कारी-

गरीमें आज भी हाथकी बनी चीजें कलों द्वारा बनी चीजोंसे कहीं उत्तम होती हैं। आज तो उपभोक्ताओंको बाध्य होकर उन्हीं वस्तुओंको खरीदना पड़ता है जो कारखानोंमें तैयार होती हैं और इस तरह उसकी रुचिका दायरा सीमित है। लेकिन ग्रामोद्योगमें तो वह अपने पड़ोसी कारीगरको अपनी रुचिके अनुसार वस्तु तैयार करनेके लिए प्रेरित कर सकता है। इससे उपभोक्ता तथा उत्पादक दोनोंके कलात्मक ज्ञानको प्रोत्साहन मिलेगा और दोनोंमें मौलिकता तथा अपनी योग्यताके प्रदर्शनकी वृद्धि होगी।

(४) विश्राम—यह कल्पना भी निराधार है कि ग्रामोद्योग आर्थिक व्यवस्थामें विश्राम तथा विनोदके लिए समय नहीं मिलेगा। कभी-कभी लोगोंमें यह भ्रान्त धारणा पैदा हो जाती है कि ग्रामोद्योगमें लोग हर वक्त काम ही करते रहेंगे, उदाहरणके लिए रातदिन सूत ही कातते रहेंगे और उन्हें विश्रामके लिए समय नहीं मिलेगा। चूँकि लगातार काममें लगे रहनेसे मनुष्य बोदा और हीन हो जाता है इसलिए ग्रामोद्योगमें व्यक्तिका विकास नहीं हो सकता। इस भ्रान्त धारणा का कारण यह है कि लोगोंको वास्तविकताका ज्ञान नहीं है। यह कौन कहता है कि लोगोंको हरवक्त काम ही करते रहना होगा और फ़ुरसत नहीं मिलेगी ? यदि हम लोग चर्खेका प्रचार आजकल करना चाहते हैं तो इसका कारण यह है कि कामके अभावमें लोगोंकी आर्थिक दशा एकदम दयनीय हो गयी है और लोगोंको उपयुक्त काम नहीं मिल रहा है। ऐसे लोगोंके लिए निराशाके गर्तमें गिरकर सर्वनाशकी अपेक्षा एक घण्टा चर्खा कातकर एक पैसा कमा लेना भी कम नहीं है। जब सब लोग किसी-न किसी काममें

लग जायँगे और पर्याप्त जीविका कमाने लगेंगे तब सबके लिए चर्खा चलाना और सूत कातना आवश्यक नहीं होगा। उस वक्तके लिए तो यह भी व्यवस्था हो सकती है कि सहयोग समिति या राज द्वारा सूत कातनेकी मिलें बैठा दी जायँगी और वहाँसे सूत प्रत्येक गाँवको दिया जायगा। इसलिए चर्खा चलानेकी वर्तमान व्यवस्थाका मतलब लोगोंके विश्रामका समय अपहरण करना नहीं है बल्कि लोगोंमेंसे निराशाके भावको हटाकर उनमें आत्मनिर्भरताका भाव जागृत करना है।

इसके साथ ही कलकारखानोंमें काम करनेवालोंको विश्रामकी जितनी जरूरत पड़ती है, ग्रामोद्योग आर्थिक व्यवस्थामें काम करनेवालोंको विश्रामकी उतनी जरूरत भी नहीं होगी क्योंकि जब एक ही कामके अनेक पहलू होते हैं, जैसा कि ग्रामोद्योगमें होगा, तब विश्रामके लिए लोग उतने लालायित नहीं होंगे। हमारे पास इस बातके प्रमाण मौजूद हैं कि प्राचीन युगमें हमारे कारीगरोंने विश्रामकी कभी आवश्यकता नहीं महसूस की, अपने काममें ही उन्हें असीम आनन्द मिलता था। इसीका परिणाम है कि उनके अथक परिश्रमका फल कपड़ोंपर उनके तर्ज, हाथीके दाँत, पीतल, लकड़ी तथा पत्थरपर बारीक तथा अनोखी खुदाईके रूपमें प्रकट हुआ। इस तरहके उत्तम और अवर्णनीय काम ऐसे लोगों द्वारा नहीं तैयार किये जा सकते थे जिन्हें इतमीनानसे काम करनेका अवसर न होता और कामके पीछे सदा दौड़ते रहना होता। यह तो वर्तमान मशीन-युगका प्रसाद है कि लोगोंको दम मारने की फुरसत नहीं मिलती, सदा दौड़-धूप मची रहती है और अनवरत काम

चलता रहता है। लोगोंको न चैन मिलता है और न शान्ति। जल्दीबाजी और अधीरता बनी रहती है। प्राचीन युगके लोग धीर और शान्त रहते थे और इतमीनानसे काम करते थे। उन्हें समयकी कमी नहीं रहती थी। ऐसा मालूम होता था कि वे युग-युग जीते रहेंगे। वर्षके कुछ महीनोंमें ही—जब खेतोंमें फसल तैयार हो जाती थी—वे दिन-रात काममें लगे रहते थे, अन्यथा वे अपनी इच्छाके अनुसार काम करते थे। उनके पास समयकी कमी नहीं रहती थी। वे अपने परिवार या गाँवके जमातके साथ तपनीके पास बैठते थे और पौराणिक, धार्मिक तथा ऐतिहासिक कहानियाँ सुना करते थे अथवा नाच, गाना या थिएटरमें शामिल होते थे। लेकिन विचित्र बात तो यह है कि वर्तमान युगके रहनेवाले हमलोग – जिन्हें अपने बाल-बच्चोंकी देखरेख करनेके लिए भी पर्याप्त समय नहीं है—उन लोगोंपर यह दोषारोपण करनेकी धृष्टता करते हैं कि उन्हें फुरसत नहीं मिलती थी। इस तरहका विचार किसी एकके मनमें उठता है। वह इसका इस तरह प्रचार कर देता है कि बिना समझे-बूझे लोग उसपर विश्वास करने लग जाते हैं। थोड़ी देरके लिए यदि यह मान भी लिया जाय कि प्राचीन कालमें लोगोंको फुरसत कम मिलती थी—यद्यपि यह वास्तविकता और प्रत्यक्ष प्रमाणके सर्वथा प्रतिकूल होगा—तोभी इससे यह परिणाम कैसे निकाला जा सकता है कि वर्तमान युगमें भी उस प्राचीन परिपाटीको कायम करनेसे लोगोंको विश्रामके लिए समय नहीं मिलेगा। यह विज्ञानका युग है। विज्ञानकी सहायतासे ग्रामो-

द्योगमें इस तरहके सुधार कर दिये जायँगे कि गाँवके कारीगरको

अपने काममें अनेक तरहकी सुविधाएँ हो जायँगी और उसे प्रचुर समय विश्रामके लिए प्राप्त होगा। आजतक विज्ञानका प्रयोग ग्रामोद्योगके लिए नहीं किया गया है इसलिए यह कहना सम्भव नहीं है कि ग्रामोद्योगमें विज्ञानके प्रयोगसे काममें कितनी सहूलियत होगी और समयकी कितनी बचत होगी। उस समय किसान अपना फाजिल समय संगीत या चित्रकारी तथा कारीगर अपना फालतू समय साहित्य तथा दर्शनके अध्ययनमें मजेमें लगा सकता है। इसके अलावा वह स्वयं इस बातको अधिक पसन्द करेगा कि उसका फालतू समय ऐसे शारीरिक श्रमके काममें लगाया जाय जिससे उसे लाभकी सम्भावना हो, बनिस्बत इसके कि मिलोंमें काम करके उसकी बुद्धि मार दी जाय।

५—सहयोग और भ्रातृभाव :—इसके अलावा जब एक ही पेशेके लोग एक साथ मिलकर काम करेंगे और गाँवकी आवश्यता पूरी करेंगे, तभी तो वास्तविक सहकारिता और एक दूसरेपर निर्भर रहनेका भाव उत्पन्न होगा जो किसी परिवारके सदस्योंमें दिखायी देता है। यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि गाँवकी इकाई जितनी छोटी होगी, सहयोग और सङ्गठन उतना ही दृढ़ होगा। उसी अवस्थामें लोग विना किसी बाहरी प्रेरणाके अपने मनसे एक दूसरेके कल्याणके लिए काम करेंगे और तभी सङ्कीर्ण स्वार्थको त्यागकर परस्पर आदान-प्रदानसे लाभ उठानेका सुख प्राप्त करेंगे।

उसी हालतमें समाजके लिए व्यक्ति अपना सङ्कीर्ण स्वार्थ भूल सकेगा और समाजका वृहत् जीवनका सुख-दुख उसके छोटे-से-छोटे सहस्यपर निर्भर करेगा। प्रत्येक व्यक्ति यह अनुभव

करेगा कि समाजको सुखी बनाकर ही वह सुखी बन सकता है क्योंकि वह समाजका एक अङ्ग है और समाज भी यह बात महसूस करेगा कि उसके सदस्योंके अतिरिक्त उसका अपना अलग कोई भी अस्तित्व नहीं है और उसके कल्याणमें ही समाजका कल्याण है। इसलिए वह अपने दायरेमें रहनेवाले छोटे-छोटे सदस्यकी भी पूरी देखरेख करेगा। इस प्रकार वह सङ्कीर्णता आप-से-आप गायब हो जायगी जिसकी प्रेरणासे मनुष्य अपने पड़ोसीकी परवा न कर केवल अपने स्वार्थसाधन-के लिए काम करता है और जिसके चलते वह अपना और अपने पड़ोसी—दोनोंका सर्वनाश करता है, जैसा कि वर्तमान विश्वव्यापी रक्तपात और नरसंहारसे स्पष्ट प्रकट है और उस संकीर्णता के स्थान पर उस सत्यका उदय होगा जिसके द्वारा मनुष्य समाजके कल्याणमें ही अपना कल्याण निहित समझता है। इस तरह जो समाज अपने अनेक सदस्योंके सुख-दुखकी परवा न कर अथवा उससे उन्हें वञ्चित कर आगे बढ़ना चाहता है, उस तरहके समाजका अन्त हो जायगा और उसके स्थानपर ऐसे समाजकी स्थापना होगी जो अपने हीन से-हीन सदस्यकी उसी तरह देख-रेख करेगा।

इस तरहके समाजका सदस्य स्पष्ट अनुभव करेगा कि वह तथा उसका समाज दोनों एक हैं। उसका अपना कोई अलग अस्तित्व नहीं है, बल्कि उसका अस्तित्व समाजके अस्तित्वमें घुल-मिल गया है, उसके पड़ोसीका अस्तित्व उसके अस्तित्वके साथ जुड़ा हुआ है और उसका जीवन तभी सार्थक है जब वह केवल अपने लिए न जीवित रहकर अपने पड़ोसियोंके

लिए ही जीवित रहता है। इसी तरहके सत्यपर अवलम्बित समाज ही चिरस्थायी हो सकता है, न कि वह समाज जो इस गलत सिद्धान्तपर चलता है कि व्यक्ति ही सब-कुछ है और दूसरे लोगोंके स्वार्थोंकी हत्याकर वह अपने ही स्वार्थ-साधनमें रत रहता है। जिस समाजका आधार वैयक्तिक स्वार्थ होगा, उसका नाश अनिवार्य है। वह बालूकी भीतकी भाँति ढहकर गिर जायगा, लेकिन वह समाज जिसके प्रत्येक सदस्य एक-दूसरेके सुखको ही अपना सुख समझेंगे वह समाज अनन्त कालतक जीवित रहेगा क्योंकि उसकी बुनियाद विश्वके प्राकृतिक नियमपर अवलम्बित है।

ऐसे समाजमें काम वास्तवमें देव-पूजाके समान होगा क्योंकि वहीं तो मनुष्य मनसा, वाचा और कर्मणा समाजके बृहत् कल्याणमें अपनेको डुबो देगा और इस तरह वह प्रकारान्तरसे उसकी सेवा करेगा जिसने इस सृष्टिका सृजन किया है। उसी अवस्थामें आर्थिक-व्यवस्था केवल भौतिक न रहकर आध्यात्मिक रूप ग्रहण करेगी और वहीं जाकर श्रम हेय दृष्टिसे नहीं देखा जायगा क्योंकि उसका उद्देश्य केवल अपना भरण-पोषण न होकर, देवत्वतक पहुँचनेका वह साधन होगा, क्योंकि प्रेमसे प्रेरित होकर समाजके कल्याणके लिए उसका उपयोग होगा और व्यक्तिको अपने संकीर्ण स्वार्थसे हटाकर समाजके कल्याणमें निहितकर वह विश्वके कल्याणका साधन बनेगा जो देवलोकके रूपमें प्रत्येक शरीर में समान रूपसे वर्तमान है। उसी समय सङ्कीर्ण स्वार्थ और निर्दय प्रतिस्पर्धाकी भावनासे मुक्त होकर व्यक्ति सच्चे सहयोगका दर्शन करेगा और प्रत्येक

व्यक्ति एक-दूसरेके सुख-दुखमें समान रूपसे शामिल होगा। मैं और तू भावका लोप हो जायगा और सच्चे भ्रातृभाव और सहयोगका उदय होगा। प्रत्येक व्यक्तिका दैनिक जीवन और कार्य विलगावकी मायाको काटकर एकताका भाव ग्रहण करेगा। यही शिक्षा हमें सदियोंसे मिलती आ रही है। इस उपायसे उस आर्थिक व्यवस्थाका उदय होगा, जिसमें हमारे देश-वासियोंके पवित्र और उत्तम गुणोंका दर्शन होगा।

६—राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय एकता—कुछ लोग यह तर्क भी उपस्थित कर सकते हैं कि इस तरह की आर्थिक व्यवस्थासे गाँवके निवासियोंमें सामाजिक एकताकी दृढ़ भावनाका उदय हो सकता है, लेकिन राष्ट्रव्यापी अथवा विश्वव्यापी आर्थिक एकताके दृढ़ सूत्रमें जन समाजको केवल मात्र बड़े पैमानेपर उत्पादन ही बाँधकर रख सकता है और इसीके द्वारा राष्ट्र तथा विश्वके बीच वास्तविक एकता और अन्योन्याश्रयका भाव पैदा हो सकता है। ग्रामोद्योग आर्थिक व्यवस्था देश और विश्वको छोटे-छोटे अगणित टुकड़ोंमें बाँट देगी। प्रत्येक आत्म-निर्भर होकर भी एक दूसरेसे असम्बद्ध रहेंगे और एक दूसरेके साथ सहयोग करनेमें असमर्थ होंगे? हिन्दू-मुस्लिम एकताके प्रसङ्ग की आलोचना करते हुए हमने इस प्रश्नके साम्प्रदायिक पहलूपर प्रकाश डाला है और शिक्षाके प्रसङ्गमें हमने यह भलीभाँति दिखला दिया है कि शिक्षा द्वारा बिभिन्न गाँवके समुदाय राष्ट्रीयता तथा अन्तर्राष्ट्रीयताके बन्धनमें भलीभाँति पिरोये जा सकेंगे। यहाँपर दो शब्द सांस्कृतिक सम्बन्धमें लिख देना उचित होगा। यह कहा जाता है कि बड़े पैमाने-

पर उत्पादनमें अधिक संख्यामें लोग एक साथ काम करते हैं, इसलिए उनमें एकता और अन्योन्याश्रयका भाव अधिक मात्रामें उत्पन्न होता है। बड़े पैमानेपर उत्पादनसे जिन लोगोंको लाभ होता है उन लोगोंमें इस भावनाका इतना व्यापक प्रचार हुआ है कि जनसाधारण भी इसमें विश्वास करने लग गये हैं। लेकिन यह सर्वथा सच है कि हमलोग पहलेकी अपेक्षा आज अपनेको ब्रिटेनके बहुत निकट समझने लगे हैं, इसका कारण यह है कि हमलोग ब्रिटेनके कल-कारखानोंके लिए कपास पैदा करते हैं और ब्रिटेनके कल-कारखाने हमारे लिए कपड़ा तैयार करते हैं। जापानके साथ भी यही बात है। इतना होनेपर भी जापानके साथ हमारा सांस्कृतिक सम्पर्क नहीं है। इसके प्रतिकूल यदि हमें अपने लिए वस्त्र उत्पादनकी स्वतन्त्रता होती तो सम्भव है कि सांस्कृतिक क्षेत्रमें हम ब्रिटेन तथा जापानके अधिक निकट होते और बराबरीके दावापर हमारा यह मेल होता। लेकिन आर्थिक क्षेत्रमें उनके अधीन होनेके कारण हमलोगोंके बीच मैत्रीके भावका उदय तो नहीं हुआ, बल्कि इसके विपरीत असहयोग, घृणा और शत्रुताका भाव ही अधिक देखनेमें आता है। दो राष्ट्रोंके बीच आर्थिक अधीनतासे मैत्रीका भाव उदय नहीं हो सकता, बल्कि सांस्कृतिक आदान-प्रदानसे ही यह सम्भव है। परस्पर प्रतिस्पर्धा न कर यदि हमलोग अपनी आवश्यकताके लिए खुद पैदा करते और यदि सांस्कृतिक आदान-प्रदानके लिए ही रेलें, हवाई जहाज, सामुद्रिक जहाज, सड़क तथा मोटरें हमलोगोंको एक दूसरेके सम्पर्कमें लानेका काम करतीं तो हम-लोगोंके बीच मैत्री, एकता, भ्रातृभावकी ज्यादा सम्भावना थी,

बनिस्बत इसके कि जब हम उत्पादन तथा उपभोक्ताके रूपमें आर्थिक व्यवस्थाके कारण एक दूसरेके सम्पर्कमें आ गये हैं। जापानकी अपेक्षा चीनके साथ हमारी अधिक सहानुभूतिका एक यह भी कारण है कि चीनके साथ हमारा किसी तरहका व्यापारिक सम्बन्ध नहीं है, लेकिन जापानके साथ है। इसलिए यदि हमलोग चाहते हैं कि विभिन्न राष्ट्रोंके निवासियोंके बीच सहयोग, एकता और मेल कायम हो तो यह आवश्यक है कि आर्थिक क्षेत्रमें उन्हें एक दूसरेसे अलग रखा जाय और उनके बीच केवल सांस्कृतिक सम्पर्क स्थापित किया जाय। भाव, ज्ञान, कला, आतिथ्य और यात्रा ये ही वस्तुएँ हैं जो अन्तर्राष्ट्रीय हो सकती हैं लेकिन जहाँतक सम्भव और साध्य हो, प्रत्येक देश अपना ही बना माल अपने काममें लावें। उपर्युक्त भाव गांधीजीके नहीं हैं, बल्कि इन भावोंको व्यक्त करनेवाला ब्रिटेनका सबसे बड़ा अर्थशास्त्री श्रीकीन्स है।

विकेन्द्रित उत्पादन प्रणालीमें यह साध्य होगा। आर्थिक क्षेत्रमें जहाँतक सम्भव है एक दूसरेसे अलग और स्वतन्त्र रहकर भी वे लोग यातायातके आधुनिक साधनोंके उपयोगसे सांस्कृतिक मेल-मिलापके लिए देशके विभिन्न समुदायों और जातियोंसे स्वतन्त्र रूपसे मिलते रहेंगे। प्राचीन युगमें प्रत्येक गाँव आर्थिक दृष्टिसे आत्मनिर्भर था और यातायातकी इतनी सुविधायें भी नहीं थीं तोभी सारे देशमें सांस्कृतिक एकता थी। आज भी विभिन्नताओंके होते हुए भी धर्म, दर्शन, सङ्गीत, नृत्य, नाटक, वास्तुकला तथा इस तरहके अन्य कामोंमें देशभरमें एकताका राज्य देखनेमें आता है। एकताका यह राज्य आज

भी सारे देशमें उसी तरह कायम है जिसका दर्शन प्रत्येक प्रान्तके निवासियोंके रहन-सहन, वेषभूषा, रीतिरिवाज तथा आचार विचारमें स्पष्ट दिखायी देता है। यदि इस विचारधारामें कि अधिक सङ्गठनसे ही वास्तविक एकता कायम हो सकती है, सत्यका थोड़ा भी अंश होता तो उपर्युक्त बातोंका हमें दर्शन न मिलता। इसके विपरीत, जो कुछ हम दिखला आये हैं, वह यदि सत्य है तो उसका उदय तभी हो सकता है जब हमारे विभिन्न तत्व आर्थिक दृष्टिसे एक दूसरेसे स्वतन्त्र हों और एक दूसरेके साथ उन्हें प्रतिस्पर्धा नहीं करना पड़ता है। तभी हममें वास्तविक सांस्कृतिक एकता और राष्ट्रीयताका उदय हो सकता है। राष्ट्रीयता के लिए शिक्षा, सांस्कृतिक सम्पर्कके लिए यातायातकी सुविधा और समस्त राष्ट्रके कल्याणके लिए एक शासन हमलोगोंको एकताके सूत्रमें बाँधकर रखनेके लिए पर्याप्त हैं और हमलोगोंके राष्ट्रीय जीवनमें विभिन्नताके होते हुए भी एकताका भाव हममें भर सकता है।

जो बात राष्ट्रीयताके लिए लागू है वही अन्तर्राष्ट्रीयताके लिए भी सही है। अन्तर्राष्ट्रीयताका सच्चा भाव राष्ट्रोंमें तभी उदय हो सकता है जब वे एक दूसरेसे प्रत्येक बातमें स्वतन्त्र हों। जबतक प्रत्येक राष्ट्र अपने पैरोंपर खड़ा नहीं हो सकता, तबतक कोई भी सन्धि उपयोगी नहीं हो सकती; क्योंकि सबल राष्ट्र दुर्बल राष्ट्रोंका उपयोग अपने लाभके लिए करता रहेगा इसका परिणाम यह होगा कि सबल राष्ट्रोंमें इसके लिए सङ्घर्ष पैदा हो जायगा। ऐसी अवस्थामें वास्तविक एकताकी आशा कैसे की जा सकती है। यदि हमेशाके लिए नहीं तो बहुत कालतक

तो सभी राष्ट्र समान रूपसे शक्तिशाली नहीं बन सकते। समताके अभावमें किसी भी सच्चे अन्तर्राष्ट्रीय विश्वराजकी स्थापना नहीं हो सकती जो प्रतिनिधिके रूपमें सभी राष्ट्रोंका नियन्त्रण कर सके। इस तरहकी व्यवस्थामें सबल राष्ट्रोंका निर्बल राष्ट्रोंपर प्रभुत्व कायम होना अनिवार्य है। सच्ची अन्तर्राष्ट्रीयता अथवा राष्ट्रोंमें सच्चा प्रेम तभी कायम हो सकता है जब प्रत्येकको अपने सामर्थ्यके अनुसार अपनी देखभाल करनेकी स्वतन्त्रता हो और दूसरेके काममें वे किसी तरहका हस्तक्षेप न कर सकें और सांस्कृतिक आदान-प्रदानके लिए ही मेल-जोल स्थापित करें अथवा उन बातोंके निर्णयके लिए जिनका असर सबके ऊपर समान रूपसे पड़ता हो। इसके प्रतिकूल वर्तमान युगकी अन्तर्राष्ट्रीयताका आधार बड़े पैमानेपर उत्पादन तथा अधिकारके लिए एकाधिपत्य-का लोभ है। इस तरहकी अन्तर्राष्ट्रीयता, वैयक्तिकता तथा स्वार्थपरताकी चरमसीमा है जो सर्वव्यापकता और अन्तर्राष्ट्रीय सहयोगका आवरण पहनकर विश्वको इस तरह विफल कर देनेका प्रयास करती है ताकि चन्द बड़े-बड़े उद्योग धन्धे वाले देश अन्य देशोंका आर्थिक शोषण करते रहें। सच्ची अन्तर्राष्ट्रीयताका उद्देश्य यह होना चाहिये कि सबल राष्ट्र दुर्बल राष्ट्रोंपर अपना प्रभुत्व स्थापित करनेके बजाय उसकी सहायता करें। उन देशोंकी सबसे बड़ी सेवा यही होगी कि उन्हें अपना विकास करनेके लिए स्वतन्त्र छोड़ दिया जाय और जिस तरहकी सहा-यता वे खुद चाहें उसी तरहकी सहायता उन्हें उसी प्रकारसे दी जाय। इस तरहकी अन्तर्राष्ट्रीयता या सच्चा सहयोग और

आपसमें परस्पर सहायताके भावका उदय स्वदेशीके सिद्धान्तके आधारपर ही हो सकता है जिसका प्रतिपादन इस पुस्तकमें किया गया है। सच्चे स्वदेशीका सिद्धान्त यही है कि प्रत्येक देशको इस बातकी स्वतन्त्रता रहनी चाहिये कि दूसरेके अधिकारपर किसी तरहका हमला न कर वह अपना कारबार स्वतः देखे। सच्चे भ्रातृभाव, एकता तथा सद्भावनाका उदय उनके बीच तभी हो सकता है जब प्रत्येक राष्ट्र दूसरे राष्ट्रको स्वतन्त्र छोड़ दें और यह तबतक सम्भव नहीं है जबतक प्रत्येक देश केवल अपनी आवश्यकताकी पूर्तिके लिए ही उत्पादन नहीं करने लगेगा और एक दूसरेकी सहायताके लिए तत्पर नहीं रहेगा।

७—अहिंसात्मक शक्ति शान्ति तथा स्वतन्त्रता :–अपने देशवासियोंके आर्थिक जीवनके पुनः निर्माणके काममें सफलता प्राप्त करनेके लिए सबसे बड़ी आवश्यकता इस बातकी है कि पूँजीवाद या समाजवाद द्वारा प्रतिपादित बड़े पैमानेपर उत्पादन या वस्तुओंकी बहुलता की ओर हम आकृष्ट न हों। यदि हम अपने देशमें सच्ची शक्ति, शान्ति और स्वतन्त्रता कायम करना चाहते हैं तो हमें अपने तरीकेसे काम करना होगा। वह तरीका विकेन्द्रीकरणका तरीका है। विकेन्द्रीकरण प्रणालीमें सारा अधिकार जनताके हाथमें रहता है और अपनी सारी आवश्यकताओंकी पूर्ति उन्हें आप-से-आप करनी पड़ती है। यह हमारे देशकी भौगोलिक अवस्था तथा सांस्कृतिक परम्पराके ही अनुकूल नहीं है, बल्कि इससे जनतामें वास्तविक शक्तिका उदय होता है और शान्ति तथा स्वतन्त्रताकी स्थापना होती है।

क्योंकि एक तरफ जब लोग अपने कामकी देख-रेख स्वयं करने लगेंगे—यह काम आत्मनिर्भर छोटे जमातमें ही पूरी तरह सम्पन्न हो सकता है—और अपने दैनिक जीवनकी सारी आवश्यकताओं-की पूर्तिके लिए अपने प्रयास और बुद्धिपर निर्भर रहने लगेंगे तभी वे साधनसम्पन्न, आत्मनिर्भर तथा शक्तिशाली हो सकते हैं और दूसरी ओर यही एकमात्र उपाय है जिससे युद्ध और लूट-खसोटका अन्त हो सकता है।

जब किसी देशके लोग आत्म-निर्भर और शक्तिशाली हो जाते हैं तो उस देशके शासनके लिए उन्हें युद्धमें प्रवृत्त करना सहज नहीं होता क्योंकि यदि उनमें युद्धमें प्रवृत्त होनेसे इनकार करनेकी क्षमता है या युद्धके लिए सामग्री देनेसे इनकार करनेकी क्षमता है तो शासक लाचार हो जायगा। किसी भी देशकी जनता युद्धको पसन्द नहीं करती क्योंकि युद्धका सारा व्यय और प्राणोंकी आहुति उसे ही देना पड़ता है, इसलिए यदि उनका वश चले तो युद्धको असम्भव कर दें। लेकिन वर्तमान केन्द्रित उत्पादन-प्रणाली और तज्जनित केन्द्रित शासन-प्रणालीके कारण जनता सीमाके भीतर बन्द है और उसे अपनी शक्तिपर विश्वास नहीं है। इसलिए दण्डका भय दिखाकर उन्हें दबाना शासनके लिए आसान है। वह गलत प्रचारों द्वारा उन्हें उस-काती है और उनकी इच्छाके खिलाफ उन्हें लड़नेके लिए अनिवार्य रूपसे वाध्य करती है। इस तरह जबतक लोग दुर्बल और अधीन बने रहेंगे, वे लोग उन कतिपय अधिकार-लोलुपों ? जिनके हाथमें शासनकी बागडोर है—की तरकीबोंके शिकार बनते रहेंगे और इसी तरह अपने प्राण गँवाते रहेंगे। विकेन्द्री-

करण ही एक ऐसी प्रणाली है जहाँ अपनी सारी आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिए अपने ऊपर निर्भर रहकर लोग शक्तिशाली, साहसी और आत्मनिर्भर बन सकेंगे और जो शासन उनकी इच्छाके विरुद्ध उन्हें युद्धमें भेजना चाहेगा, उसे कोरा जवाब दे देंगे। हम पीछे दिखला आये हैं कि केन्द्रीकरण-प्रणालीमें सारा अधिकार शासनके हाथमें केन्द्रित हो जाता है और जनता हर तरहसे लाचार और कमजोर हो जाती है और विकेन्द्रित प्रणालीमें जनता हर तरहसे शक्तिशाली हो जाती है और शासन शक्तिहीन हो जाता है। समय पाकर शासनका अन्त भी हो सकता है। शासन ही जनताको युद्धके लिए प्रेरित करता है, इसलिए शासन जितना ही शक्तिहीन होगा उतनी ही शान्तिपूर्वक जनता रह सकेगी।

दूसरे जहाँ उत्पादन छोटे-छोटे दायरेमें ग्राम-औजारों द्वारा होगा, वहाँ विश्वशान्तिके लिए भी किसी तरहका खतरा नहीं होगा क्योंकि उनके कारखानोंका उपयोग शस्त्र तैयार करनेके काममें नहीं हो सकेगा। दूसरे विश्वशक्तिको भङ्ग करनेके लिए उन्हें प्रोत्साहनका भी कोई साधन नहीं रहेगा क्योंकि विकेन्द्रित प्रणालीमें न तो उन्हें दूसरोंसे कच्चा माल लेनेकी जरूरत होगी और अपने तैयार मालको बेचनेके लिए बाजार की ही। उनका पड़ोस ही उनके कामके लिए पर्याप्त होगा।

तीसरे जब गाँव अपनी सारी प्रारम्भिक आवश्यकताओंके लिए अपने ही ऊपर निर्भर करने लगेंगे तो उतनेसे ही वे पूँजीपतियों अथवा साम्राज्यवादियोंके लूट-खसोटस मुक्त हो जायँगे।

दूसरोंके सामने हमें तभी सिर झुका देना पड़ता है और उसके

द्वारा लूटे जानेके लिए मजबूर होना पड़ता है जब हमारा काम उन चीजों बिना नहीं चलता जो उसके अधिकार में हैं चाहे वह जमीन हो, रुपया हो, आवश्यक सामान हो मशीन हो अथवा रेल हो। लेकिन जब अपनी सारी आवश्यकताके लिए हम अपने ही साधनोंपर निर्भर करेंगे तब हम आसानीसे लूटनेवालोंका प्रतिरोध कर सकेंगे।

विकेन्द्रीकरण द्वारा जनताको लूटे जानेसे मुक्त कर देनेके बाद प्रत्येक गाँव या गरोहको अपनेको पूर्ण बनाना बहुत ही सरल हो जायगा, बनिस्बत इसके कि वह काम बड़े पैमानेपर देशव्यापी या विश्वव्यापी व्यवस्था द्वारा किया जाय। जिस तरह स्टालिनने साम्यवादको एकबारगी विश्वमें नहीं फैलाकर रूसमें ही उसे केन्द्रित करना अधिक उपयोगी समझा, उसी तरह, जैसा कि हम पीछे लिख आये हैं, इस समष्टिवाद या सहयोग आर्थिक व्यवस्था को गाँवोंके सङ्गठित दलतक ही सीमित रखना कहीं व्यावहारिक होगा। समष्टिवाद इस तरह विकेन्द्रित हो जानेपर कहीं ज्यादा क्रान्तिकारी होगा अर्थात् वर्तमान आर्थिक व्यवस्थाको वह तुरन्त उलट देगा और जनताको लूट-खसोट तथा गुलामीसे मुक्त कर देगा। इतनी शीघ्रता तथा उत्तमतासे मार्क्सवादका शस्त्रयुक्त साम्यवाद भी उसे सम्पन्न नहीं कर सकेगा क्योंकि विकेन्द्रित होनेके कारण इसकी स्थापना अपने ही प्रयाससे विभिन्न ग्राम इकाई आपसे आप कर सकेंगी। जो आजादी गाँवके लोग अपने बल और प्रयाससे प्राप्त करेंगे उसे वे कायम भी उसी तरह रख सकेंगे। इसके प्रतिकूल जो आजादी क्रान्तिकारी षड्यन्त्र द्वारा प्राप्त की जायगी

वह कायम नहीं रह सकती क्योंकि षड्यन्त्र शक्तिका द्योतक नहीं है। इसके द्वारा तो एककी गुलामीसे मुक्ति पाकर दूसरेकी गुलामीमें फँस जाना होगा। उदाहरणके लिए पूँजीपति या सा ज्यवादियोंकी दासतासे मुक्ति पाकर शक्तिशाली साम्यवादी राजकी गुलामी करनी होगी।

ग्रामोद्योग आर्थिक व्यवस्थामें सफलता निश्चित है, और इसका परिणाम भी स्थायी होगा। इसे एक बार प्रयोगमें लानेसे ही जनताकी दासतासे मुक्ति हो जायगी। संसारके सभी पद-दलितोंके लिए यह व्यावहारिक शिक्षा होगी। पूँजीवादी, साम्राज्य-वादी, फासिस्टवादी, साम्यवादी सभी शक्तियोंके भारसे दबी जनता इससे शिक्षा ग्रहण कर विना रक्तपातके ही अपने कन्धेपरका बोझ उतारकर फेंक देगी। इसलिए यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि ग्रामोद्योग आर्थिक व्यवस्थामें असीम शक्ति निहित है।

उपसंहार

आर्थिक जगत्से मानवताका भाव अनन्त कालसे साव-धानीके साथ अलग रखा गया है। यदि भारत जनसाधारणको लूटने, गरीब नाने तथा कमजोरोंको गुलाम बनानेके लिए विश्वके व्यावसायिक देशोंका अनुकरण नहीं करना चाहता है और जन-समुदायको रक्तपात तथा संघर्षके अथाह सागरमें नहीं ढकेलना चाहता है, यदि अपनी आध्यात्मिक परम्पराके अनुसार पीड़ित तथा अनवरत युद्धसे क्लान्त जनताको शान्ति और स्वतन्त्रताका सच्चा मार्ग दिखलाना चाहता है तो इसके लिए एकमात्र उपाय यही

है कि वह ऐसी आर्थिक व्यवस्था कायम करे जिसमें उत्पादन तथा उपभोगकी ऐसी व्यवस्था हो जिससे उसके निवासी शक्तिशाली बनें और अपना देखभाल स्वयं कर लें ताकि न तो उन्हें दुर्बलों को लूटनेकी आवश्यकता पड़े और न शक्तिशाली राष्ट्रोंके साथ युद्ध करनेकी ही आवश्यकता पड़े। ग्रामोद्योग आर्थिक व्यवस्थाके सिद्धान्त इन्हीं बातोंको दृष्टिपथमें रखकर स्थिर किये गये हैं। विकेन्द्रीकरण द्वारा जब जनताको शक्ति और साहस सञ्चय करने तथा आत्मनिर्भर बननेका अवसर मिलेगा और जब स्वदेशी द्वारा वे सहयोग तथा अपने पड़ोसियोंकी सहायता करना सीख जायँगे, तब लूटखसोट तथा दासतासे उन्हें ही मुक्ति नहीं प्राप्त होगी बल्कि विश्वसे समस्त प्राणीके लिए मुक्ति प्राप्त करनेके वे साधन बनेंगे। इस तरहकी प्रणालीमें हमारी भौतिक आवश्यकताओंके साधन भले ही सीमित रहें लेकिन हमलोग सुव्यवस्थित आर्थिक प्रणालीके आधारपर स्थायी शान्ति और अहिंसा स्थापित कर सकेंगे।

इसके लिए जो उपाय काममें लाने होंगे वे अत्यन्त सरल हैं। इसे पूरा करनेके लिए हिंसापूर्ण संगठित क्रान्तिकी आवश्यकता नहीं है बल्कि अहिंसात्मक विकेन्द्रित प्रणालीकी जो प्रत्येक नागरिकके सद्भाव और विचार-बुद्धिपर कायम होगा। हमें प्रत्येक गाँवको उत्पादन तथा उपभोगके लिए आत्मनिर्भर बनना पड़ेगा।

यदि इस देशके प्रत्येक निवासी—चाहे वे शहरोंमें बसनेवाले हों या गाँवोंमें—यह निश्चय कर लें कि वे विकेन्द्रित आर्थिक प्रणाली द्वारा तैयार माल ही खरीदेंगे और काममें

लावेंगे तो इस आर्थिक व्यवस्थाको शीघ्र ही कायम किया जा सकता है। यदि हमलोग यह चाहते हैं कि हमारे देशसे दरिद्रता दूर हो और हम शक्तिशाली, संगठित, स्वतन्त्र और आत्म-निर्भर राष्ट्र बनें और आज या कभी किसी विदेशी शक्तिके सामने सिर नहीं झुकावें तो उसकी दवा हमलोगोंके ही हाथमें है अर्थात् जहाँतक हो ग्रामोद्योगको प्रोत्साहन दें, ग्रामोद्योग द्वारा उत्पादित वस्तुओंका ही व्यवहार करें, और गाँवको आत्मनिर्भर बनावें। यदि स्वयं काम करनेकी क्षमता न हो तो कम-से-कम हमें यह प्रतिज्ञा तो कर लेनी चाहिये कि हम उन्हीं वस्तुओंको काममें लायेंगे जो हमारा पड़ोसी गाँव तैयार करता है। हमारे इतना कर लेनेके बाद कोई भी विदेशी शक्ति हमें अपने अधीन रखना नहीं चाहेगी; क्योंकि हमारे कच्चे माल तथा बाजारके लिए ही विदेशी शासन हमपर चढ़ाई करेगा। यदि कोई विदेशी शक्ति हमारे ऊपर चढ़ाई भी करे तो अपना प्रबन्ध आप कर लेनेसे लोगोंमें इतनी शक्ति आ जायगी, हमारे पास पर्याप्त साधन हो जायँगे कि हमलोग साहस और अहिंसा द्वारा उसका मुकाबला कर उसके प्रयासको व्यर्थ कर देंगे।

इसी तरहके अहिंसात्मक उपाय द्वारा हमलोग अपनेको स्वतन्त्र, व्यवसायी और सम्पन्न बना सकेंगे। हमारा जीवन भले ही सादा हो; लेकिन हमारे विचार ऊँचे होंगे। यही हमारी प्राचीन सांस्कृतिक तथा आध्यात्मिक परम्पराके अनुकूल होगा। इसी तरह हम वैभव तथा अधिकारके लिए उन्मत्त तथा संघर्ष और युद्धसे जर्जर विश्वको स्थायी सुख, शान्ति, स्वतन्त्रता, उन्नति तथा परस्पर सद्भावका मार्ग दिखला सकेंगे।

अपील

अपनी बातके समर्थनमें हमने ऊपर जो दलीलें पेश की हैं वे कायल करनेवाली हों या नहीं, लेकिन प्रत्येक व्यक्तिको यह स्वीकार करना पड़ेगा—चाहे भविष्यके लिए वे देशमें जो भी आर्थिक व्यवस्था कायम करना चाहते हो—कि जब हमारे देशके लोग भूख और बीमारीसे घुलघुलकर मर रहे हैं, और हम शासनको इनकी अवस्था सुधारनेके लिए बाध्य करनेमें असमर्थ हैं तो हम जो कुछ कर सकते हैं वह यही है कि जो भी सीमित साधन उन्हें उपलब्ध हैं, उनका भलीभाँति उपयोग कर हम देहातोंको थोड़ा भी सुखी बनानेका प्रयत्न करें। इतना तो सभी स्वीकार करेंगे कि यदि जनसमुदाय—जिसका बहुत बड़ा भाग गाँवमें रहता है—उपयोगी काममें नहीं लगाया जा सका और वर्तमान सभ्य जीवनका आंशिक लाभ भी उन्हें नहीं मिल सका तो राजनीतिक स्वतन्त्रताका हमारे लिए कोई मूल्य नहीं होगा। इसलिए व्यर्थके विवादमें समय नष्ट न कर हमें काममें लग जाना चाहिये। वर्तमान दशामें हम जो भी थोड़ा कर सकते हैं, उसे सम्पन्न करें और आगे जो होनेवाला है उसे भविष्यके लिए छोड़ दें। हमें सुदूर भविष्यको देखनेकी जरूरत नहीं है। अगला कदम ही हमारे लिए पर्याप्त होगा। हम जो कुछ कर सकते हैं, उसका निर्देश हमने इस पुस्तकमें कर दिया है। जिसके लिए जो कार्यक्रम अनुकूल हो वह उसे अपने हाथमें लेले—चाहे वह गाँवकी सफाई और स्वास्थ्य, खूराक, शिक्षा, सामाजिक सुधार, अछूतोद्धार साम्प्रदायिक एकता, महिलाओंका सुधार, सहयोग, बालशिक्षा, युवक आन्दोलन,

आमोद-प्रमोद, साहित्य, कला, धर्म, कृषि, उद्योगका काम हो। बाकी सब काम समयपर आप-से-आप हो जायगा। कामका क्षेत्र व्यापक और बहुविध है और सभी जातियों, सम्प्रदायों तथा राजनीतिक दलोंको उसमें योग देनेकी आवश्यकता और गुंजा-यश है। हम लोगोंमें इस बातपर मतभेद हो सकता है कि देशका अन्तिम कल्याण किस उपायसे होगा। लेकिन भविष्यमें क्या होना चाहिए, इसीपर लड़ते रहकर हमें वर्तमानको नहीं छोड़ देना चाहिये। गाँवमें रहनेवालोंके प्रति हमारा जो कर्तव्य है उससे विमुख होना हमारे लिए उपयुक्त नहीं है।

परिशिष्ट

गाँवोंकी एक इकाईके विकासकी योजनाका नमूना

इलाका पोहरी (ग्वालियर)

प्रस्तुतकर्ता—जे० बी० मालङ्कर

१—इस गाँवोंमें प्राकृतिक साधन और उनकी वर्तमान अवस्था

स्थिति :—ग्वालियर राज्यके पोहरी जागीरके शिक्षा और व्यावसायिक केन्द्र किसनगञ्जके आसपास ये दसों गाँव हैं। शिवपुरी रेलवे स्टेशनसे २० मील पूरब ये गाँव पड़ते हैं। स्टेशनसे पोहरीतक बसें भी जाती हैं।

जलवायु :—जलवायु विषम है। गर्मीमें बहुत ज्यादा गर्मी और जाड़ेमें बहुत ज्यादा सर्दी पड़ती है। प्रतिवर्ष ३० से ३५ इञ्चतक पानी बरसता है।

क्षेत्रफल :—इन गाँवोंकी कुल भूमिका क्षेत्रफल १३,९५८ बीघा है, जो इस प्रकार है :—

जोतमें भूमि	बीघा	बीघा
कुँओंसे जिनकी सिंचाई होती है	११२	
तालाबोंसे ,, ,, ,,	५५·३	
बिना सिंचाईके	४७३२·२	
परती	[illegible]	[illegible]

जोतने लायक्र परती :—

अच्छी	६८५·०	
साधारण	२०००·०	
खराब	४७५९·१५	७४४४·१५
विशेष कामके लिए		
आबादी	७६·१७	
कब्रिस्तान	३०·१२	
रास्ता, सड़क	२२९·९	३३६·१८
ऊसर, नाला वगैरह	६०३·१५	६०३·१५
	कुल जोड़	१३९५८.१८

जनसंख्या :—१९१३ में कुल जनसंख्या इस प्रकार थी :—

१—नयागाँव, कटरा, किसनगञ्ज	...	६३८
२—जाखनद	...	४२१
३—ग्वालीपुरा	...	२६४
४—बेहटा—	...	१६२
५—बेहटी	...	१५१
६—सोनीपुरा	...	९१
७—कोद	...	९८६
८—रनधीर	...	६५
९—बगदिया	...	३५
१०—बरईपुरा	...	०
	जोड़	१९१३

इन गाँवोंमें प्रधानतया किरार जातिके लोग बसते हैं, जिनका प्रधान पेशा खेती है। कुछ ब्राह्मण, गड़ेरिया, चमार, कुम्हार, तेली, नाई, बसोर (धरकार) मामी, दर्जी, बढ़ई और भील भी हैं। इने-गिने लोग बढ़ईगिरी, कुम्हारी, बुनाई तथा चपड़ेके काम करते हैं। बाकी लोगोंका निर्वाह खेतीसे होता है। दूसरे पेशोंमें लोग भी थे, लेकिन उससे कोई लाभ न होते देख उन्हें छोड़ देना पड़ा। इसलिए खेतीपर अधिक बोझ पड़ गया है।

पेशेके हिसाबसे जनसंख्याका बँटवारा :—

किसान	१२०२
मजूर	४०१
नौकरी पेशेमें	३१०
जोड़	१९१३

पशुधन और दूध

पशु	जोड़
गाय	५११
भैंस	३६१
बैल	७८३
बछड़े	८५६
बकरे	८७५
भेड़ें	२१०
जोड़	३५९६

दूध देने वाले पशु	दैनिक औसत दूध
गाय १३०	प्रतिगाय १ सेर
भैंस ९०	,, भैंस २½ सेर

पशुओंकी दशा दयनीय है। एक गाँवमें दो साँड हैं, लेकिन ये अच्छी जातिके नहीं हैं। साधारण देहाती साँड़ और भैंसासे गायें और भैंसे जोड़ा खाती हैं। चूँकि खली या चूनी उपलब्ध नही है और सालके किसी भी मौसममें गायोंको हरा चारा नहीं दिया जाता इसलिए वे दूध बहुत ही कम देती हैं। एक गाय औसतमें एक सेर और एक भैंस ा ई सेर ही दूध देती है। जानवरोंका कद भी छोटा होता है।

भूमिका वर्गीकरण :—

कछार या सिंचाईके खेत :—गेहूँ तथा ऊख वगैरहकी खेतीके योग्य।

तरी खेत :—धान वगैरहकी खेतीके योग्य।

भार :—गेहूँ, मकई वगैरहकी खेतीके योग्य।

गोदो :— ,, ,, ,,

पुठ :—दलहनकी खेतीके योग्य।

डण्डा :—तेलहन बाजरा आदि फसलोंकी खेतीके योग्य।

जोतनेके लायक परती जमीन ६८५ बीघा है। जो भार और कछार है। २००० बीघा खराब जमीन पुठ और डण्डा है। ४७०० बीघा अतिशय खराब जमीन मोरम या पथरीली है। प्रत्येक किस्मकी जमीनमें उर्वरा शक्ति बहुत कम है।

औसत पैदावार और क्षेत्रकी औसत आमदनी—

फसल	प्रति बीघा पैदावार मनोंमें	जोतमें खेत बीघोंमें	कुल पैदावार मनोंमें	कीमत प्रति मन	कुल आमदनी
ज्वार	५	१६८५	८४२५	६	५०५५०
गेहूँ	६	११९२	७१५२	९	६४३६८
तिल	२½	३६१	९०२½	१४	१२६३५
दाल	४	३७८	१५१२	६	९०७२
चना	६	७९	४७४	६	२८४४
तीसी	५	३०४	१५२०	१०	१५२००
मूँगफली	५	१७९	८९५	७	६२६५
धान	७	९२	६४४	६	३८६४
बाजरा	४	४८	१९२	६	११५२
मक्का	४	७१	२८४	५	१४२०
जगरी	२२	८८	१९३६	९	१७८२४
कपास	२	६०	१२०	१०	१२००
अन्य	४	३६७	१४६८	७	१०२७५
				जोड़	१९६६६९

भिन्न-भिन्न फसलोंका कुल पैदावार मनोंमें :—

अन्न ... १७१९७

दाल ... २०५४

तेलहन ... २९२२½

जगरी ... १९३६

कपास ... १२०

पाट ... १००

अम्बारी ... ...

मसाला	...	३५०
तम्बाकू	...	३५
तरकारी	...	२१५

खेतीपर व्यय :—

		रुपया
मालगुजारी कुल	...	९१००
हरौत कर	...	९००
खेतिहर मजूरोंका वेतन	...	१०,०००
बोआड़ेका खर्च ४) प्रतिबीघा	...	२०,०००
७८३ बैलोंपर खर्च ≡) प्रतिबैल प्रतिदिन		५०,०००
औजारोंकी मरम्मत	...	६००
बाजारोंमें गल्ला ले जानेका खर्च	...	१०००
खेतीपर कुल खर्च	...	९१,६००
कुल आमदनी	...	१,९६,६६९
खेतीसे कुल बचत	...	१०५०६९

खेतीपर निर्भर करनेवाली जनता अपने मातहतोंके साथ १६०३ है। इस तरह इनकी आमदनी प्रतिव्यक्ति प्रतिमास ५।≡)। हुई। बाकी जनसंख्याकी आमदनी नौकरी तथा गृह-उद्योग आदिसे ५) रु० प्रतिव्यक्ति प्रतिमास है। इस तरह समूची जनसंख्याकी औसत आमदनी प्रतिमास प्रतिव्यक्ति ५।=) होती है।

शिक्षा :—

१६१३ की जनसंख्यामें केवल ८७ व्यक्ति साक्षर हैं। इस

तरह पुरुषोंमें साक्षरता ४·५ और औरतोंमें ३ सैकड़े है।

भोजन :—भोजनकी सामग्री बहुत ही साधारण है। लोगों-का प्रधान भोजन अधिकतर ज्वार और थोड़ा गेहूँ है। घी और दूधका प्रायः अभाव ही रहता है। यदा-कदा घी-दूध मिल जाता है। बरसातके दिनोंमें साधारण किस्मकी तरकारियाँ मिल जाया करती हैं। फलका तो दर्शन भी नहीं होता

वस्त्र :—वस्त्रकी व्यवस्था नितान्त दयनीय है। बहुतोंके पास तो स्नानके बाद बदलनेके लिए भी दूसरा वस्त्र नहीं होता। सदसे रक्षा करनेके लिए पर्याप्त विस्तरका भी प्रबन्ध नहीं कर सकते।

मकानः—गाँवोंमें पुराने चालके घर हैं। बनावट बेढङ्गी है। कहीं-कहीं तो घर एक दूसरेसे इतने सटे हैं कि उनमें स्वच्छ हवा भी प्रवेश नहीं पा सकती। घरके गन्दे पानीके निकलनेका भी कोई प्रबन्ध नहीं है। घर इतना छोटा है कि परिवारके सभी प्राणियोंके रहनेके लिए जगह नहीं है। सफाईका कोई प्रबन्ध नहीं है। सड़कका तो नितान्त अभाव है।

खाद :—न तो वे खाद बनाना जानते हैं और न उस खादका ही उपयोग करते हैं जो उन्हें उपलब्ध है।

सफ़ाई :—सफाई नामकी कोई वस्तु वहाँ नहीं है। जैसे सफाईका उन्हें ज्ञान ही न हो। बरसातमें गलियाँ सड़े पानी तथा कीचड़से भरी रहती हैं। पीनेके पानीके लिए कुएँ बने हैं लेकिन उन्हें भी साफ रखनेकी चिन्ता नहीं की जाती। गाँवके आस-पासकी भूमिको भी साफ रखनेकी किसीको फिक्र नहीं है।

चिकित्सा :—शहरमें एक दवाखाना है। उसमें एक कम्पा-

उण्डर और दो वैद्य हैं। डाक्टरकी जगह खाली है। लेकिन अस्पतालमें दवाओंका अभाव है और उससे देहातियोंको कम सहायता मिलती है। लोग शक्की स्वभावके हैं इसलिए दवाओंका प्रयोग बहुत ही कम करते हैं। माता छापनेका भी प्रबन्ध है पर पशुओंके लिए कोई अस्पताल नहीं है।

यातायात :—सबसे निकट बाजार शिवपुरी है। लेकिन अधिकांश लोग अपना माल बनियों तथा पोहरी अथवा भट-नारके महाजनोंके हाथ बेच देते हैं। गाँवके बगलसे होकर दो पक्की सड़कें गयी हैं। सभी गाँव पक्की सड़कके निकटवर्ती हैं। पोहरी फोर्टमें एक शाखा डाकघर भी है।

ऋण :—युद्धके कारण अन्नका भाव बढ़ जानेसे कर्जका बोझ बहुत हल्का हो गया है। पुराने कर्जका केवल ४० सैकड़े देनेके लिए बाकी रह गया है।

फलके पेड़ :—जखनाद तथा किसनगंजमें दो-चार अमरूदके पेड़ हैं, अन्यथा किसी भी गाँवमें फलका कोई पेड़ नहीं है।

खेतीकी वर्तमान दशा और उन्हें उपयोगी बनानेके साधन :—खेतीके लायक ७४४५ बीघा जमीन परती है। उसमें ६८५ बीघा अच्छी जमीन है। करीब ३००० बीघा खराब है। लेकिन प्रयत्न करनेसे उसमें भी कुछ-न-कुछ खेती हो सकती है। बाकी ४७६० बीघा जमीन पथरीली और ऊबड़-खाबड़ है। उसमें खेती नहीं हो सकती।

तालाब :—कुल ८ तालाब हैं। ३ पोहरी फोर्टके निकट, १ किसन गञ्जमें, २ जखनादमें, १ बरईपुरामें और १ रनधीर-में। जखनादके एक तथा बरईपुराके एक तालाबको छोड़कर बाकी

सब सिंचाईके काम लायक नहीं हैं। जिन दोका सिंचाईके काममें इस्तेमाल किया जाता है, उनकी भी सफाईकी जरूरत है।

कुंआ :—कुल ८७ कुँए हैं। उनमेंसे १३ सूख गये हैं और अवतर हालतमें हैं। १४ सिर्फ पीनेके पानीके काममें आ सकते हैं। बाकी ६० कुँए सिंचाईके काम लायक हैं।

सड़क :—दो पक्की सड़कें हैं। एक सिवपुरसे शिवपुरी जाती है और दूसरी पोहरीसे मोहना जाती है। दोनोंकी हालत अच्छी है। ये दसों गाँव सड़कके किनारे हैं। किसीका फासला सड़कसे ४ फर्लाङ्गसे ज्यादा नहीं है। सबोंका फासला देनेपर सड़कसे तीन मीलकी दूरी हो जायगी।

शिक्षाकी सुविधा—आदर्श विद्यालयमें हाई स्कूलतककी पढ़ाई होती है। संस्कृतकी शिक्षाकी भी स्कूलमें व्यवस्था है। स्कूलके साथ छात्रवास भी है। स्कूलमें बढ़िया पुस्तकालय भी है। व्यायामशाला भी है।

ग्रामकला-मन्दिर :—ग्रामकला-मन्दिरमें ग्रामोद्योगकी शिक्षाकी सुविधा है। वहाँ कताई, बुनाई, रँगाई, कागज बनाना, सलाई बनाना, मधुमक्खी पालना तथा ऊनी कपड़ा बनानेकी शिक्षा दी जाती है। लेकिन गाँवमें बहुत ही कम लोग हैं जो गृह-उद्योगसे कुछ कमाते हैं।

२—योजनाकी पूर्ति :—हमारी योजनाका प्रधान उद्देश्य गाँववालोंको भौतिक तथा आध्यात्मिक समृद्धि प्रधान करना है। एकतर्फा विकाससे यह सम्भव नहीं है। केवल उनकी रहन-सहनको ऊँचा कर देनेसे हमारे उद्देश्यकी सिद्धि नहीं हो सकती भौतिक विकासके बिना आध्यात्मिक और चारित्रिक उन्नति

सम्भव भी नहीं है। गरीबीके कारण ही लोगोंमें बेईमानी घुस गयी है। और बेईमान हो जानेके कारण ही वे दरिद्र हो गये हैं। इस तरह यह गोलाकार हर तरफसे बुरा है और इसपर हर तरफसे प्रहार करना होगा।

बुनियादी मापदण्ड :—प्रत्येक व्यक्तिके लिए कम-से-कम इतना होना चाहिये :—(१) पर्याप्त पोषक भोजन (२) शरीरको ढकने तथा उसकी रक्षाके लिए पर्याप्त वस्त्र (३) प्रत्येक व्यक्तिके लिए १०० वर्ग फुटके हिसाबसे घर (४) पूर्ण शिक्षाका साधन (५) चिकित्साकी सुविधा, स्त्रियों तथा बच्चोंके लिए भी दवाखाना (६) डाक तथा यातायातकी सुविधा।

भोजन :—पोषक पदार्थयुक्त भोजनकी सामग्री इस प्रकार होनी चाहिये :—

वस्तु	प्रतिव्यक्ति प्रतिदिन	मूल्य	२००० व्यक्तियोंके लिये सालभरके लिये मनोंमें
अन्न	½ सेर	०–२–६	९०००
दाल	३/३२ ,,	०–०–९	१६८७½
तरकारी	५/१६ ,,	०–०–६	५६२५
घी तेल	१/१६ ,,	०–२–०	११२५
दूध	१/४ ,,	०–१–०	४५००
फल	१/१६ ,,	०–०–६	११२५
मीठा	१/१६ ,,	०–०–६	११२५
लकड़ी		०–०–३	...
		०–८–०	प्रति व्यक्ति प्रतिदिन

प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष ३० गज कपड़ा चाहिये। इस तरह २००० लोगोंके लिए ६०,००० गज कपड़ेकी जरूरत होगी।

३—विकासका संगठन :—उनके पास कोई भी साधन नहीं है जिससे वे अपना विकास या उन्नति स्वयं करनेके लिए कोई संगठन कर सकें। उनमें इस तरहकी योग्यता भी नहीं है कि विकासके अनेक कामोंका संचालन कर सकें या विकासके साधनोंको प्रस्तुत कर सकें। इसलिए इस बोझको राज या समाजको अपने ऊपर लेना होगा और उनके पूर्ण विकासके लिए विविध उद्योगोंका प्रबन्ध करना होगा।

सबसे पहले तो दस गाँवोंकी इस इकाईमें चतुर और जानकार लोगोंकी ऐसी संस्था होनी चाहिये जो इनके लिए ऐसी योजनाएँ तैयार करते रहें जिससे इनकी कम-से-कम आवश्यकताओंकी पूर्तिका प्रबन्ध हो जाय। इस तरहकी संख्याके लिए (१) एक अध्यक्षकी जरूरत है जो आदर्शसेवा संघका सभापति हो, (२) एक संगठनकर्ता जो संघका मन्त्री हो (३) कृषिके दो पूर्ण जानकार (४) पशुपालन तथा डेयरीमें एक पूर्ण जानकार (५) गृह उद्योगके एक जानकार (६) सहयोग-समितिकी पूरी जानकारी रखनेवाले एक व्यक्ति (७) वर्धा शिक्षा-प्रणालीके आधारपर शिक्षा देनेवाले एक व्यक्ति (८) एक डाक्टर तथा स्वास्थ्यकी शिक्षा देनेवाले (९) एक जानवरोंके डाक्टर!

इस संस्थाका नाम होगा "किसनगंज इकाई विकास संघ।" इस संघका प्रधान कार्यालय नन्दन कानन कालेज भवनमें होगा। गाँवके बीचोबीच इसके अधीन आदर्श खेतीके लिए भूमि, गोपालनके लिए भूमि, शिक्षालय, स्वास्थ्य, सहयोग

समिति, तथा गृह-उद्योगकी शिक्षाके साधन रहने चाहिये। इन समस्त उद्योगोंको प्रधान कार्यालयके पास ही केन्द्रित नहीं करना चाहिये। इस तरहकी केन्द्रित संस्थाओंमें यही दोष पाया जाता है। उन्नतिकी प्रत्येक संस्था अलग-अलग रहनी चाहिये और सबको मिलाकर गाँवकी तरक्कीकी व्यवस्था करनी चाहिये। इस बातपर सदा ध्यान रखना चाहिये कि इन गाँवोंकी उन्नतिके लिए जो योजना बनायी जाती है उसका पूरी तरह पालन होता है। सेवासंघने इतनी विस्तृत योजना तैयार कर गाँवको कितना लाभ पहुँचाया है इसकी जाँच गाँववालोंकी आर्थिक, शिक्षा-सम्बन्धी, स्वास्थ्य तथा सामाजिक उन्नतिसे हो जायगी।

कार्यकर्ताकी योग्यता :—कार्यकर्ताओंका चुनाव बड़ी सावधानीसे होना चाहिये। भिन्न-भिन्न कामोंकी योग्यताके अलावा इस बातपर भी ध्यान देना होगा कि उनमें सेवाका भाव भी वर्तमान है।

आदर्श कृषिके खेत :—आदर्श खेतीका काम ट्रेनिङ्ग कालेजके भवनके पास ही होना चाहिये। आरम्भ करनेके लिए चालीस बीघा भूमि पर्याप्त होगी। नयी नयी फसलें, उत्पादनके लिए खोज तथा किसानोंको अच्छे बीज देना आदर्श कृषि विभागका प्रधान काम होना चाहिये। इसके अलावा एक छोटा प्रयोग-शाला, बीजगोदाम तथा नये औजारोंका प्रबन्ध भी वहाँ होना चाहिये।

किसी भी नयी फसलका प्रयोग पहले आदर्श खेतीमें करके तब किसानोंमें उनका प्रचार होना चाहिए। प्रयोग सीधे-सादे औजारों तथा ऐसे साधनों द्वारा होना चाहिए जिसे किसान

सहजमें अपना सकें। खर्चीले औजार तथा खर्चीले साधनोंका प्रयोग किसानोंके साधनके बाहरकी बात है। इस तरहका कोई प्रयोग वह अपना नहीं सकता। इसलिए खेतीके उन्नत तरीकों-का प्रचार किसानोंमें करनेके लिए यह परम आवश्यक है कि आदर्श खेतीमें जो प्रयोग किये जायँ वे सहज और किसानोंके साधनोंके भीतर हों ताकि वह उन्हें अपना सकें।

प्रायः गाँवोंमें बाग या फलके पेड़ नहीं होते। इसलिए आदर्श खेतीमें ऐसे फलोंके कलम तैयार किये जाने चाहिए जो गाँवके उपयुक्त हों और साधारण मूल्यपर गाँववालोंको दिये जा सकें और इस बातकी देख-रेख करनी चाहिए कि किसान अपनी जमीनमें उचित तरीकेसे उन्हें रोपता है।

सङ्गठनका कार्यक्षेत्र :—

कृषिमें सुधार :—(१) खेतोंकी सुविधा (२) बढ़िया खाद (३) सिंचाई (४) सहयोगके आधारपर खेती और गल्लेकी बिक्री। कृषिकी उन्नतिके ये ही प्रधान साधन हैं।

(१) खेतीकी सुविधा :—कृषि-विद्या-विशारदोंका मत है कि ५ व्यक्तियोंके एक परिवारके लिए २० एकड़ भूमि (पोहरी-का यह ३२ बीघा हुआ) सुविधाजनक खेत हैं। इन गाँवोंमें ३८३ परिवार रहते हैं। इनमेंसे ६० परिवार नौकरी या अन्य पेशोंमें हैं। उन्हें निकाल देनेपर ३२३ परिवार बचते हैं। इनके बीचमें ५५७३ बीघा भूमि है। इनमें बाँट देनेपर यह भूमि प्रति परिवार १७·३ बीघा पड़ती है। यदि हमलोग ६८५ बीघा अच्छी तथा १००० बीघा खराब भूमिको खेतीके काममें ले आवें और समुचित खाद तथा सिंचाईके प्रबन्धसे उन्हें कामके

लायक बना लें तो उन गाँवोंके लिए हमें ५५७४+६८५+१००० अर्थात् ७२५९ बीघा भूमि मिल जाती है। इस भूमिको यदि हम उन परिवारोंमें ३२ बीघा प्रति परिवारके हिसाबसे बाँट दें तो इतनी भूमि २०७ परिवारके लिए पर्याप्त होगी। बाकी बच जाते हैं १७६ परिवार। इनकी जीविकाका प्रबन्ध होना चाहिए। उन्हें हमें उद्योगधन्धों तथा नौकरीके काममें लगाना होगा ताकि कृषि और उद्योगधन्धोंको मिलाकर उनका काम पूरा हो जाय और कृषि तथा उद्योगधन्धोंसे सबको बराबर आमदनी होने लगे।

इसके साथ ही खेतोंका बँटवारा उपभोगकी आवश्यकताके अनुसार होना चाहिए। अन्न, दाल, तेलहन, फल, ऊख, कपास तथा तरकारी उपजाने योग्य भूमि सबके पास होनी चाहिए। इस समय जो भूमि लोगोंके पास है वह इसी हिसाबसे है, इसलिए व्यवस्था उचित कही जा सकती है। केवल बागके लिए जमीन उनके पास नहीं है और पशुओंके हरे चारेके लिए भी खेत नहीं है। जो नयी भूमि जोतमें लायी जायगी उसमें एक साल तेलहन और दूसरे साल बाजरेकी फसल बोयी जा सकती है।

(२) बढ़िया खाद :—३६०० पशुओंकी खाद यदि सम्हालकर रखी जाय तो जोतके खेतके एक चौथाईके लिए उत्तम खादका काम कर सकती है। यदि इस क्षेत्रमें तेलहनकी खेती बढ़ा दी जाय और तेल पेरनेका काम वहीं होने लगे तो $\frac{1}{8}$ खेतोंके लिए खलीकी खाद भी तैयार हो सकती है। खेतोंको उर्वरा बनानेके लिए सनई भी बोयी जानी चाहिए। आचार्यके बतलाये तरीके-

के अनुसार छोटे-छोटे गड्ढों या फर्शपर ही खाद तैयार करनेका तरीका इन्हें सिखलाना चाहिए। पशुओंके मूत्रसे भीगी मिट्टीका भी खादकी तरह उपयोग इन्हें बतलाया जाना चाहिए।

(३) सिंचाई :—सिंचाईके काम लायक आसपासमें दो तालाब हैं, एक जखनादमें और दूसरा बरईपुरामें। इन गाँवमें ६० कुएँ भी इस काम लायक हैं। लेकिन सिंचाईके काममें इनका बहुत ही कम प्रयोग किया जाता है। आलस्य, अज्ञानता, साधनोंका अभाव तथा जनतामें सहयोगकी भावनाका अभाव इसके रास्तेमें बाधक हैं। सिंचाईके जो साधन मौजूद हैं उनसे भी वे लाभ नहीं उठा सकते और नया साधन भी वे तैयार नहीं कर सकते। यदि दोनों तालाबोंकी मरम्मत करा दी जाय तो व्यापक सिंचाईके लिए उनमें काफी पानी टिक सकता है। यदि इनकी मरम्मत करा दी जाय और नीचेसे मिट्टी निकालकर बाहर कर दी जाय तो इनमें इतना पानी ठहर सकता है कि ४०० बीघोंकी सिंचाई हो सकती है। तालाबको और गहरा खोद देनेसे तथा उसके चारों ओर एक फुटका बाँध बाँध देनेसे पानी जमा होनेकी उसकी परिधिको बहुत बढ़ाया जा सकता है। इतना कर देनेपर उसमें आजकी अपेक्षा तिगुना जल ठहर सकता है और १२०० बीघे खेतकी सिंचाई उससे हो सकती है। इस तरह चार गाँवों—जखनाद, बरई पुरा, नयागाँव तथा किसनगञ्जके अधिकांश खेत सींचे जा सकते हैं।

६० कुओंमेंसे केवल उनका अंशतः प्रयोग सिंचाई के कामके लिए होता है। उनमें लगातार प्रचार करनेसे तथा स्थानीय पंचायतकी प्रेरणासे गाँवके लोग उत्साहित किये जा सकते हैं

और वे सुधार कर सकते हैं। सबसे पहले तो उन्हें गाँवके साठों कुओंके पूर्ण प्रयोगके लिए प्रेरित किया जाना चाहिये। इन गाँवोंकी सिंचाईके कामके लिए सुविधाजनक जगहोंपर ६० कुएँ और खोदे जाने चाहिए। इस तरह नये और पुराने मिलाकर १५० कुएँ हो जायँगे। यदि एक कुँआसे औसत १२ बीघाकी सिंचाई हो तो १८०० बीघा खेत इन कुओंसे सींचे जायँगे। यदि १२०९ बीघेकी सिंचाईका प्रबन्ध उन तालाबोंसे हो जाय तो दोनोंको मिलाकर प्रायः ३००० बीघा खेत सींचे जायँगे अर्थात् आज जितने खेत सींचे जाते हैं उनका बीस गुना उस हालतमें सींचे जायँगे। सिंचाईकी इस तरह सुव्यवस्था हो जानेपर पैदावार में शत प्रतिशतकी वृद्धि हो जायगी। बड़े पैमानेपर सिंचाईकी व्यवस्था तो राज द्वारा ही सम्भव है।

(४) सामूहिक खेती :—इस क्षेत्रमें सम्प्रति सामूहिक खेतीका प्रचार करना सम्भव नहीं है। लेकिन कानून द्वारा इस बातपर रोक लग जानी चाहिए कि २० बीघासे कम खेत जिसके पास हों, उसका बँटवारा न हो सके। लोगोंको इस बातके लिए भी प्रोत्साहित करना चाहिये कि वे अपने छोटे छोटे टुकड़ोंको बदलकर अपने खेतोंका चक बना लें।

जिस परती जमीनको खेतीके काममें लाना है उसमें सामूहिक खेतीका प्रबन्ध किया जा सकता है। सहयोग-समिति द्वारा गल्ला, बीज तथा गल्ला खरीदनेका काम भी यहाँ सिखलाया जाना चाहिये। इस तरह जहाँतक सम्भव हो उन्हें सहयोग द्वारा काम करनेकी शिक्षा दी जानी चाहिये।

यदि पूर्ण उत्साहसे काम किया जाय और कृषिमें सुधारकी जो योजना ऊपर बनायी गयी है उसे पूर्ण रूपसे काममें लायी जाय तो यह आशा की जा सकती है कि १० सालमें इन गाँवोंकी पैदावारमें १५० प्रतिशतकी वृद्धि हो सकती है। इन दसों गाँवोंकी कुल आमदनी इस समय १,९६,६६९ रु० है। १० सालके बाद यह आमदनी बढ़कर ४,९१,६७२ रु० अर्थात् ५ लाखके करीब हो जायगी और खर्च जो इस समय ९१,६०० रु० है वह बढ़कर दो लाखके लगभग हो जायगा। उपर्युक्त योजनाको पूरी तरह काममें लानेपर उस समयका खर्च तथा वर्तमान खर्चका ब्योरा इस प्रकार होगा :—

मद	वर्तमान खर्च	खर्चमें बढ़ती
मालगुजारी	९,१००	१,८००
हरौत	९००	२००
मजूरी	१०,०००	१०,०००
बीज	२०,०००	१०,०००
पशुव्यय	५०,०००	२५,०००
औजार	६००	२,०००
बाजार	१,०००	१,०००
खाद	...	३०,०००
सिंचाई	...	२०,०००
	९१,६०० रु०	१,००,००० रु०

अर्थात् खेतीके काममें प्रतिवर्ष कुल व्यय १,९१,६०० होगा। कुल आमदनी ४,९१,६७२ खेतीसे होगी। उस आमदनी-मेंसे खर्च घटा देनेपर खेतीसे किसानोंको ३,००,०७२) रु० की

सालाना बचत होगी। खेती करनेवाले २०७ परिवारोंपर यह आमदनी बराबर बाँट देनेसे प्रतिवार २४) रु० माहवारीकी आमदनी भी १० सालके अन्तमें होने लगेगी।

४—पशुपालन तथा गोशाला :—

पशुओंको उपयुक्त चारा, अच्छी नसलकी पैदावार तथा उनकी ठीक तरहसे देखभाल इन्हीं तीनों बातोंपर गोशालाकी उन्नति निर्भर है। यदि इन तीन बातोंपर ध्यान दिया जाय तो किसानोंको गोशालासे लाभ हो सकता है।

चारा :—गाँवमें तथा आस-पासके जङ्गलोंमें पर्याप्त चरागाह भूमि है। लेकिन केवल बरसातके चार महीनोंमें ही यहाँ पर्याप्त चारा मिल सकता है। शेष आठ महीनोंके लिए जो चारा किसान जमा करके रखते हैं वह पूरा नहीं है। मिलावटकी खेतीकी चलन यहाँ नहीं है इसलिए कोई भी किसान चारा नहीं बोता। पशुओंको अन्न या खली नहीं खिलायी जाती। दूध देनेवाली गायों तथा खेतोंमें काम करनेवाले बैलोंको भी नहीं। किसान पशुओंपर बहुत कम खर्च करते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि आज उससे काम भी कम ही होता है। पशुपालनसे पूरा लाभ उठानेके लिए कई तरहके चाराकी व्यवस्था होनी चाहिये।

पशुओंके चारामें सूखी घास, बीज, खली, मूँगफली, तीसी, बेनउल आदि दिया जाना चाहिये। दूध देनेवाली गायोंको ऐसा चारा दिया जाना चाहिये जो दस्तावर हो और उन्हें थोड़ा बहुत खली और कसाई नित्यप्रति दिया जाना चाहिये।

किसानोंको दो गाड़ी प्रति पशुके हिसाबसे चारा रखना चाहिये। जहाँतक सम्भव हो सालभर तक हरा चारा दिया जाना चाहिये। चाराके लिए गड्ढा खोदकर उसमें चारा रखनेका प्रबन्ध करना चाहिये। इस उपायसे हरा चारा भी ताजा और स्वादिष्ट बना रहता है। हरा चारा न मिलनेपर यह चारा पूरा काम दे देता है।

नस्ल :—अनुभवसे यह पाया गया है कि दूधमें वृद्धिका कारण जितना अच्छी जातिके साँड़का सहयोग होता है उतना बड़ी गायें नहीं। इसलिए बड़े बछड़ोंको चुनकर साँड़ छोड़ना चाहिये। छोटे साँड़ गाँवमें नहीं रहने देना चाहिये। पशु चिकित्साके लिए जानवर अस्पतालका होना नितान्त आवश्यक है।

५०० गायोंके लिए १० साँड़ पर्याप्त हैं और ३०० भैंसके लिए ८ भैंसा काफी होगा। आदर्श खेतीमें २ साँड़ और २ भैंसा अलग पाला जाना चाहिये।

इस वक्त दसों गाँवोंको मिलाकर ५११ गायें हैं। उनमें १३० दूध देती हैं। ३६१ भैंसमेंसे केवल ९० दूध देती हैं। इनके अलावा दसों गावोंको मिलाकर ८७५ बकरियाँ, २१० भेंड़ें, ७८३ बैल तथा ८५६ बछड़े हैं। सुधार-संघने जो आँकड़े जमा किये हैं उनसे प्रकट होता है कि गाँववालोंकी कुल आमदनी की ६५% फी सदी तो खेतीसे होती है और १५% फी सदी पशुपालन तथा गोशालासे। खेतीमें सुधार हो जानेसे १० साल के अन्तमें खेतीसे प्रतिपरिवार २४) रु० मासतक की आमदनी होने लगेगी। यह ऊपर दिखलाया जा चुका है। पशुपालनमें सुधार हो जानेसे तथा गोशालाको व्यवस्थित ढङ्गसे चलानेसे

उसी अनुपातमें इस तरहसे भी आमदनी बढ़ जायगी अर्थात् खेतीसे आमदनीका पाँचवाँ हिस्सा यानी करीब ५) रु० मासिक। लेकिन किसान और गैर-किसान दोनों गायें रखते हैं इसलिए इस मदकी आमदनीको १६१३ की समस्त जन-संख्यापर बाँटा जायगा। इस हिसाबसे इस मदसे प्रति परिवार प्रतिमास केवल ३) रु०की आय होगी।

५—गृह-उद्योग

ऊपर बतलाया जा चुका है कि इस इकाईके ३८३ परिवार-मेंसे १७६ परिवारको गृह-उद्योग तथा नौकरी आदि पेशोंमें लगाना होगा। इन १७६ परिवारके लिए निम्न योजना बनायी गयी है। यह योजना स्थानीय साधन तथा जनताकी आवश्यकताके आधारपर ही तैयार की गयी है।

क्रमसंख्या	पेशा		परिवार
१—	पुरोहित या पण्डिताई	...	५
२—	शिक्षक	...	१०
३—	ग्रामसुधार कार्यकर्ता	...	२०
४—	डाक्टर, धाई, वैद्य	...	२
५—	बनिया या दूकानदार	...	१०
६—	हलुआई	...	२
७—	साबुन, तेल बनानेवाले	...	२
८—	पान बेचनेवाले	...	१
९—	रङ्गसाज छपहारा	...	२
१०—	सोनार	...	४

११—लोहार	...	५
१२—कसेरा	...	२
१३—दर्जी	...	४
१४—जुलाहे, कत्तिन	...	२५
१५—धुनिया	...	२
१६—बढ़ई	...	८
१७—राज (पेशराज)	...	५
१८—सन्तरास	...	४
१९—कुम्हार	...	६
२०—तेली	...	८
२१—गड़ेरिया	...	५
२२—हज्जाम	...	४
२३—कागदी, कागज बनानेवाले	...	४
२४—धोबी	...	४
२५—मोची या चमार	...	१४
२६—धरकार	...	३
२७—भङ्गी, मेहतर	...	५
२८—डाकिया वगैरह	...	१०
	जोड़	१७६

गृह-उद्योगकी चीज़ोंकी खपतकी व्यवस्था करनी चाहिये। गृह-उद्योगमें जो वस्तु तैयार की जाय उसके मूल्यका नियन्त्रण होना जरूरी है, ताकि उसका मूल्य बड़े-बड़े कारखानोंकी बनी वस्तुओंसे कम हो। इसके लिए दो उपाय काममें लाये जा सकते

हैं। बहुत अधिक चुङ्गी बैठाकर मिलोंमें तैयार मालका मूल्य बढ़ाया जा सकता है अथवा राजसे सहायता या रियायत द्वारा गृह-उद्योगके मालका मूल्य कम किया जा सकता है।

इस तरहकी राजकीय सहायताकी जरूरत कपड़ा, कागज, तेल तथा चमड़ेके माल तथा पीतलके बर्तनोंके लिए हो सकती है।

कपड़े की आवश्यकताकी पूर्ति :—इस इकाईकी २००० जनसंख्याके लिऐ ६०,००० गज कपड़ोंकी जरूरत होगी। यदि इतने कपड़े वहीं गाँवोंमें तैयार कर लिये जायँ तो इनकी वस्त्रकी आवश्यकता स्थानीय उत्पादनसे पूरी हो सकती है। इतना वस्त्र तैयार करनेके लिए ७५० मन कपासकी जरूरत होगी। इस समय केवल ६० बीघा खेतमें कपासकी खेती की जाती है। इससे कुल १२० मन कपास पैदा की जाती है। इस तरह अभी प्रतिवर्ष यहाँकी आवश्यकताकी पूर्तिके लिए ६३० मन कपासकी कमी है। इस कमीको पूरा करनेके लिए कम-से-कम ३०० बीघा नये खेत कपासकी खेतीमें लाने होंगे अर्थात् ३०० बीघा नये खेतमें कपासकी खेती करनेसे इनकी वस्त्रकी आवश्यकताकी पूर्तिके लिए कपास पैदा होने लगेगी।

इस इकाईके पञ्चायतका यह कर्तव्य होना चाहिये कि प्रचार द्वारा तथा लोगोंको समझा-बुझाकर घरकी प्रत्येक महिलाको इतना सूत कातनेके लिए तैयार करें जितनेसे उस परिवारके वस्त्रकी आवश्यकता पूरी हो सके। ५ व्यक्तिके एक परिवारके वस्त्रकी आवश्यकता पूरा करनेके लिए २० सेर सूतकी जरूरत होगी। इतना सूत तैयार करनेमें जो कमी हो उसकी पूर्ति उन लोगोंकी कमाईसे की जानी चाहिए जो कताईके कामको पेशेके रूपमें

ग्रहण करेंगे। प्रत्येक जुलाहा केवल बुनाईका काम करके सालभर-में २००० गजके लगभग कपड़ा बुन सकता है। इस तरह प्रायः ३० जुलाहोंसे इस इकाईके सालभरके लिए कपड़े तैयार हो जायँगे।

तेलका धन्धा :—इस क्षेत्रमें मूँगफलीको मिलाकर करीब ३०० मन तेलहन पैदा होता है। जो नये खेत जोतमें लाये जायँगे, वे ऐसे हैं कि उनमें केवल तेलहन और बाजरा उत्पन्न हो सकता है। इसके बाद यहाँ तेलहनकी पैदावार दूनी हो जायगी और इन गाँवोंको २०० मन तेल तथा ३०० मन खली मिलने लगेगी। इस समयतक यहाँका समूचा तेलहन तथा मूँगफली पोहरीसे बाहर भेज दिया जाता है। इससे तेलहन नुकसान होता है। पशुओंको खली नहीं मिलती, खेतोंको खाद प्राप्त नहीं होता तथा वहाँके तेलियोंको काम नहीं मिलता। तेल तथा उससे होनेवाले साबुनके व्यवसायके विकासके लिए तथा खेतोंकी पैदावार बढ़ानेके लिए खेतोंमें खलीकी खाद देनेके निमित्त इस क्षेत्रके विकासके लिए इस उद्योगका बहुत बड़ा महत्व है।

जंगलका उद्योगधन्धा तथा पैदावार :—इन गाँवोंके आसपास बढ़े-बड़े जङ्गल हैं। यहाँकी अनेक जङ्गली जातियाँ, जैसे भील, केवल जङ्गली फलोंसे अपना गुजर करते हैं। ईंधन, कोयला फूँकना तथा शहद गारना आदि उनका पेशा है। लेकिन कामके विस्तारकी बहुत ज्यादा सम्भावना है। यहाँसे उद्योगसे बहुतोंको काम दिया जा सकता है।

ग्रामोद्योग व्यवस्थाकी योजनाके अनुसार अनेक परिवारों-को खेतीके कामसे हटाकर उद्योगधन्धोंमें लगाना होगा।

ग्रामोंके उत्थानके काममें यह सामाजिक तथा आर्थिक क्षेत्रमें क्रान्तिकारी परिवर्तन होगा। इस कार्यक्रमको पूरा करनेके लिए राजकी सहायता बहुत हदतक अपेक्षित होगी। इन क्रान्तिकारी परिवर्तनोंको स्वीकार करनेके लिए ग्राम पंचायतके सदस्यों तथा गाँवके नेताओंको भगीरथ प्रयत्न करना होगा। गाँववालोंको इसकी उपयोगिता समझाकर राजी करनेके लिए कुछ परिवारोंको खेतीसे हटाकर उद्योगधन्धोंमें लगाना अनिवार्य नहीं है। यह तो सुझावमात्र है। स्थानीय आवश्यकता तथा अवस्थाके अनुसार इसमें परिवर्तन हो सकता है।

निवास स्थान तथा उसके लिए नयी योजना :—

गाँवोंकी वर्तमान जनसंख्या तथा आकार बहुत छोटा है। इतने छोटे केन्द्रमें सुधारकी कोई भी योजना काममें लाना कठिन काम है। १९१३ व्यक्ति दस गाँवोंमें फैले हुए हैं। एक यही बात पुनर्निर्माणकी योजनाको फलीभूत करनेके लिए बहुत बड़ी बाधा है। इसलिए इन ग्रामोंका नये सिरेसे निर्माण होना चाहिए और इसका आकार बढ़ाना चाहिए। जिस तरह हमलोग खेतोंका चक कायम करना चाहते हैं। उसी तरह गाँवोंके आर्थिक तथा सामाजिक जीवनके विकासके लिए इन गाँवोंको नये सिरेसे बड़े आकारमें बसाना आवश्यक है। भविष्यके गाँवोंके निर्माणके लिए १००० की आबादीपर ४ वर्ग मील भूमि पर्याप्त होगी। क्योंकि यदि आजकी तरह गाँव इसी तरह बिखरे रहेंगे तो उन्हें कोई सुख-साधन पहुँचाना या याता-यातकी सुविधा देना असम्भव हो जायगा।

यदि गाँवोंके नये सिरेसे बनानेकी यह योजना स्वीकार कर ली जाय तो इन दसों गाँवोंको दो गाँवमें परिणित कर देना होगा और उनका रूप तथा जनसंख्या इस प्रकार हो जायगी—

१–किशनगञ्ज या कटरा	५५९	५–ग्वालीपुरा	२६४
२–कोद	८६	६–वेहटा	१६२
३–जखनाद	४२१	७–वेहटी	१५१
४–नयागाँव	७८	८–रनधीर	६५
		९–सोनीपुरा	९१
		१०–वगदिया	३५
	११४५		७६८

दोनोंका जोड़—१९१३

ग्राम्य जीवनके पुनःनिर्माणका अर्थ है नये रूपसे गाँवोंका पुनःनिर्माण। गाँवोंको अच्छी जगहपर बनाया जाना चाहिये। पक्की सड़कोंसे उनका सम्बन्ध होना चाहिये और नये ढङ्गपर उनका निर्माण होना चाहिये। गाँवके बीचमें पञ्चायतघर तथा पुस्तकालय होना चाहिये और गाँवकी सभी उपयोगी संस्थाओं—जैसे मन्दिर, स्कूल, अस्पताल, या औषधालय, गृह-उद्योगघर, सहयोग गोदाम, वगैरहको ऐसी जगह रखना चाहिये जो समस्त आबादीके लिए सुविधाजनक हो। सड़कके दोनों ओर नाली होनी चाहिये ताकि गाँवका गन्दा पानी बाहर निकल जाया करे। सुविधाजनक स्थानोंपर कुँआ खोदवाना चाहिये। घरोंका निर्माण नये ढङ्गपर होना चाहिये। प्रत्येक मकानमें एक बैठक, दो शयनागार, एक तोशकखाना तथा रसोईघर एक तरफ तथा दूसरी तरफ पाखाना और स्नानघर होना चाहिये। कमरोंमें रोशनी तथा

हवाके लिए खिड़कियाँ होनी चाहिये। हाता इतना लम्बा-चौड़ा होना चाहिये जिसमें फल-फूलके पेड़ तथा शाक-सब्जीलगाये जा सकें। निवासस्थानसे अलग हटकर गोशाला या पशुओंके रहनेका घर बनाया जाना चाहिये। गृहिणीको घर साफ-सुथरा तथा सजाकर रखने और सफाई-स्वास्थ्यकी शिक्षा दी जानी चाहिये। साफ तथा स्वच्छ वातावरण, स्वच्छ तथा निर्मल गृहका प्रभाव मस्तिष्कपर बहुत अधिक पड़ता है। उससे मानसिक विकास होता है।

इस तरहके नये ढङ्गपर मकान बनानेमें प्रायः १२००) रुपया खर्च पड़ेगा। पशुशाला बनानेमें प्रायः ३००) रुपया लगेगा। इसका कुल खर्च १५००) रु० के लगभग होगा। यह मकान यदि १०० साल नहीं तो ५० साल अवश्य टिकेगा। इस हिसाबसे मकान बनानेका खर्च प्रतिपरिवार प्रतिवर्ष ५.०) रु० होगा या प्रतिव्यक्ति प्रतिमास १) रु०।

स्वास्थ्य और औषधालय :—किशनगञ्जमें एक अस्पताल और ग्वालीपुरामें एक औषधालय होना चाहिए। किशनगञ्जमें एक डाक्टर, धात्रृकर्ममें दक्ष एक धाय, २ कम्पाउण्डर, एक नर्स तथा २ चपरासी होने चाहिए। प्रसवके लिए ५ बिस्तर भी होना चाहिए। ग्वालीपुरामें एक वैद्य तथा एक चपरासी होना चाहिए जो उन गाँवोंकी चिकित्सा कर सके। वैद्य, एक कम्पाउण्डर तथा नर्सको प्रतिदिन एक गाँवमें जाना चाहिए। उन्हें प्रत्येक गाँवकी सफाई तथा मकानोंका निरीक्षण करना चाहिए। प्रत्येक व्यक्तिके स्वास्थ्यके बारेमें घर-घर जाकर पूछताछ करना चाहिए और रोगियोंको दवा देना चाहिए। डाक्टर

को प्रतिसप्ताह एक गाँवमें जाना चाहिए और कड़ी बीमारीवाले रोगियोंकी देख-भाल करनी चाहिए।

स्वास्थ्य और दवाकी अर्वाचीन भावना यह है कि राज्की ओरसे प्रत्येक व्यक्तिके स्वास्थ्य तथा स्वस्थनिवासका प्रबन्ध होना चाहिए। लोगोंको अपनी चिकित्साके लिए डाक्टरों और वैद्योंके पास दौड़ना नहीं पड़े, बल्कि राजका यह कर्तव्य है कि वह प्रत्येक नागरिककी चिकित्सका प्रबन्ध करे।

अस्पताल बनवानेमें कुल व्यय १०,०००) रुपयेके करीब होगा। भवन, कुर्सी, टेबल तथा औजार वगैरह इसमें शामिल हैं। इस व्ययको यदि १० सालपर फैला दिया जाय तो यह एक मुश्त ८४) रुपया प्रतिवर्ष पड़ता है। कर्मचारियोंका वेतन तथा दवाखर्च प्रतिमास इस प्रकार होगा :—

पद	वेतन
१—डाक्टर	१००)
२—लेडी-डाक्टर	६०)
३—नर्स	४०)
४—वैद्य	४०)
५—दो कम्पाउण्डर	५०)
६—चार चपरासी	६०)
७—दवा	२५०)
	६००)

अस्पताल-भवनवाली ८४) रुपयेकी रकम इसमें जोड़ देनेसे ६०० + ८४=६८४) रु० मासिक स्वास्थ्य और औषधिके मदमें

खर्च होगा जो कि प्रतिव्यक्ति प्रतिमास ६ आनाके करीब होगा। मान लीजिए कि प्रसूतिगृह तथा अस्पतालमें रहनेवाले रोगियोंपर १५०) रु० महीना खर्च पड़ा तो इसे भी इसमें जोड़ देनेपर १०००) रु० वार्षिक व्यय हुआ जो करीब आठ आना प्रतिव्यक्ति प्रतिमास होगा।

शिक्षा :—इस योजनाकी चर्चा करते हुए यह बतलाया जा चुका है कि इस इकाईमें पुरुषोंमें ४.५ और स्त्रियोंमें ३ फीसदी शिक्षाका प्रचार है। शिक्षाके पुनरुत्थानका मतलब होगा प्रत्येक गाँवसे निरक्षरता दूर कर प्रत्येक नर और नारीको साक्षर बनाना। निःशुल्क प्रारम्भिक अनिवार्य शिक्षाको आधार बनाकर चलनेसे जनसंख्या के १५ फी सदीको—यह संख्या ६ से १५ सालके भीतरके लड़कों और लड़कियों की है—प्रारम्भिक और उच्च शिक्षाकी सुविधा मिल जाती है। २०००की जनसंख्यामें स्कूल जाने लायक लड़कों और लड़कियोंकी तायदाद ३०० के लगभग होगी। इनमेंसे प्रायः १०० तो आदर्श विद्यालयमें शिक्षा पा रहे हैं। बाकी दो सौ लड़कों और लड़कियोंकी शिक्षाकी व्यवस्था हो सकती है यदि उन्हें स्कूल भेजनेका प्रबन्ध हो। आदर्श-विद्यालय सभी गाँवोंके बीचमें स्थापित है। इसलिए इस क्षेत्रको शिक्षा-केन्द्रके लिए वह सबसे उपयुक्त स्थान है। यहाँसे कोई भी गाँव डेढ़ मीलसे ज्यादा दूर नहीं है। इसलिए प्रत्येक गाँवके लड़के और लड़कियाँ सुविधाके साथ यहाँ शिक्षा पा सकते हैं। आदर्श विद्यालयने इन गाँवोंके सभी लड़कों और लड़कियोंको स्कूल भेजनेकी दिशामें प्रयत्न भी किया है। यहाँ सिर्फ इतना

ही करना होगा कि छात्रोंकी बढ़ती संख्याके लिए प्रायः आध दर्जन नये शिक्षक और शिक्षिकाओंकी नियुक्ति कर देनी होगी।

बालकोंके लिए गाँवोंमें रात्रि-पाठशालाएँ स्थापित कर दी जायँ और इसी आदर्श विद्यालयके शिक्षक उन्हें साक्षर बनानेका काम करें। इसके लिए उन्हें ५) रु० से १०) रु० तक अतिरिक्त मासिक वेतन दिया जाय। इसी तरह तीसरे पहर स्त्रियोंकी शिक्षाकी व्यवस्था की जाय। महिला-शिक्षिकाएँ लिखना-पढ़ना सिखानेके अतिरिक्त सूत कातना तथा अन्य कारीगरियाँ स्त्रियों-को सिखलायें। इसके लिए उन्हें भी शिक्षकोंकी भाँति अतिरिक्त भत्ता दिया जाय।

आदर्श विद्यालय शिक्षापर प्रति वर्ष ६०००) रु० से ८०००) तक खर्च करता है। शिक्षकोंकी संख्या बढ़ाकर तथा अतिरिक्त कामके लिए अतिरिक्त वेतन देकर वह इस क्षेत्रकी शिक्षाकी आवश्यकताको पूरा कर सकता है। इस कामको पूरा करनेके लिए अतिरिक्त व्यय ३००० से ४००० रु० तक होगा। दोनों रकम मिलाकर १०००० रु० के करीब होगी अर्थात् आठ आना प्रति व्यक्ति प्रतिमास।

सहयोग :—ग्राम-विकासकी किसी भी योजनाकी सफलता शिक्षा और सहयोगपर निर्भर है। किश्त किश्त करके ग्रामोंके पुनः सङ्गठनका काम सफल नहीं हो सकता। इसलिए गाँवोंको सहयोगके दायरेमें लाकर उनकी आर्थिक तथा सदाचारिक विकासके लिए हर तरफसे एक साथ ही प्रयत्न होना चाहिये।

उत्तम खेती तथा उत्तम व्यवसायके लिए सङ्गठित प्रयत्न होना

चाहिये और साथ ही गाँववालोंकी सहायता करनी चाहिये कि वे उन कठिनाइयोंपर विजय पा सकें जो उनके रास्तेमें वाधक होकर खड़ी हैं। गाँवके आर्थिक जीवनपर पूरा नियन्त्रण रखनेके लिए विविध उद्देश्यपूर्ण सङ्गठित संस्थाओंकी स्थापना की जानी चाहिये। सहयोगसङ्गठन द्वारा उनके ऊपरका कर्जका बोझ पटा दिया जाना चाहिये। सुविधेकी किश्त द्वारा वह रकम उनसे वसूल की जानी चाहिये। वे जो माल तैयार करें उसे बेचनेका प्रबन्ध भी सहयोग-समितियों द्वारा होना चाहिये ताकि उन्हें धनका नफा मिल सके और उनकी जरूरत-की चीजें भी सहयोग-समितियाँ उन्हें दिया करें।

सहयोग-समितियोंको चाहिये कि वे किसानोंका किफायत-सारी तथा बेकार खर्चको कम करना सिखावें। सहयोग-समितियाँ तभी फलफूल सकती हैं जब किसान फलें और फूलेंगे। यह तभी सम्भव है जब सहयोग-समितियाँ दूरदर्शिता और बुद्धिमानीसे काम लेकर किसानोंको काममें लगावें और उनके श्रमका उचित मावजा उन्हें मिलता रहे। कहनेका मतलब यह कि गाँवका हर तरहका आर्थिक तथा सामाजिक काम सहयोगके आधारपर होना चाहिये और इन कामोंकी देखरेख करनेके लिए उचित सहयोग-समितियोंका सङ्गठन होना चाहिये।

प्रत्येक ग्राम इकाईमें ग्राम सहयोग बैंक, सहयोग गल्ला गोदाम, माल बेचने तथा खरीदनेके लिए संस्था, ग्राम सहयोग भण्डार होना चाहिये। गाँववालोंकी आवश्यकता ज्यों-ज्यों बढ़ती जायगी, त्यों-त्यों इस तरहकी संस्थाएँ अधिकाधिक खुलती जायँगी। सहयोग समितिके अध्यक्षका यह कर्तव्य होगा कि

वह इस बातकी देख-रेख करता रहे कि ये संस्थाएँ अपना काम योग्यता तथा निपुणताके साथ सम्पन्न करती जा रही हैं।

गरीब तथा असङ्गठित गाँवके निवासियोंकी मुक्ति सहयोग-पर ही निर्भर है। इसलिए ग्राम-जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें सहयोग-की भावनाको जागृत करनेका पूरा प्रयत्न करना चाहिए। गाँवकी आर्थिक तथा सामाजिक दशा सुधारनेके लिए निःशुल्क काम करनेकी आदत गाँववालोंमें डाली जानी चाहिए और गृह, सड़क, कुँआ, बाँध आदिका निर्माण इसी उपायसे होना चाहिए।

७—ग्राम तथा दलपञ्चायत :—

इस योजनाकी चर्चा करते हुए यह भी कहा गया है कि छोटे-छोटे गाँवोंको एकमें मिलाकर बड़ा गाँव बसाना उचित होगा। इसलिए इस ग्राम-इकाईमें एक ही दल-पञ्चायत रखना उचित होगा। अथवा ऊपर जिन दो-दल ग्रामोंका उल्लेख किया गया है, उनमेंसे प्रत्येक दलके लिए एक-एक पञ्चायत।

इन पञ्चायतोंका सङ्गठन चुनाव द्वारा होन चाहिए। बालिग मताधिकारके आधारपर सदस्योंका चुनाव हर साल होना चाहिए। दल या इकाई पञ्चायतके लिए गाँवसे कम-से-कम दो सदस्य चुने जाने चाहिए। इन मेम्बरों द्वारा चुने गये तीन सदस्य किसनगञ्ज यूनिट डेवलपमेण्ट असोसिएशनकी कार्य-समितिके सदस्य होने चाहिए।

जो गाँव इन पञ्चायतोंके अधीन हों उनकी आर्थिक, सामा-जिक तथा नागरिक विकासकी पूरी जिम्मेदारी इनके ऊपर होगी। इसलिए उन्हें कामकी पूरी स्वतन्त्रता होनी चाहिए। इन्हें

क़ानूनी अधिकार होना चाहिए ताकि वे कर लगा सकें, फण्ड उठा सकें और गाँवके नागरिक व्यवस्थापक तथा आर्थिक विषयोंका प्रबन्ध कर सकें। इन पञ्चायतोंके कामको सार्थक और उपयोगी बनानेके लिए उनके ऊपर उस क्षेत्रके शासनकी सारी जिम्मेदारी रहनी चाहिये ताकि वे उनका उचित रीतिसे सुधार कर सकें। इस तरहके उपायके मार्गमें जो बाधाएँ, कठिनाइयाँ और असफलताएँ हैं उनके बावजूद भी इस प्रकार अधिकार हस्तान्तरित करनेसे ही लोग जिम्मेदार और आत्म-निर्भर हो सकते हैं। प्रबन्धके इन सारे कामोंको पूरा करनेके लिए उस क्षेत्रकी आमदनीका ५० सैकड़ा पञ्चायतके हाथमें रहना चाहिये और जरूरत पड़नेपर अधिक रुपया एकत्र करनेका उसे अधिकार होना चाहिये।

यूनिट डेवलपमेण्ट असोसिएशनकी कार्यसमितिके पञ्चायतके सदस्योंको सङ्गठनके जिम्मेदार व्यक्तियों द्वारा रहनुमाई और शिक्षा मिलनी चाहिये कि गाँवोंमें उत्थानके लिए जो योजनाएँ चालू की जायँ उनमें सहयोग प्रदान करें और दिलचस्पी लें। उन्हें केवल तटस्थ दर्शक होकर तमाशा देखनेके लिए नहीं रहने देना चाहिये और सारा आरम्भिक काम वैतनिक कार्यकर्ता करें। कार्यकर्ताओंकी सदा यही चेष्टा करनी चाहिये कि पञ्चायतके लोग ही सब काम करें और जहाँतक सम्भव हो वे ही लोग योजनाएँ भी बनावें क्योंकि अन्तमें तो सारा बोझ उन्हें ही सम्हालना होगा। इसलिए उनके लिए जो कुछ किया जा रहा है उसमें उनकी रुचि उत्पन्न करना आवश्यक है।

८—योजनाको कार्यान्वित करनेके लिए जन और धनकी जरूरत :—

२००० की जन-संख्याकी इस इकाईमें योजनाकी पूरी सफलताके लिए १० सालकी अवधि मान लेनेपर खर्च का तखमीना ५ लाख या ५० हजार प्रतिवर्ष किया जा सकता है। पूरी योजनाको काममें लानेके लिए ५० व्यक्तियोंकी निरन्तर सेवाकी जरूरत, पड़ेगी। उस क्षेत्रकी वर्तमान दशाका पूरा मुआइना किये विना कोई निश्चित अन्दाजा लगाना सम्भव नहीं है। योजना कार्यान्वित होनेपर और काम चालू कर देनेपर ऊपरके आँकड़ोंमें भी रद्दोबदलकी सम्भावना है।

तोभी काम चालू करनेके लिए यह मानकर ही आगे बढ़ना पड़ेगा कि योजनाको कार्यान्वित करनेके लिए प्रतिवर्ष ५० हजार रुपयेकी जरूरत होगी। खर्चकी मदें निम्न लिखित होंगी :—

संख्या	खर्चकी मदें	रकम
१—	सिंचाई और खेतीकी उन्नति	१५,०००
२—	सहयोग-समिति तथा उद्योगधन्धोंका विकास	५,०००
३—	मकान और सड़क	१०,०००
४—	सफाई, स्वास्थ्य तथा दवा	१०,०००
५—	शिक्षा	१०,०००
	प्रतिवर्ष	५,००००

आमदनीका जरिया :—व्यापक और सर्वतोमुखी विकासके लिए राजसे प्रोत्साहन, राजकी सहायता तथा आवश्यकतानुसार कानूनका निर्माण अपेक्षित है। क्योंकि राज ही कर्ज उठा सकता

है, लोगोंपर कर लगा सकता है और निःशुल्क कामके लिए बाध्य कर सकता है। योजनाकी आर्थिक सहायता तथा प्रयोगके लिए इन सब तरीकोंसे काम लेना आवश्यक होगा।

उपसंहार :—वर्तमान युग योजनाका युग है। समाज तथा विश्वका नये रूपसे निर्माण होने जा रहा है। जिस नयी सृष्टिकी कल्पना की जा रही है, वह ऐसी है जो उन लोगोंके साथ न्याय करेगी और सुखका साधन तैयार करेगी जो अबतक सदियोंसे शोषित रहे हैं। यदि भविष्यकी दुनियाका सबसे बड़ा उद्देश्य साधारण व्यक्तिको दैनिक आवश्यकताओंकी चिन्तासे मुक्त करना है तो इसका एकमात्र उपाय प्राकृतिक साधनोंका बड़े पैमानेपर विकास है, जो अबतक अछूता बना रहा है। इसलिए बहुत धन तथा जनकी जरूरत होगी ताकि प्रकृतिके वरदानोंका उपयोग मनुष्यके लाभके लिए किया जाय।

ज्ञानमण्डल पुस्तक-भण्डारके प्रकाशन

स्वराज्यका सरकारी मसविदा	।॥=)
अब्राहम लिंकन	॥)
प्राचीन भारत (अप्राप्य)	३॥।–)
इटलीके विधायक महात्मागण	२।॥–)
यूरोपके प्रसिद्ध शिक्षण सुधारक	२)
बनारसके व्यवसायी	॥≡)
बिहारीकी सतसई (अप्राप्य)	२)
गृह शिल्प	॥)
वैज्ञानिक अद्वैतवाद	२)
जापानकी राजनीतिक प्रगति	४)
रूसका पुनर्जन्म	१=)
रोम साम्राज्य	३=)
खादका उपयोग	१।)
सारनाथका इतिहास	१॥=)
ब्रिटिश भारतका आर्थिक इतिहास	१॥=)
राजनीति शास्त्र	३)
राष्ट्रीय आय-व्यय शास्त्र	४)
भारतवर्षका इतिहास	३॥)
कल्याणमार्गका पथिक	१॥=)
अशोकके धर्म लेख	३॥)
पृथ्वी प्रदक्षिणा—अप्राप्य	१५)
अन्ताराष्ट्रिय विधान	४)
पश्चिमी यूरोप I	३॥)
विज्ञानके चमत्कार	१।)
पुनर्जीवन—अप्राप्य	२॥)
अपराध और दण्ड	१॥)
भारतकी आ० उन्नतिकी योजना I, II	१=)
चिद्विलास	३॥)
ब्राह्मण सावधान	॥)
सामयिकी	३॥)
विक्रमांकदेव चरितम् (अप्राप्य)	२।)
संसारके व्यवसायका इतिहास	।॥)
तैरनेकी कला	॥–)
पत्र और पत्रकार	५)
हमारी खूराक	।॥)
समाजवाद, लक्ष्य तथा साधन	।॥)
जेलके वे दिन	२)
आज़ाद हिन्द फौज तथा उसके तीन अफसरोंका मुकदमा	२)
हिन्दी शब्द संग्रह अजि० ७), सजि० ७॥)	
खण्डित भारत	८)
चीन और भारत	१।)
देशभक्त और देशद्रोही	२।)

नोट—ज्ञानमण्डल डायरी, सौर रोज़-नामचा, सौर पञ्चाङ्ग तथा भविष्य-फलका प्रकाशन प्रतिवर्ष नियमित रूपसे होता है।

हिन्दुत्व	१२॥)
बुद्धचर्या	६।)